ओ३म्

महर्षि-कणाद-विरचितम्

वैशेषिकदर्शनम्

प्रशस्तपादभाष्यसहितम्

व्याख्याकार : सम्पादकश्च

आचार्य आनन्दप्रकाशः
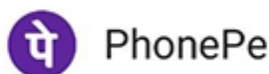
ओ३म्

आर्ष-विद्या-प्रचार-न्यास, ग्रन्थमाला-८

महर्षि-कणाद-विरचितम्

वैशेषिकदर्शनम्

प्रशस्तपादभाष्यसहितम्

(आनन्दव्याख्योपेतम्)

व्याख्याकार/सम्पादक :

आचार्य आनन्दप्रकाश :

(व्याकरण-निरुक्त-दर्शनाचार्य, वेदवागीश)

संस्थापक : आर्ष-शोध-संस्थान

प्रबन्धक-न्यासी : आर्ष-विद्या-प्रचार-न्यास (पं.)

आर्ष-शोध-संस्थानम्

अलियाबाद :

वैशेषिकदर्शनम्

प्रकाशक :

आर्ष-विद्या-प्रचार-न्यास

आर्ष-शोध-संस्थान (कन्या-गुरुकुल)
अलियावाद, मं. शामीरपेट
जि. रंगारेड्डि - ५०० ०७८ (तेलंगाना)

दूरभाष : (०८४१८)-२०११६५
चलभाष : ०९९८९३९५०३३
E-mail : aarsha.shodha@gmail.com

प्रथम संस्करण - २००० प्रतियाँ
आश्विन-२०७१ वि.सं., अक्टूबर - २०१४ ई., दयानन्दाब्द - १८९
ISBN : 978-81-87931-05-8
अन्तर्राष्ट्रिय मानक-पुस्तक-संख्या : ९७८-८१-८७९३१-०५-८

मूल्य : रु. ६००-००

अन्य प्राप्ति-स्थान : १. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली - ७.
२. अमर स्वामीप्रकाशन, गाजियाबाद (उ.प्र.)
३. गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली - ६.

मुद्रक : गोवर्धन प्रिंटर्स, लकड़ी का पुल, हैदराबाद

VAISHESHIKA-DARSHANAM

With - Prashast padbhashya
Commentry By - Acharya Anandprakash

समर्पणम्

स्वामी सत्यपति परिव्राजक

जिनका अन्तेवासी बनकर मैं वैदिक ऋषियों एवं षड्दर्शनों की विद्या को समझने का कुछ सामर्थ्य प्राप्त कर सका। जिनकी छत्रछाया में सतत वात्सल्य अनुभव करता रहा, ऐसे तपोधन, योगिराज, परमपूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज के चरणकमलों में यह प्रशस्तपादभाष्य-सहित वैशेषिक-दर्शन का आनन्दभाष्य सादर समर्पित है।

आनन्दप्रकाशः

ग्रन्थ-संकेत-सूची

अ.	-	अध्याय
अथर्व	-	अथर्ववेद
ऋग्.	-	ऋग्वेद
ऐ.ब्रा	-	ऐतरेय ब्राह्मण
कठो.	-	कठोपनिषद्
काशि.	-	काशिकावृत्ति
चन्द्रा	-	चन्द्रानन्दकृत व्याख्या
तै.सं.	-	तैत्तिरीय संहिता
दि.	-	दिनांक
निरु.	-	निरुक्त
न्या.	-	न्यायदर्शन
योग.व्या.	-	योगदर्शन व्यासभाष्य
पृ.	-	पृष्ठ
प्रशां.	-	प्रशस्तपाद - भाष्य
प्रश्नो.	-	प्रश्नोपनिषद्
मनु.	-	मनुस्मृति
मै.	-	मैत्रायणी संहिता
यजु.	-	यजुर्वेद
वा.	-	वार्त्तिक
शत.ब्रा.	-	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता.	-	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सं.	-	संवत्
सां.	-	सांख्यदर्शन
साम.	-	सामवेद
सू.	-	सूत्र

भूमिका

इस संसार में जन्म से लेकर मृत्यु तक सुख-दुःख का सिलसिला चलता रहता है। मनुष्य अपनी साधारण दृष्टि से जिसे सुख समझता है वह भी क्षणिक, दुःखमिश्रित एवं दुःखरूप ही सिद्ध होता है। इसलिए विचारशील व्यक्ति दुःख की आंशिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। 'दुःख की सर्वथा निवृत्ति (मोक्ष) कैसे हो - इसी का उपाय या मार्ग वताना दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है। दार्शनिक रुचि रखनेवाले महानुभाव जानते हैं, कि वैदिक दर्शन मोक्ष को ही परमपुरुषार्थ मानकर प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु इस परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए अध्यात्म और अधिभूत दोनों ही विज्ञान अपेक्षित हैं। हमारे वैदिक दर्शनों में तत्त्वज्ञान के लिए दोनों विज्ञानों का उल्लेख हुआ है। किसी दर्शन में मुख्यरूप से अध्यात्म-विषय का विवेचन किया गया है और किसी में अधिभूत का।

प्रकृत **वैशेषिक दर्शन** में उन पदार्थों का विवेचन है, जिनके मध्य हमारा जीवन पनपता, फलता-फूलता है। वैशेषिक दर्शन उस समस्त अर्थ-तत्त्व को छह वर्गों में विभाजित करके उन्हीं का मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है। इस विवेचन के मुख्य-विषय अधिभूत-तत्त्व हैं, जिनको मनुष्य अपने चारों ओर फैला हुआ पाता है। आंशिक रूप से इसमें अध्यात्म भी आ गया है। दूसरी ओर **न्यायदर्शन** में वस्तुतत्त्व को जानने समझने की प्रक्रिया का विस्तृत प्रतिपादन है। वह वस्तुतत्त्व चाहे अध्यात्म हो या अधिभूत, वह प्रक्रिया है-प्रमाण। न्यायदर्शन में विस्तार से 'प्रमाण' का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन किया है। अन्य जो कुछ है, वह प्रसंगोपयोगी है।

ये प्रमाण और प्रमेय दोनों एक दूसरे के पूरक (= सहयोगी) हैं; क्योंकि प्रमाण प्रमेयों को जानने के साधन हैं और प्रमेय पदार्थ प्रमाणों के साध्य (= जानने के विपय) हैं।

अर्थात् न्यायदर्शन में मुख्यरूप से प्रमाणों का विवेचन है और वैशपिक-दर्शन में मुख्यरूप से प्रमेय पदार्थों का विवेचन किया गया है।

'वैशेषिक' शब्द का अर्थ

विशेषं पदार्थभेदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः 'वैशेषिकम्' [विशेष + ठञ् = वैशेषिकम् । - ('अध्यात्मादिभ्यश्च' - अष्टा.४/३/६०,वा.३)] = विशेष नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त हुए शास्त्र को 'वैशेषिक' कहते हैं ।

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि को स्थूलभूत एवं 'विशेष' कहते हैं। इनकी रचना उनके परमाणुओं से हुई है । जिस पदार्थ को तोड़ते-तोड़ते ऐसी स्थिति आ जाये, कि उसके अन्तिम टुकड़े के आगे कोई टुकड़े न हो सकें उसे 'परमाणु' (= अन्तिम सूक्ष्म) कहते हैं । स्थूल भूतों की व्यक्तरूप में रचना इन्हीं परमाणुओं से हुई है, तथा इन स्थूलभूतों से मनुष्य-पशु-पक्षी-वनस्पति एवं सांसारिक भौतिक पदार्थों की रचना हुई है ।

इनमें एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्यों है ? इसकी क्या विशेषता है? इनमें कौन सा विशेष धर्म है ? इन विशेष पदार्थों का वर्णन होने से इसे वैशेषिक दर्शन कहते हैं ।

इन्हीं परम सूक्ष्म कणों को सांख्य-योग में 'विशेष' कहा है । यथा - ''विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि'' - (योग.२/१९) । 'अविशेषाद् विशेषारम्भः' - (सां.३/१) ।

सामान्य जिज्ञासु की ग्राह्य-क्षमता के अनुरूप शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन उपयोगी होता है । इस भावना से प्रेरित होकर महर्षि कणाद व गौतम ने अपने-अपने शास्त्रों का प्रवचन किया । अपने प्रतिपाद्य जगदुत्पत्ति के क्षेत्र को व्यक्त जगत् के एक अंश तक सीमित रखा । अर्थात् 'स्थूलभूतों के अन्तिम कण-रूप इन परमाणुओं की रचना कैसे हुई' - इस विषय को महर्षि कणाद ने अपने शास्त्र की सीमा में नहीं लिया । इसलिए इन्द्रिय-ग्राह्य चारों भूत-तत्वों के परम सूक्ष्म कणों को जगत् का मूल एवं नित्य मान लिया है । यदि इन कणों (=परमाणुओं) की रचना पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता, तो यह अपने शास्त्र की सीमा से बाहर की बात होती ।

अधिभूत के इन सूक्ष्म-कणों (परमाणुओं) के अन्तिम स्तर तक **सांख्यदर्शन** विवेचन प्रस्तुत करता है और साथ ही अध्यात्म-अधिभूत के सम्बन्ध को स्पष्ट करके उनके यथार्थ भेद को साक्षात् करने की ओर जिज्ञासु को प्रेरित करता है ।

योगदर्शन मुख्यरूप से उन प्रक्रियाओं का प्रतिपादन करता है, जिनके अनुष्ठान से अधिभूत और अध्यात्म के भेद का साक्षात्कार होता है ।

मीमांसादर्शन समाज के संगठन और उसके कर्तव्य-अकर्तव्य का वोध कराता है, जो ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय के लिए आवश्यक है ।

वेदान्तदर्शन - इस समस्त विश्व के विधाता परब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है, एवं उसके ज्ञान के साधनों की ओर प्रेरणा देता है ।

इस प्रकार सभी शास्त्र अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय की सीमा में ही कार्य कर रहे हैं ।

सूत्रकार महर्षि कणाद

यद्यपि लोकेषणा से रहित अन्य प्राचीन ऋषियों के समान वैशेषिक के रचयिता महर्षि कणाद ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा; पुनरपि कुश-काशावलम्बन से जो जानकारी एकत्र हुई, उसके अनुसार महर्षि कणाद का जन्म गुजरात प्रान्त में द्वारिका के पास प्रभास-पत्तन में हुआ । कणाद का वास्तविक (सांस्कारिक, नामकरण के समय माता-पिता द्वारा निर्धारित) नाम 'उलूक' बताया जाता है । इसीलिए महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन का अन्य नाम 'औलूक्यदर्शन' भी है - (द्र. - सर्वदर्शनसंग्रह) । इनका गोत्र नाम 'काश्यप' था । किन्तु पठन-पाठन के अवसर पर गुरु-शिष्य-परम्परा से यह मान्यता प्रचलित है, कि जब किसान अपने खेत की खड़ी फसल को काट ले जाते थे, तब उससे झड़े हुए अन्न-कण (=दाने) जो खेत में पड़े रह जाते थे, उनको बीनकर यह ऋषि इकट्ठा कर लेता और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करता था । इसलिए इनका नाम 'कणाद' (=कणों को खाने

वाला) प्रसिद्ध हो गया। अथवा कण (=अणु) के सिद्धान्त के प्रवर्तक होने से ये 'कणाद' कहे गये। महर्षि कणाद के गुरु का नाम 'सोमशर्मा' था।

कठोर तपस्या से परमेश्वर की आराधना द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से महर्षि कणाद ने लोकानुग्रहार्थ इस शास्त्र को प्रस्तुत किया, जिससे साधारण जिज्ञासु संसार में रहकर भी संसार के दुःखों से स्वयं को विमुक्त कर सकें।

संसार के परमाणु पर्यन्त मूलतत्त्वों का, उनकी समानता और भिन्नताओं का एवं मानवीय व्यवहारों का जिस प्रकार सूक्ष्मता से व्यवस्थित विवेचन किया है, उससे संसार आश्चर्यचकित है। कपिल आदि अन्य ऋषियों के समान आपने भी भारत को गुरु बनाने वाला अद्भुत कार्य किया है। वैदिक एवं दार्शनिक जगत् संसार के गुरु महर्षि कणाद का विशेष उपकार मानते हुए श्रद्धा से हार्दिक प्रणाम करता है।

सूत्ररचना-काल

यद्यपि डॉ. याकोवी एवं डॉ. उई जैसे पाश्चात्य पण्डित एवं उनके अनुयायी म.म. डॉ. कुप्पू स्वामी शास्त्री जैसे भारतीय विद्वान् महर्षि कणाद एवं उनके वैशेषिक का काल ५० से ५०० ई.पू. के बीच का समय वताते हैं। अर्थात् ई. सन् के आस-पास ही घुमाने का प्रयास करते हैं, किन्तु यह प्रयत्न अनुचित है; क्योंकि बौद्ध एवं जैन दर्शनों में वैशेषिक के सिद्धान्तों का उल्लेख है। जैन मत की 'तत्त्व-मीमांसा' का आधार तो वैशषिक दर्शन के पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्मादि ही हैं। इससे स्पष्ट है, कि इस शास्त्र की रचना बौद्ध एवं जैन धर्म से पहले हो चुकी थी। आचार्य उदयवीर जी शास्त्री के अनुसार वैशेषिक-दर्शन का रचना काल महाभारत से अर्थात् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास से पहले कलियुगारम्भ से पूर्व का है; क्योंकि महाभारत के शान्तिपर्व (-४७/११); अनुशासनपर्व (-४/५१) और उद्योगपर्व)-१८६/२६) में 'उलूक' नामक ऋषि की चर्चा है, जो महर्षि कणाद का नामान्तर है।

वैशेषिक का महत्त्व

शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पद और पदार्थों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है । इनमें पदज्ञान के लिए जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र का महत्त्व है; उसी प्रकार भौतिक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए वैशेपिकदर्शन का महत्त्व है । इस विषय में एक उक्ति प्रसिद्ध है - **'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्'** अर्थात् काणाद शास्त्र (=वैशेषिक दर्शन) और पाणिनीय व्याकरण सभी शास्त्रों के उपकारक (=सहायक) हैं ।

आजकल जो पदार्थविद्या की प्रबल चर्चा पाई जाती है; उसका भण्डार यही शास्त्र है । परमेश्वर ने इस संसार की रचना किस प्रकार की और किस प्रकार मनुष्य-सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ; यह सब इसी शास्त्र से समझा जा सकता है । पृथिवी अपनी धुरी पर किस प्रकार घूमती है, किस प्रकार सूर्य की परिक्रम करती है, भूकम्प किस प्रकार होता है, पानी की ऊर्ध्वगति, बर्फ आदि का जमाव, अग्नि-विद्या तथा उसको प्रयोग में लाने की पद्धति आदि सभी बातें इसी शास्त्र से समझी जा सकती हैं । वस्तुतः पदार्थ-विद्या का स्वरूप जैसे इस शास्त्र में समझाया गया है, वैसा किसी अन्य शास्त्र में नहीं ।

भौतिक विज्ञान को समझाने के साथ-साथ यह शास्त्र आत्मज्ञान, मनोविज्ञान, सामाजिक-विज्ञान, व्यवहार-विज्ञान को भी सूक्ष्मता से समझाता है; जिससे कुशल व्यक्ति इस संसार में सुख से जीता हुआ आत्मोन्नति एवं मोक्ष प्राप्त कर सकता है । अर्थात् यह शास्त्र अध्यात्म - ज्ञान और अधिभूत - विज्ञान से भरपूर है ।

वैशेषिक दर्शन का आकार एवं सूत्र-संख्या

वैशेषिक दर्शन दस अध्यायों में विभक्त है, तथा प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। इसमें ३७० सूत्र हैं।

अध्याय	आह्निक	सूत्रसंख्या
१	१	३१
१	२	१७
२	१	३१
२	२	३७
३	१	१९
३	२	२१
४	१	१३
४	२	११
५	१	१८
५	२	२६
६	१	१६
६	२	१६
७	१	२५
७	२	२८
८	१	११
८	२	६
९	१	१५
९	२	१३
१०	१	७
१०	२	९
१०	२०	३७०

सूत्रों की संख्या में मतभेद भी है। कुछ वृत्तियों (चन्द्रानन्दवृत्ति आदि) में ३८४ सूत्र माने हैं, तो कुछ (मिथिला-पीठ आदि की) वृत्तियों में ३३३ सूत्र ही मिलते हैं। हमने अतिप्रसिद्ध एवं पठन-पाठन में प्रचलित 'उपस्कार-वृत्ति' के अनुसार सूत्रसंख्या लिखी है ॥

वैशेषिक सूत्रों की व्याख्याएँ

वैशेषिक-सूत्रोपस्कार :- वैशेषिक दर्शन पर शंकर मिश्र ने १५ वीं शताब्दी में 'उपस्कार' नामक टीका लिखी है, जिसका सूत्रों के आधार पर पठन-पाठन में अधिक उपयोग होता है। इस पर भी पञ्चानन तर्करत्न ने 'परिष्कार' नामक टीका लिखी है; जो कलकत्ता से प्रकाशित हुई है।

२. चन्द्रानन्दवृत्ति - १९६१ ई. में बड़ौदा से वैशे.सू. की एक चन्द्रानन्दकृत वृत्ति प्रकाशित हुई है। सम्पादक के अनुसार चन्द्रानन्द का समय ७०० ई. के आस-पास है।

३. मिथिला-विद्यापीठ, दरभंगा से १९५७ ई. में एक व्याख्या का प्रकाशन हुआ है। इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। यह व्याख्या नवम अ. के प्रथम आह्निक के सातवें सूत्र तक मुद्रित है। इसका रचनाकाल १३०० ई. के आस-पास है।

इन प्राचीन व्याख्याओं के अतिरिक्त अनेक नवीन व्याख्याएँ भी हैं। यथा -

जयनारायण की 'विवृति', चन्द्रकान्त का 'भाष्य', रघुदेव का 'व्याख्यान'; हरिप्रसाद शास्त्री की 'वैदिकवृत्ति', स्वामी ब्रह्ममुनि का 'ब्रह्ममुनिभाष्य' आदि।

इनके अतिरिक्त अनेक आर्य विद्वानों ने भी वैशे.सू. की हिन्दी में व्याख्याएँ लिखी हैं। जैसे-महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनि जी, पं. तुलसीराम जी, स्वामी दर्शनानन्द जी आदि की व्याख्याएँ।

दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य उदयवीर जी शास्त्री ने वैशेषिक दर्शन पर हिन्दी में 'विद्योदय' नामक विस्तृत भाष्य लिखा है। साथ ही अनेक प्राचीन व्याख्याओं की अत्यन्त उपयोगी समीक्षा भी की है।

प्रशस्तपादभाष्य (=पदार्थधर्मसंग्रह)

वैशेषिक दर्शन पर आचार्य प्रशस्तपाद या प्रशस्तदेव ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थ-रत्न की रचना की है, जो ग्रन्थकार के नाम पर 'प्रशस्तपाद-भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार ने इसे 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' कहा है। यह कहना कठिन है, कि ग्रन्थकार ने 'पदार्थधर्मसंग्रह' - ऐसा ग्रन्थ के नामकरण की भावना से लिखा है; अथवा केवल विषय-निर्देश की भावना से। पुनरपि नाम के रूप में भी इसका व्यवहार या प्रयोग कोई आपत्तिजनक नहीं है।

इस प्रशस्तपादभाष्य में वैशेपिक के प्रतिपाद्य पदार्थों का जिस प्रकार वर्गीकरण करके क्रमपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है उसको विद्वत्समाज ने अत्यधिक आदर दिया है। वैशेपिक के समस्त प्रतिपाद्य विषय को बुद्धिगत करके ग्रन्थकार ने स्वतन्त्र रचना के रूप में उन सव विपयों को ऐसी पद्धति से प्रस्तुत किया, जो अध्येता के लिए अति सुविधाजनक रही। उसके आधार पर वैशेषिक के अध्ययन का क्रम ही वदल गया। सूत्र - क्रम से पठन-पाठन धीरे-धीरे शिथिल होता गया। 'पदार्थधर्मसंग्रह' की पद्धति को सुविधाजनक होने के कारण तुरन्त अपना लिया गया। इसी पद्धति से अनेक 'तर्क-संग्रह' आदि छोटे-छोटे प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना होती रही।

महान् दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'तात्पर्य टीका' में आचार्य प्रशस्तपाद को 'पदार्थविदः' और इनके वाक्यों को 'परमार्षं वचनम्' कहा है। - (ता.टी., पृ. ८१, कलकत्ता)।

व्योमशिवाचार्य ने तो इस ग्रन्थ की प्रशंसा यहाँ तक की है, कि उनकी दृष्टि में हम लोगों को इस शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य ज्ञान की प्राप्ति केवल इसी ग्रन्थ से

सम्भव है । वे तो सूत्र से भी अधिक महत्त्व 'पदार्थधर्मसंग्रह' को ही देते हैं - ''अस्मदादेः संग्रहादेव तत्त्वज्ञानम्'' (व्यो., पृ.-१) ।

उदयनाचार्य के शब्दों में सूत्र की अपेक्षा -

१ - विषय प्रतिपादन की स्पष्टता, २-दीर्घकालसाध्य बृहदाकार भाष्य की अपेक्षा लघुता और ३-सभी विषयों के वर्णन में सफलता - ये तीन गुण ही इस ग्रन्थ के महत्त्वाधायक हैं ।

इस ग्रन्थ में 'उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिधा व्याख्या' - के सिद्धान्त का अक्षरशः पालन हुआ है । इस ग्रन्थ-रत्न में कोई भी असम्बद्ध या अनावश्यक विषय समाविष्ट नही किया गया है ।

इन सभी गुणों से आकृष्ट होकर प्रशस्तपाद-भाष्य के टीकाकार श्रीधराचार्य ने कहा है -

''तदुपनिबन्ध-वैशिष्ट्यस्य मन्वादिवाक्यवन्महाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः'' - (न्यायकन्दली, पृ.-४) । अर्थात् इस निबन्धरूप वाक्यों के वैशिष्ट्य की प्रतीति मनु इत्यादि स्मृतिकारों के वाक्य की तरह महापुरुषों के इसके अनुसार चलने से ही हो जाती है ।

जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों में भी इनके बुद्धिवैभव के आधार पर ही इन्हें 'प्रशस्तमति' कहा गया है । अतः 'पदार्थधर्मसंग्रह' को भाष्यकार ने स्वयं जो 'महोदयः' कहा है, इसमें कुछ आत्मप्रशंसा नहीं है ।

सम्भवतः कणाद-दर्शन के विषय में सांख्य के समान निरीश्वरवादी होने की अद्वैतवादियों द्वारा भ्रान्ति फैला देने के कारण साधारण जन-मानस में उसकी उपेक्षा हो गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप वैशे.सूत्रों के प्राचीन व्याख्यान तथा उपव्याख्यान, यहाँ तक कि साक्षात् सूत्रों के स्वरूप भी नष्ट-भ्रष्ट होने लगे थे । प्रशस्तपाद के 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' के द्वारा ही पुनरुज्जीवित हुआ है । अतः वैशेषिक-दर्शन के क्षेत्र में प्रशस्तपाद के 'पदार्थधर्मसंग्रह' की जितनी प्रशंसा करें कम ही है ।

प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) के रचयिता एवं रचनाकाल

'पदार्थधर्मसंग्रह' के रचयिता के प्रशस्तपाद (व्योमवती पृ.१९, कणादरहस्य पृ.-१), प्रशस्तदेव (-न्या.कं.-पृ.४; उपस्कार -१/१/८;४/१/२); प्रशस्त-देवपाद (-उपस्कार ८/२/६) आदि नाम विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं ।

यद्यपि प्रशस्तपाद के द्वारा कोई स्पष्ट निर्देश न किये जाने से उनका समय-निर्धारण कठिन है; तथापि प्रो. दास गुप्त आदि इतिहासज्ञ विद्वानों के अनुसार **प्रशस्तपाद का समय छठी शताब्दी है** । कुछ विद्वानों का मत है, कि आचार्य प्रशस्तपाद ने सूत्रों की विस्तृत वृत्ति भी लिखी थी; जो काल के कराल गाल में विलीन हो गयी ।

प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) की व्याख्याएँ

प.ध.सं. जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की ओर विद्वानों का आकर्षण स्वाभाविक है। इसके अर्थगाम्भीर्य को प्रकाशित करने के लिए इसकी अनेक प्रामाणिक व्याख्याएँ लिखी गयीं; जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

(१) - व्योमवती (-व्योमशिवाचार्य) - उपलब्ध व्याख्याओं में 'व्योमवती' प्राचीनतम है । इसका समय सप्तम शतक का पूर्वार्ध है; क्योंकि इसमें नाट्यशास्त्र (-व्यो.-पृ.५५७); भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद (-व्यो.२०); कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक (-वही.५९०-९१); धर्मकीर्ति (-वही.३०६-६); प्रभाकर (-वही-३९९) और श्री हर्ष (=हर्षवर्धन) - (वही-३९२) की चर्चा है । ये सभी प्राय सप्तम शतक के पूर्वार्ध के हैं । व्योमशिवाचार्य दाक्षिणात्य पण्डित थे ।

२ - किरणावली - (-उदयनाचार्य) । मिथिला के उदयनाचार्य की 'किरणावली' व्याख्या विद्वत्तापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण है । परन्तु सम्पूर्ण नहीं, अपितु 'वुद्धि'-प्रकरण पर्यन्त ही है । इसका काल ९८४ ई. माना जाता है । इस पर वर्धमान ने टीका लिखी है ।

प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) के रचयिता एवं रचनाकाल

'पदार्थधर्मसंग्रह' के रचयिता के प्रशस्तपाद (व्योमवती पृ.१९, कणादरहस्य पृ.-१), प्रशस्तदेव (-न्या.कं.-पृ.४; उपस्कार -१/१/८;४/१/२); प्रशस्त-देवपाद (-उपस्कार ८/२/६) आदि नाम विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं ।

यद्यपि प्रशस्तपाद के द्वारा कोई स्पष्ट निर्देश न किये जाने से उनका समय-निर्धारण कठिन है; तथापि प्रो. दास गुप्त आदि इतिहासज्ञ विद्वानों के अनुसार **प्रशस्तपाद का समय छठी शताब्दी है** । कुछ विद्वानों का मत है, कि आचार्य प्रशस्तपाद ने सूत्रों की विस्तृत वृत्ति भी लिखी थी; जो काल के कराल गाल में विलीन हो गयी ।

प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) की व्याख्याएँ

प.ध.सं. जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की ओर विद्वानों का आकर्षण स्वाभाविक है। इसके अर्थगाम्भीर्य को प्रकाशित करने के लिए इसकी अनेक प्रामाणिक व्याख्याएँ लिखी गयीं; जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

(१) - व्योमवती (-व्योमशिवाचार्य) - उपलब्ध व्याख्याओं में 'व्योमवती' प्राचीनतम है । इसका समय सप्तम शतक का पूर्वार्ध है; क्योंकि इसमें नाट्यशास्त्र (-व्यो.-पृ.५५७); भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद (-व्यो.२०); कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक (-वही.५९०-९१); धर्मकीर्ति (-वही.३०६-६); प्रभाकर (-वही-३९९) और श्री हर्ष (=हर्षवर्धन) - (वही-३९२) की चर्चा है । ये सभी प्राय सप्तम शतक के पूर्वार्ध के हैं । व्योमशिवाचार्य दाक्षिणात्य पण्डित थे ।

२ - किरणावली - (-उदयनाचार्य) । मिथिला के उदयनाचार्य की 'किरणावली' व्याख्या विद्वत्तापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण है । परन्तु सम्पूर्ण नहीं, अपितु 'बुद्धि'-प्रकरण पर्यन्त ही है । इसका काल ९८४ ई. माना जाता है । इस पर वर्धमान ने टीका लिखी है ।

३ - न्यायकन्दली (- श्रीधराचार्य) । बंगाल के श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, भाष्य के आशय को स्पष्ट करने वाली एवं सम्पूर्ण है । पठन-पाठन में इसका विशेष प्रचलन है । इसका काल ९९१ ई. है । कन्दली पर राजशेखर की 'न्यायकन्दलीपञ्जिका' एवं पद्मनाभ की 'न्यायकन्दलीसार' व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं ।

अन्य सम्भावित व्याख्याएँ

१ - शालिकनाथ की अज्ञातनामा टीका अनुपलब्ध है ।

२ - अभिनवगुप्त की 'पदार्थप्रवेशनिर्णय' टीका अनुपलब्ध है ।

३ - शंकरमिश्र की 'कणादरहस्य' टीका अनुपलब्ध है ।

४ - मल्लिनाथ की 'भाष्यनिकष' टीका अनुपलब्ध है ।

५ - पद्मनाभ मिश्र की 'सेतु' व्याख्या आंशिक उपलब्ध है ।
यह 'द्रव्य' पदार्थ तक उपलब्ध है । यह पाण्डित्यपूर्ण है ।

६ - जगदीश तर्कालंकार की 'सुक्ति' व्याख्या भी केवल 'द्रव्य' पदार्थ पर्यन्त किन्तु विद्वत्तापूर्ण है ।

६ - श्रीवत्स (या श्रीवल्लभ) की 'न्यायलीलावती' अनुपलब्ध है ।

८ - सूत्रों पर रावणभाष्य 'कटन्द' (या कटन्दी) की अनेक व्याख्याग्रन्थों में चर्चा है । किन्तु इस भाष्य की रचना से लंका के राजा रावण का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

सूत्रों पर ही चर्चित 'भारद्वाज-वृत्ति' एवं भट्ट वादीन्द्र की 'कणाद-सूत्र-निवन्ध' वृत्ति भी अनुपलब्ध है ।

'पदार्थधर्मसंग्रह' भाष्य है या नहीं ?

(प्र०) - 'पदार्थधर्मसंग्रह' को भाष्य कहना चाहिए या नहीं ?

(उ०) - 'भाष्य' शब्द 'भाष व्यक्तायां वाचि' (भ्वा. आ. से.) धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अष्टा: ३ /३ /११३) से करण में ण्यत् प्रत्यय होकर वना है;

जिसका अर्थ है - भाष्यते व्याख्यायते मूल-ग्रन्थो येन तद् भाष्यम् व्याख्या वा। प्राचीन काल में 'भाष्य' शब्द का प्रयोग प्रधान तथा गौण अर्थ में भी प्रचलित था। भाष्य का लक्षण है -

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यते 'भाष्यम्' भाष्यविदो विदुः ॥

-(पराशरोपपुराण)

अर्थात् जिस ग्रन्थ में सूत्रपाठ के क्रम से वाक्यों द्वारा सूत्रार्थ का वर्णन हो तथा अपने निर्दिष्ट पदों का भी स्पष्टीकरण हो; ऐसे ग्रन्थ को भाष्य-ग्रन्थों के ज्ञाता 'भाष्य' कहते हैं।

यही भाष्य का पारिभाषिक एवं प्रधान अर्थ है। किन्तु गौण (= अप्रधान) अर्थ में भी भाष्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा -

''सूत्रं बुद्धिस्थीकृत्य तत्पाठनियमं बिनापि तद्व्याख्यानम् भाष्यम्'' - (वर्धमान का न्यायनिबन्धप्रकाश) अर्थात् सूत्रों के तात्पर्य को ध्यान में रखते हुए किया गया व्याख्यान, वह चाहे सूत्रक्रमानुसार हो या सूत्रक्रम-निरपेक्ष' भाष्य है।

इसके अनुसार व्याख्यामात्र के लिए 'भाष्य' शब्द का प्रयोग हो सकता है। यह गौण प्रयोग है।

उपर्युक्त दोनों अर्थों से परिचित एवं सहमत आचार्यो ने 'पदार्थधर्मसंग्रह' को प्रधानतया भाष्य-भिन्न होने के कारण स्वतन्त्र-निबन्ध और अप्रधान, तथा यत्र-तत्र भाष्य भी कहा है। यथा - व्योमशिवाचार्य ने इस ग्रन्थ को बार-बार 'संग्रह' कहकर (-द्र० व्योम० पृ० - ३३); कहीं -कहीं (-द्र०- पृ०२०) भाष्य भी कहा है। जैसे - ''सर्वस्मिन् व्याख्याने सूत्रितत्वोपदर्शनम् भाष्यस्य इष्यत एव।''

श्रीधराचार्य की भी यही पद्धति है - ''तदुपनिबन्धवैशिष्ट्यस्य मन्वादिवाक्यवन् महाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः'। - (न्या.कं. - पृ. ४)

यहाँ 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' को स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर भी गौणार्थ में भाष्य शब्द का यत्र-तत्र प्रयोग लिखा है । यथा -

"तेनास्माभिरिह भाष्यतात्पर्यमात्रं व्याख्यातम् " - (न्या. कं. - पृ. ६९६)

"भाष्यस्य चातिविस्तरत्वात्" (-उदयनाचार्य);

"भाष्यकृता कृतः" - [प.ध.सं. - सेतु - (पद्मनाभ), पृ. ३,११८]। "पदार्थधर्मसंग्रहो भाष्यनामा ग्रन्थः" - (जगदीशकृत 'सूक्ति', पृ.१) ।

(प्र.) - यदि 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' भाष्य नहीं है, तो फिर इसका पारिभाषिक स्वरूप क्या है ?

(उ.) पदार्थधर्मसंग्रह पारिभाषिक दृष्टि से तो संग्रह-ग्रन्थ ही है । संग्रह का लक्षण इस प्रकार है -

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन संग्रहन्तं विदुर्बुधाः ।।

अर्थात् सूत्र एवं भाष्य में विस्तार से फैले हुए कथित अर्थों को एकत्र संकलन करके कथन को विद्वान् लोग 'संग्रह' कहते हैं ।

ग्रन्थकार आचार्य प्रशस्तपाद ने स्वयं भी इसे ग्रन्थारम्भ में 'संग्रह' कहा है - "पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः" ।

इसके प्रसिद्ध व्याख्याकार व्योमशिव (व्यो. पृ. २०,३३), उदयन (किरणा.- पृ. ५), श्रीधर (न्या. कं.-पृ.६) ने भी इसका स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से समर्थन किया है ।

अतः पारिभाषिक रूप से इस ग्रन्थ को 'संग्रह' कह सकते हैं और गौण दृष्टि से भाष्य भी मान सकते हैं ।

उक्त विविध मान्यताओं की समीक्षा

इस प्रसंग में 'सूत्रार्थो वर्ण्यते येन' - यह भाष्य का लक्षण पूर्णरूप से घटित न होने के कारण ही विवाद उपस्थित होता है; कि 'प्रशस्तपादभाष्य' को भाष्य मानें या स्वतन्त्र 'निबन्ध-ग्रन्थ' ? किन्तु यह भी ध्यान देने की बात है, कि इस ग्रन्थ पर या अन्य दर्शनों पर भी स्वतन्त्र निबन्ध - ग्रन्थों की कमी नहीं है। उन सभी के ऊपर दृष्टिपात करने से प्रशस्तपादभाष्य को स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थ मानने में भी कुछ कठिनाई होती है; क्योंकि इस ग्रन्थ में जिस प्रकार अपने सभी मन्तव्यों को प्रतिपद सूत्रों के अनुरूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है, वैसी चेष्टा अन्य स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थों में नहीं देखी जाती। अतः इसे भाष्य न मानने वालों को भी इसको अन्य स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थों से भिन्न प्रकार का मानना ही पड़ेगा। अतः हमारा विचार है, कि **यह वैशेषिक सूत्रों का भाष्य ही है**।

और जो यह कहा है, कि - ''भाष्य के सभी लक्षण इसमें पूर्णरूप से घटित नहीं होते' - सो यह इतनी बड़ी बात नहीं है; क्योंकि पदों के सभी अर्थ सभी अभिधेयों में नहीं घटते। जैसे -

'यज्ञ' शब्द 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से 'नङ्' प्रत्यय (-अष्टा.३/३/९०) करके बनता है। किन्तु ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ आदि यज्ञों में से किसी में पूरी (तीनों) शर्तें नहीं घटतीं।

इसी प्रकार गम्लृ गतौ धातु से 'गमेर्डोः (उणा. २/६८) सूत्र से 'डो' प्रत्यय करके 'गो' शब्द बनता है। इस 'गो' शब्द में गति के सभी (=ज्ञान, गमन, प्राप्ति आदि) अर्थ नहीं घटते। जैसे निरुक्त आदि में 'गो' के अर्थ बताए हैं - पशु-विशेष, गोदुग्ध, गोचर्म, ताँत (=धनुर्ज्या), पृथिवी, आदित्य, द्यौः, आदित्यरश्मि, वाणी, स्तोता, मेघगर्जना, धनुष्, बाण, नक्षत्र, माता, दिशा, नेत्र, रोम, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा आदि। उन सब में गति के सभी अर्थ नहीं मिलते। जड़ पदार्थों में ज्ञान होता ही नहीं।

भाष्य के रूप में प्रसिद्ध 'व्याकरण-महाभाष्य' में प्रायः सूत्रार्थ न वताकर शंका-समाधान से चर्चा आरम्भ की जाती है। जैसे - 'वृद्धिरादैच्' (अष्टा. १/१/१) के भाष्य में ''कुत्वं कस्मान्न भवति ? ... भत्वात् ।'' से भाष्यारम्भ है। महाभाष्याकार प्रायः यह मानकर चल रहे हैं, कि अध्येता सूत्रार्थ को समझता है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के लगभग चार सहस्त्र सूत्रों में कहीं-कहीं से केवल १७१० सूत्रों पर ही चर्चा की है। चर्चित सूत्रों में से भी बहुत से सूत्रों का अर्थ नहीं बताया। फिर भी उसे भाष्य कहने में किसी को आपत्ति नहीं है। तब प्रशस्तपादभाष्य पर ही नियन्त्रण क्यों किया जाय।

प्रशस्तपादभाष्य की एक विशेष ध्यान देने योग्य विशेषता है, कि वैशेषिक सूत्रों के आरम्भ में छह पदार्थों के उद्देश और विभाग के अनुसार परीक्षा के अवसर पर महर्षि कणाद भले ही किसी कारणवश आगे-पीछे कर दें, किन्तु प्रशस्तपादभाष्य में कहीं उलट-फेर नहीं है। मूल सूत्रों में जिस क्रम से नामनिर्देश एवं विभाग किया है उसी क्रम से उद्देश, लक्षण और परीक्षण दिखाए हैं। प्रत्येक द्रव्य, गुण आदि का स्पष्टीकरण अपने-अपने क्रम से यथास्थान है। यह क्रमिक व्याख्यान देखते ही वनता है।

यही बात भाष्य के रूप में निर्विवाद रूप से समझे जाने वाले अन्य ग्रन्थों में भी देखी जा सकती है, कि भाष्य कहे जाने वाले सभी ग्रन्थों में उक्त सूत्रानुवर्तिता समान नहीं है। थोड़ा-वहुत अन्तर है ही।

इसलिए यह ग्रन्थ भाष्य के पूर्वोक्त सभी लक्षणों से युक्त न होने पर भी भाष्य ही है। प्रामाणिकता में तो किसी भाष्य-ग्रन्थ से कम है ही नहीं।

इस ग्रन्थ-रत्न के बाद तो वैशेषिक-दर्शन के प्रसंग में जितने भी टीका आदि ग्रन्थों का निर्माण हुआ, वह सब इसी ग्रन्थ को आधार मानकर हुआ है।

प्रशस्तपादभाष्य के योगदान (Contributions)

यद्यपि वैशेषिक सूत्रों और प्रशस्तपाद के मध्य, समय का लम्बा अन्तराल होने से यह कहना कठिन है, कि वैशे.सू. में अनुपलब्ध नवीन सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापक कौन हैं; पुनरपि वैशे. में अनुपलब्ध और पदार्थधर्म संगह में उपलब्ध सिद्धान्तों को इसके योगदान के रूप में मान सकते हैं। यथा -

१ - शब्द-श्रवण की प्रक्रिया का विशेष विवेचन पदार्थधर्मसंग्रह का ही योगदान है।

२ - यद्यपि आत्मतत्व का विवेचन वैशे. सूत्रों में है, पुनरपि ईश्वर का तथा सृष्टि की उत्पत्ति एवं संहार (=प्रलय) का विस्तृत विवेचन करने का श्रेय पदार्थ - धर्मसंग्रह को दिया जाता है।

३ - द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की व्याख्या भी प्रशस्तपादभाष्य में ही पायी जाती है। अतः इन्हें भी योगदान (Contribution) माना जाता है।

परन्तु अनेक विचारक ऐसे हैं, जो यह मानते हैं, कि 'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके' अर्थात् वृत्ति और वार्त्तिकों में जो विचार है, वह सब सूत्रों में ही सूत्ररूप (= संक्षेप) में विद्यमान हैं। अतः योगदान के विषय में विचारशील अध्येता स्वयं निर्णय कर सकते हैं। वस्तुतः कम विवेचनशील लोगों की दृष्टि से तो योगदान है ही।

अभाव पदार्थ

शंका - क्या महर्षि कणाद 'अभाव' पदार्थ को नहीं मानते ? और क्या 'अभाव' पदार्थ का विवेचन 'तर्क-संग्रह' आदि प्रक्रिया-ग्रन्थों की देन है ?

समा० - ऐसा मानना ठीक नहीं है। यद्यपि पदार्थनिर्देशसूत्र 'धर्मविशेषप्रसूताद्०' (वैशे. १/१/४) इत्यादि में द्रव्यादि छह पदार्थों का ही नाम-निर्देशपूर्वक कथन है; क्योंकि सूत्रकार यहाँ केवल भाव-पदार्थों का मुख्यरूप से निर्देश करना चाहते हैं ; किन्तु इन पदार्थों का विवेचन करने के पश्चात् नवम

अध्याय के आरम्भ में विभिन्न अभाव पदार्थों (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योऽन्याभाव) का स्वयं प्रतिपादन किया है। इस अभाव के प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष का निरूपण उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार भाव-पदार्थों के प्रत्यक्ष के लिए उपयुक्त सन्निकर्ष का किया है। प्रक्रिया-ग्रन्थों में कणाद द्वारा स्वीकृत पदार्थों का ही विवेचन है।

ईश्वर -सद्भाव

शंका - क्या वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर की चर्चा नहीं है, क्या यह नास्तिक दर्शन है ?

समा० - वैशेषिक -दर्शन के सूत्रों में 'ईश्वर'- शब्द का स्पष्ट उल्लेख न होने से नवीन वेदान्ती आदि विरोधियों को दुष्प्रचार करने का अवसर मिल गया है, कि 'वैशेषिक दर्शन' सांख्य के समान ईश्वर को नहीं मानता। विरोधी मानने का कारण है, कि जहाँ नवीन वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त संसार को मिथ्या मानते हैं; वहीं सांख्य और वैशेषिक उनकी मान्यता के विरुद्ध जगत् का भी अस्तित्व मानते हैं और जगत् के अन्तिम मूलतत्त्व को नित्य मानते हैं। सो सांख्य के विषय में तो हमने अपने सांख्यदर्शन के भाष्य के प्राक्कथन में तथा अन्दर सूत्रों की व्याख्या में स्पष्टीकरण कर दिया है। वैशेषिक के सम्बन्ध में यहाँ विचार करते हैं -

यद्यपि वैशेषिक सूत्रों में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग नहीं है; परन्तु परमेश्वर का केवल 'ईश्वर' नाम ही नहीं, अपितु सहस्रों नाम हैं। उनमें से वैशेषिक में व्यापक अर्थ वाले 'तद्' शब्द का एवं 'आत्मा' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। यथा- 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशे. १/१/३; १०/२/९)। इस सूत्र में 'तद्' शब्द का अर्थ है - व्यापक ब्रह्म। जैसा कि उणादिकोष की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने 'तद्' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है - 'त्यजितनियजिभ्यो डित्' - (उणा. १/१३२) तनुते विस्तृतो भवतीति 'तद्' .... ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि (= त्यद्,

तद्, यत्) । इस प्रकार वैशे. (१/१/३) सूत्र का अर्थ होगा व्यापक परमेश्वर का वचन (= कथन) होने से वेद की प्रामाणिकता है । (जिसके अनुसार हमारा वैशेषिक शास्त्र होने से इसकी भी प्रामाणिकता है) ।

'विभवान् महानाकाशः तथा चात्मा' (७/१/२२) । 'तदभावादणु मनः' तथा चात्मा - (७/१/२३) ।

अर्थात् विभु (= व्यापक) होने से आकाश तथा आत्मा (= परमात्मा) महत्परिणामवाले हैं । इस विभुत्व का अभाव होने से मन तथा आत्मा (= जीवात्मा) अणु परिमाणवाले हैं । जीवात्मा को तो अन्य (वेद, श्वेताश्वतरोपनिषद्, योग. व्यासभा. आदि) शास्त्रों में भी अणु-परिमाण कहा है ।

''संज्ञाकर्म त्वस्मद्-विशिष्टानां लिङ्गम्'' (२/१/१८) । यहाँ अस्मद् -विशिष्ट = पुरुषविशेष = परमेश्वर ।

वैशषिक के प्रशस्तपादभाष्य में तो अनेक स्थलों में 'ईश्वर' - नाम के साथ परमेश्वर को स्वीकार किया गया है । यथा -

'प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः' (प्रशस्तपा. भूमिका)

'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव- ' (प्रश. भूमिका) ।

'महेश्वरेच्छात्मगुणसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यः ' - (प्रशस्त. सृष्टिसंहार.) ।

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र हैं । न्याय दर्शन में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख है -

'ईश्वर : कारणं .... तत्कारितत्वादहेतुः ' - (न्या० ४/१/१९-२१) ।

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है, कि - किसी वस्तु की अनुक्ति ही उसकी विरुद्धोक्ति नहीं हो सकती । अनुक्ति और विरुद्धोक्ति में बहुत अन्तर है । वस्तुतः 'मौनं स्वीकृतिलक्षणं न तु विरोधलक्षणम्' ।

किसी विषय का स्पष्टोल्लेख न होने पर भी उसके अन्य प्रतिपादनों से उस विषय में उस व्यक्ति की अनुमति का पता चल जाता है ।

परमेश्वर के विषय में विशेष रूप से वर्णन तो वेदान्तदर्शन में है, जहाँ विश्व के विधाता परब्रह्म के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है । उसके ज्ञान-साधनों की ओर विशेष प्रेरणा दी गयी है । अन्य दर्शनों में ईश्वर या ब्रह्म की चर्चा संक्षेप में तथा प्रासंगिक ही है । इतना होने पर भी उन दर्शनों पर ईश्वर-विरोध का आरोप नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि सभी दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अलग-अलग है । अतः किसी विषय की विस्तार से व्याख्या न करना उसके विरोध का परिचायक नहीं माना जा सकता ।

यदि किसी विषय की संक्षिप्त चर्चा ही की जाय; किन्तु उसके विषय में अन्यत्र विस्तार से कथन का खण्डन न किया जाय, तो उसे स्वीकृत ही समझना चाहिए । जैसी कि सूक्ति है - **'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्'** ।

वैशेषिक में वर्णित विषय

वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ 'धर्म' - व्याख्या की प्रतिज्ञा से हुआ है । सभी प्रकार के ऐहिक और पारलौकि अभीष्टों की प्राप्ति के एवं मोक्ष की प्राप्ति के साधनों का अनुष्ठान ही इस दर्शन में कहा है ।

वह धर्म प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण के भेद से दो प्रकार का है । प्रवृत्तिलक्षण धर्म से ऐहिक तथा पारलौकिक स्वर्गादि सुखों की प्राप्ती होती है । और निवृत्तिलक्षणरूप विशेष धर्म के द्वारा १- द्रव्य, २ - गुण, ३ - कर्म, ४ - सामान्य, ५- विशेष, ६ - समवाय इन छह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से तथा अभाव के ज्ञान से मोक्ष होता है । अर्थात् निवृत्तिलक्षणधर्म के द्वारा मुक्ति के सम्पादन में द्रव्यादि पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा तत्त्वज्ञान मध्यवर्ती व्यापार है ।

यद्यपि वेदादि शास्त्रों में 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति०' - (यजु० ३१/१८)

एवं 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि०' - (बृह० उ०- २/४/५) - इत्यादि वचनों द्वारा आत्मतत्त्व - ज्ञान को ही मोक्ष का कारण माना है। परन्तु आत्मा - परमात्मा को समझने के लिए भी संसार के अन्य सभी पदार्थों को समझना आवश्यक है। अपने सहधर्मियों और विधर्मियों का विवेचन करके किसी पदार्थ को समझे विना उसका तत्त्व समझना असम्भव है। संसार की प्रत्येक वस्तु अन्य सभी वस्तुओं से किसी न किसी प्रकार समानता या असमानता से युक्त है। इसलिए परस्पर सम्बद्ध है। क्योंकि एक वस्तु को समझने के लिए तद्भिन्न तत्सदृश्य सभी वस्तुओं को समझना भी आवश्यक है। इसलिए आत्मा को समझने के लिए भी संसार की अन्य सभी वस्तुओं को समझना आवश्यक है।

परन्तु संसार की असंख्य वस्तुओं को अलग-अलग एक-एक करके समझना साधारण जनों के लिए सम्भव नहीं है। अतः महर्षि कणाद ने समझने की सुविधा के लिए सम्पूर्ण जगत् को द्रव्यादि छह विभागों में विभक्त किया है। इसलिए इनके मत से संसार के सभी पदार्थ द्रव्यादि छह पदार्थों में से ही कोई हो सकते हैं। इन पदार्थों के नाम और विभाग इस प्रकार हैं -

१ - द्रव्य - पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन - ये नौ द्रव्य हैं।

२ - गुण - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, और शब्द) ये चौवीस गुण हैं।

३ - कर्म - उत्क्षेपण (=ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (=नीचे फेंकना), आकुञ्चन (=सिकुड़ना), प्रसारण (=फैलना), गमन (= अन्य गतियाँ) ये पाँच कर्म हैं।

४ - सामान्य - सामान्य दो प्रकार का है - पर (सत्ता) सामान्य और अपर (=द्रव्यत्वादि) सामान्य। सामान्य के कारण पदार्थों में एकत्व की प्रतीति होती है।

५ - विशेष - जिसके कारण प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होता है, उसे 'विशेष' कहते हैं । जैसे - मिट्टी के दस घड़े रखे हों, तो घट के रूप में सभी में समानता (=सामान्य) होते हुए भी जिस कारण से एक दूसरे से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उसे 'विशेष' कहते हैं ।

६ - समवाय - दो वस्तुओं में जो नित्य-सम्बन्ध होता है, उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं । जैसे गुण - गुणी, अवयव-अवयवी का सम्बन्ध 'समवाय-सम्बन्ध' है ।

अभाव - वैशेषिक के नवम अध्याय के आरम्भ में अभाव का भी वर्णन है । कुछ विद्वान् 'अभाव' को सातवें पदार्थ के रूप में मानते हैं । अभाव के चार भेद माने गये हैं - १ - प्रागभाव, २ - प्रध्वंसाभाव, ३ - अत्यन्ताभाव, ४ - अन्योऽन्याभाव ।

वैशेषिक के कुछ मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

१ - परमाणुवाद - जगत् के मूल उपादानकाण परमाणु हैं । विभिन्न परमाणुओं के संयोग से विभिन्न वस्तुएँ बनी हैं ।

२ - परमाणुनित्यत्ववाद - परमाणु नित्य है । अवयवरहित होने के कारण उसका नाश नहीं होता ।

३ - अनेकात्मवाद - अत्माएं अनेक हैं । कर्मफल-भोग के लिए भिन्न-भिन्न शरीर धारण करती हैं ।

४ - असत्कार्यवाद - कारण से कार्य उत्पन्न होता है और कार्य अनित्य है ।

५ - सृष्टिवाद - बिना कारण के कार्य नहीं होता । जगत् कार्य (=उत्पन्न हुआ) है, और उसका निमित्तकारण ईश्वर है ।

६ - मोक्षवाद - आवागमन के चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य है ।

इस भाष्य की प्रेरणा, प्रयोजन एवं विशेषताएँ -

आज की विषम परिस्थितियों में मनुष्य कितना भ्रान्त हो चुका है और उसके अशान्त, भ्रान्त एवं क्लेशों से निमग्न अन्तःकरण के पटल पर अंकित कलुषित वासनाओं को दूर करने तथा मानव की दुर्दशारूप जटिल समस्या का क्या कोई समाधान हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द ने कहा है -

''यदि मुझसे कोई पूछे, कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं ? तो मेरा उत्तर यह है, कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और छह दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए। .... सुगमता से शीघ्र लोगों की आँखें खुल जाएंगी और दुर्दशा दूर होकर सुदशा प्राप्त होगी। - '' (उपदेशमंजरी, १३ वां उपदेश)

महर्षि दयानन्द के इन वचनों से प्रेरणा लेकर गुरुजनों के आशीर्वाद से मैंने वैशेषिक-दर्शन की व्याख्या लिखने का निश्चय किया। साथ ही जैसा कि महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय प्रकरण में लिखा है -

''द्वितीयं विशेषतया धर्माधर्मविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिक-शास्त्रम् (ग्राह्यम्)।'' - (ऋग्वे.भा.भू., ग्रन्थप्रामाण्याप्रा.)

यहाँ महर्षि कणादमुनिकृत वैशेषिक शास्त्र को प्रशस्तपादकृत भाष्य-सहित पढ़ने का निर्देश किया है।

इस निर्देश के अनुसार वैशेषिक सूत्रों के साथ-साथ प्रकरणानुसार प्रशस्तपादकृत भाष्य को यथास्थान जोड़कर सरलता एवं स्पष्टीकरण के साथ आर्य/हिन्दी भाषा में व्याख्यान लिखना आरम्भ किया। परमेश्वर की कृपा एवं अनेक महानुभावों के सौजन्य से यह भाष्य तैयार हो गया। इस भाष्य में -

१ - सूत्रार्थ को यथासम्भव सरल एवं स्पष्ट किया गया है ।

२ - सूत्रों के प्रसंग, शब्दार्थ, संक्षिप्तव्याख्यान के पश्चात् जिन-जिन सूत्रों के आशय का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रशस्तपाभाष्य की पंक्तियाँ हैं, उनको यथास्थान जोड़ा है; जिससे उस प्रकरण को स्पष्टता से एवं व्यापकरूप से समझा जा सके । प्रशस्तपादभाष्य के अनेक स्थलों पर उद्धरण ऐसे भी हैं, जिनकी चर्चा सूत्रों में नहीं है; ऐसे स्वतन्त्र उद्धरणों को भी प्रकरणानुसार यथास्थान जोड़ दिया है ।

३ - 'सृष्टि-संहार' के पूरे प्रकरण को चतुर्थ महाभूत वायु के व्याख्यान के पश्चात् रखा है । इस प्रकार प्रशस्तपादभाष्य की एक भी पंक्ति नहीं बची है; जिसको यथास्थान जोड़कर उसकी व्याख्या न की हो ।

४ - शास्त्र के विषय को स्पष्टतर करने के लिए यथाप्रकरण चित्रों एवं सारणियों का भी उपयोग किया गया है ।

५ - जहाँ अनुवादमात्र से विषय स्पष्ट नहीं हुआ, वहाँ कोष्ठकों में उदाहरणादि लिखकर स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

६ - अनेकत्र न्यायकन्दली-आदि व्याख्याकारों ने मूल सूत्रों का अथवा प्रशस्तपादभाष्य का अन्य शास्त्रों से विरोध दिखाया है, हमने उनका वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार समन्वय दिखा दिया है ।

७ - प्रशस्तपादभाष्य में जहाँ कहीं सीधा शब्दार्थ करने पर भ्रान्ति होती है, अथवा अन्य शास्त्रों से विरोध प्रतीत होता है; वहाँ हमने लक्षणा आदि से अर्थ करके स्पष्टीकरण किया है ।

८ - सूत्रों की व्याख्या के साथ-साथ सम्पूर्ण प्रशस्तपादभाष्य को यथास्थान उद्धृत करके व्याख्या करने का यह प्रथम प्रयास है ।

९. प्रश. भा. के उद्धरणों को वैशे. सूत्रों के साथ जोड़ने पर भी यह विशेष ध्यान रखा गया है, कि प्रश. भा. का भाष्यस्वरूप नष्ट न हो। इसके लिए हमने भाष्य के प्रकरणों को ही सूत्रस्थ प्रकरणों के साथ उद्धृत किया है, प्रकरणों की एक-एक पङ्क्ति को ही तोड़कर उद्धृत नहीं किया, जिससे प्रकरण के आशय अस्पष्ट न हो जायें।

१०. सूत्रों के साथ यथास्थान प्रश. भा. के सभी उद्धरणों को जोड़कर वैशे. द. की व्याख्या इससे पूर्व नहीं देखी गयी।

कृतज्ञता - प्रकाश

सर्वप्रथम मैं परमकृपालु परमेश्वर का कोटिशः धन्यवाद करता हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा से मैं वैदिक एवं ऋषियों की विद्या को समझने का अवसर और सामर्थ्य प्राप्त कर सका तथा इस श्रमसाध्य ग्रन्थ को सम्पन्न कर सका। सब अनुकूल परिस्थितियाँ जुड़ती चली गयीं।

तदुपरान्त परमपूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज के प्रति कृतज्ञ एवं हृदय से आभारी हूँ, जिनके चरण कमलों में इस दर्शन-विद्या को पाकर स्वयं कृतार्थ होकर अन्यों को भी यह सारस्वत-प्रसाद वितरित करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सका। तथा उनके स्नेह का अनुभव करता रहा।

उन सभी दार्शनिक विद्वानों का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके ग्रन्थों से एवं संवाद से इस ग्रन्थ को परिष्कृतरूप दे सका।

इस ग्रन्थ के लेखनकाल में साधनों को जुटाने के लिए आर्थिक सहयोग करनेवाले श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती फलौदी (राज.), महबूबनगर (आं.प्र.) निवासी श्री डॉ. गोपालकृष्ण जी एवं प्रोत्साहन करनेवाले अन्य महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे प्रयत्न में शिथिलता नहीं आने दी।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में आर्थिक सहयोग के लिए हम श्री चिल्मुल सत्यारेड्डी

जी सिकन्दराबाद (आं.प्र.), श्री डॉ. हेमन्त मुरके जी अमरावती (महा.), श्री शिव कुमार चौधरी जी, इन्दौर, (म.प्र.) एवं श्री सुरेन्द्र कुमार जी गौतम, भाण्डुप (मुम्बई) के हृदय से आभारी हैं, जिसके कारण यह ग्रन्थ ठीक समय पर प्रकाशित हो सका। अन्यथा पता नहीं कितने समय तक यह अपने प्रकाशन की प्रतीक्षा करता रहता; जैसे कि अन्य ग्रन्थ प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मेरी अल्पज्ञता अथवा असावधानी के कारण इस भाष्य में यत्र-तत्र त्रुटियाँ सम्भव हैं। विद्वानों से निवेदन है, कि समाधान सहित उन त्रुटियों की ओर अवश्य संकेत करें। क्योंकि -

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।

ऋषि-तर्पण दिवस
श्रावणी पूर्णिमा
२०७०विक्रम संवत्
१३/०८/२०१३ ई.

विदुषां वशंवद :-

आनन्दप्रकाशः

विषय - सूची

(ग्रन्थ-क्रमानुसार)

प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक १-३९

प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक ३९-६९

विषय सू. पृ.

द्वितीय- अध्याय, प्रथम आह्निक ७०-१२१

द्वितीय अध्याय, द्वितीय आह्निक १२१-१५८

तृतीय अध्याय, प्रथम आह्निक १५९-१७०

तृतीय अध्याय, द्वितीय आह्निक १७१-१९६

चतुर्थ अध्याय, प्रथम आह्निक १९७-२२०

चतुर्थ अध्याय, द्वितीय आह्निक २२०-२२८

पञ्चम अध्याय, प्रथम आह्निक २२९-२४३

पञ्चम अध्याय, द्वितीय आह्निक २४४-२९७

षष्ठ अध्याय, प्रथम आह्निक २९८-३१०

षष्ठ अध्याय, द्वितीय आह्निक ३१०-३३४

सप्तम अध्याय, प्रथम आह्निक ३३५-३५९

सप्तम अध्याय, द्वितीय आह्निक ३६०-४२०

अष्टम अध्याय, प्रथम आह्निक ४२१-४२८

अष्टम अध्याय, द्वितीय आह्निक ४२८-४३२

नवम अध्याय, प्रथम आह्निक ४३३-४४२

नवम अध्याय, द्वितीय आह्निक ४४३-५११

विषय - सूची
(प्रशस्तपादभाष्य के अनुसार)

ओ३म्

वैशेषिक-दर्शनम्

प्रशस्तपादभाष्यसहितम्

(आनन्दव्याख्योपेतम्)

प्रथमोऽध्याय :

तत्र

प्रथमाह्निकम्

परमेशं नमस्कृत्य गुरुवृन्दसुभाशिषा ।

मयाऽऽनन्दप्रकाशेन व्याख्या प्रारभ्यते मुदा ।। १ ।।

सूत्रव्याख्या सुसंक्षिप्ता श्रुतिसिद्धान्तबोधिका ।

प्रशस्तपादभाष्यं च व्याख्यातं सूत्रसंयुतम् ।। २ ।।

प्रसंग :- मोक्ष का असाधारण हेतुभूत तत्त्वज्ञान है । उसके भी हेतु 'धर्म' के व्याख्यान की कणाद मुनि प्रतिज्ञा करते हैं -

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ।। १ ।।

[अथ] अब (=शिष्यों की पदार्थ-विषयक जिज्ञासा के अनन्तर)

[अतः] (मानव-कल्याण हो) इसलिए [धर्मं] (उसके साधक) धर्म की [व्याख्यास्यामः] व्याख्या करेंगे ।

'अथ' शब्द के अनेक अर्थ हैं -

(क) अथाऽथो संशये स्यातामधिकारे च मंगले ।
विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये ।। - (मेदिनी-कोश)
(ख) मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्विथोऽथ ।। - (अमर.३/३/२४८)

यहाँ 'अनन्तर' अर्थ समझ सकते हैं । प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग 'आरम्भ' अर्थ में भी किया है । यथा - 'अथ शब्दानुशासनम्' - (अष्टाध्यायी), 'अथ योगानुशासनम्' - (पा.यो.द.), 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसा), 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (वेदान्त), 'अथ त्रिविधदु:खात्यन्त.' (सांख्य) । शास्त्र के आरम्भ में इसका प्रयोग मांगलिक समझा जाता है ।

'अत:' शब्द हेतु अर्थ में प्रयुक्त है ।

'व्याख्यास्याम:' में 'अस्मदो द्वयोश्च' (अष्टा.१/२/५९) से बहुवचन में पाठ है । कणाद मुनि ने यहाँ अपना नाम नहीं लिया, यह उनकी लोकेषणा के अभाव की पराकाष्ठा है । इसी प्रकार अन्य ऋषि मुनि अपने शास्त्रों में प्राय: अपना नामनिर्देश नहीं कर गये । यद्यपि इससे इतिहास के जिज्ञासुओं को कठिनाई होती है ।। १ ।।

प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतम्

प्रशस्तपादभाष्यम्

(पदार्थधर्मसङ्ग्रहः)

१ - ग्रन्थप्रयोजनप्रकरणम्

महर्षि कणाद के 'वैशेषिक-दर्शन' के आधार पर रचित 'पदार्थधर्मसंग्रह' रूप 'प्रशस्तपादभाष्य' नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य प्रशस्तपाद / प्रशस्तदेव ने ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में कहा है -

प्रशस्तपादभाष्यम्

(प्रश.) प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।

पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ।।

(सभी जन्यपदार्थों/कार्यमात्र के) निमित्त-कारण परमात्मा को प्रणाम करने के पश्चात् कणाद मुनि को प्रणाम करके 'महोदय' अर्थात् विशालज्ञान के सम्पादक, मोक्ष देने वाले 'पदार्थधर्मसंग्रह' रूप ग्रन्थ का प्रवचन किया जाएगा । यही ग्रन्थ 'प्रशस्तपादभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है ।

महर्षि कणाद के वैशेषिक शास्त्र में द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष तथा समवाय नामक छह पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य से जो सूत्रों में अनेक स्थानों में अक्रम से वर्णन है, उसे एकत्र संकलन करके आचार्य प्रशस्तपाद ने वर्णन किया है । इसलिए उसको 'पदार्थधर्मसंग्रह' कहा है ।

प्रसंग :- - धर्म किसको कहते हैं और उसका फल क्या मिलता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं -

यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिःस धर्मः ॥ २ ॥

[यतः] जिससे [अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः] अभ्युदय (=लौकिक-कल्याण) और निःश्रेयस (=मोक्ष) की सिद्धि (=प्राप्ति) होती है, [सः] वह [धर्मः] धर्म है।

यह धर्म का तटस्थलक्षण है, स्वरूपलक्षण नहीं। क्योंकि तटस्थलक्षण वह लक्षण कहलाता है, जहाँ बाह्यनिमित्त या कार्यादि से किसी पदार्थ का निर्देश किया जाए। यथा-ईश्वर वह है, जो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है। ईश्वर का स्वरूपलक्षण है - सत्, चित्, आनन्द। इसी प्रकार सूत्रकार ने धर्म का तटस्थलक्षण किया है, कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त हो, वह धर्म है। मनु आदि के समान स्वरूपलक्षण नहीं है। यथा - 'धृतिःक्षमा.' (मनु.६/९२) 'वेदःस्मृतिः०' (मनु.२/१२) - इत्यादि में श्रेष्ठ आचरण को ही धर्म का स्वरूप बताया है।

अतः वैशेषिक के धर्म का अर्थ मनु आदि द्वारा प्रतिपादित धर्म के रूप में करना, वैसे ही है जैसे समुद्र देखने की इच्छा करके हिमालय की ओर चलें -

धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।

समुद्रं गन्तुकामस्य हिमवद् गमनोपमम् ॥

अतः यहाँ यह समझना चाहिए, कि इस शास्त्र का लक्ष्य है - समस्त पदार्थों की धर्म और धर्मी के रूप में उनकी साधारण - असाधारण विशेषताओं का निरूपण करना।

अभ्युदय का अर्थ है - भौतिक तत्त्वों को यथायथ रूप में जानकर लौकिक जीवन की सुख-सुविधाएँ जुटा लेना। जैसे आजकल वैज्ञानिक जुटा रहे हैं। यही कणाद के 'अभ्युदय' का वास्तविक अर्थ है।

निःश्रेयस - जब व्यक्ति सूक्ष्मदृष्टि से यह देखता है, कि यह शरीर तथा साधन-द्रव्य नश्वर, परिणामशील, जड़ तथा मरने पर यहीं छूट जाने वाले हैं; आत्मतत्त्व इनसे विपरीत है। इन सब पदार्थों का ऐसा वास्तविक ज्ञान व्यक्ति को निःश्रेयस के मार्ग पर प्रेरित करता है। इसी रूप में द्रव्यादि का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस के लिए उपयोगी समझना चाहिए।

किन्तु यह सब होते हुए भी विरले ही मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त करके निःश्रेयस के मार्ग पर चलने की रुचि रखते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष विषयों की ओर इन्द्रियाँ बड़ी तेजी से दोड़ती हैं।

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ - (कठो.४/१)

अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने वाला बनाया है, इसलिए व्यक्ति बाहर की ओर देखता (= ज्ञान प्राप्त करता) है, अन्दर (= आत्मा) की ओर नहीं। अमृत को चाहने वाला कोई धीर पुरुष ही होता है, जो विषयों से आँखें मूँद लेता है और मुड़कर आत्मा को देखता है।

भगवद्गीता में कहा है -

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ - (गी. ७/३)

हजारों मनुष्यों में से कोई-एक योग की सिद्धि के लिए यत्न करता है। जो लोग यत्न करते हुए योग की सिद्धि कर लेते हैं, उनमें से कोई एक ही मुझे तात्त्विक रूप से जान पाता है॥ २॥

प्रसङ्ग :- आप कहते हैं, कि विश्व के रूप में विस्तृत उन द्रव्यादि साधनों की विशेषताओं का नाम धर्म है, जिनसे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है। किन्तु ऐसे धर्म की प्रामाणिकता क्या है ? सूत्रकार इस आक्षेप का समाधन करते हैं -

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।। ३ ।।

[तद्वचनात्] उस नित्य निर्दोष व्यापक ईश्वर का वचन होने से (अथवा उस धर्म का प्रवचन होने से) [आम्नायस्य] वेद की [प्रामाण्यम्] प्रामाणिकता है (जिसके अनुसार हमें इस शास्त्र का प्रतिपादन करना है) ।

यद्यपि सर्वनाम पद पूर्वोक्त का परामर्शक होता है, परन्तु विशिष्ट स्थलों में अप्रसक्त (=जिसका साक्षात् प्रसंग न हो, उस) का भी परामर्श (=ग्रहण) कर लेता है । इस प्रकार यहाँ ईश्वर का प्रसंग न होने पर भी 'तत्' सर्वनाम शब्द से ईश्वर का ग्रहण हुआ है । जिस प्रकार न्यायशास्त्र के ''तदप्रामाण्यमनृतव्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्यः'' - (न्या.२/१/५८) में तत् शब्द से अपूर्वोक्त 'वेद' का ग्रहण होता है ।

'तत्' यह सर्वनाम शब्द 'ब्रह्म' का नाम भी हैं - ''ओ३म् तत् सत्'' ।

महर्षि दयानन्द जी उणादिकोष में 'तत्' शब्द की व्याख्या करते हैं - 'तनुते विस्तृतो भवतीति 'तद्' .... ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि (= त्यद्, तद्, यद्) । - [त्यजितनियजिभ्यो डित् (अदिः प्रत्ययः) - उणा. - १/१३२]

वेद में बहुत से मन्त्र हैं, जिनमें द्रव्यादि का निरूपण किया है । यथा - ऋग. १/१६३-१६४; १०/७२, ८१-८२, १२९; यजु.१७/२६-३१ तथा ३१ वाँ अध्याय आदि । वेद ब्रह्म का सिद्धान्त-ज्ञान **(Theory)** है तथा जगत् प्रयोगात्मक **(Practicaly)** रचना । इन दोनों का सामञ्जस्य **(Harmony)** तभी सम्भव है, जब दोनों का रचयिता एक हो ; अन्यथा नहीं ।

विशेष - (शंका) क्या वैशेषिक दर्शन निरीश्वरवादी है ? कुछ मध्यकालीन आचार्यों के ऐसे उल्लेख हैं, जिनमें वे वैशेषिक दर्शन को निरीश्वरवादी मानते हैं । जैसे कि - हरिभद्र सूरी के 'षड्दर्शनसमुच्चय' में वैशेषिक-दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन माना है ।

(समाधान)- ईश्वर के विषय में विस्तार से वर्णन न करना निरीश्वरवाद नहीं कहा जा सकता । क्योंकि - १. प्रत्येक शास्त्र का अपना निश्चित प्रतिपाद्य विषय होता है । उस शास्त्र में निश्चित प्रतिपाद्य विषय का ही सांगोपांग विवेचन किया जाता है । ऐसी स्थिति में उसे अन्य विषयों का विरोधी नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह किसी विषय का स्पष्ट शब्दों में खण्डन न करे । जैसे - गणित के ग्रन्थ को चिकित्सा-विरोधी या न्याय - विरोधी नहीं कह सकते । न्याय-शास्त्र को भी चिकित्सा विरोधी नहीं कहा जा सकता । जबकि उनमें अपने-अपने विषय का ही विवेचन होता है ।

२. अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित विषय का पुनः प्रतिपादन पिष्टपेषण दोष कहा जाता है । इसमें अपनी विशेषता नहीं झलकती ।

३. **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (मनु.२/११) के अनुसार वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहते हैं । परन्तु महर्षि कणाद ने आरम्भिक तृतीय सूत्र में ईश्वर के व्यापकार्थक नाम 'तत्' शब्द का उल्लेख किया है तथा उसके बनाए 'आम्नाय' (=वेद) की प्रामाणिकता बताई है । इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्याय के सूत्र १८-१९ एवं छठे अध्याय के आरम्भिक सूत्र द्रष्टव्य हैं ।

४. वैशेषिक दर्शन के प्रामाणिक संग्रहग्रन्थ 'प्रशस्तपादभाष्य' में अनेकत्र श्रद्धापूर्वक ईश्वर का उल्लेख किया है । यथा - १. मंगलाचरण की प्रथमपङ्क्ति में ही कहा है -

"प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।"

२. सृष्टिसंहार प्रसंग में कहा है -

"... सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य ... । प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं ... । समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् ... । स च महेश्वरेण विनियुक्तः ... ।" इत्यादि ।

(इन उद्धरणों की विस्तृत व्याख्या इस ग्रन्थ में यथास्थान देख सकते हैं ।)

अतः महर्षि कणाद को या उनके शास्त्र वैशेषिक - दर्शन को निरीश्वरवादी कहना अन्याय है ॥ ३॥

प्रसंग :- आपने धर्म का तटस्थ लक्षण बता दिया, परन्तु उसका स्वरूप क्या है ? और उससे निःश्रेयस कैसे प्राप्त होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं -

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥४॥

[धर्मविशेषप्रसूताद्] धर्मविशेष से उत्पन्न हुए [द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम्] द्रव्य (Substance, Matter), गुण (Quality), कर्म (Action) सामान्य (Generality), विशेष (Particularily) और समवाय (Inherence) नामक [पदार्थानाम्] पदार्थों के [साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्] साधर्म्य और वैधर्म्य के साथ [तत्त्वज्ञानात्] तत्त्वज्ञान से [निःश्रेयसम्] निःश्रेयस (=मोक्ष) प्राप्त होता है ।

द्रव्यादि छह पदार्थों के परस्पर साधर्म्य (Equality) और वैधर्म्य (Difference) की जानकारी के साथ धर्म-विशेष से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

साधर्म्य और वैधर्म्य शब्दों में जो 'धर्म' शब्द है, उसका अर्थ है **'विशेषता'**, जो किसी पदार्थ के आश्रित रहती है । उस आश्रय को **धर्मी** कहते हैं । जैसे गन्ध धर्म, पुष्प धर्मी; दौड़ना धर्म, घोड़ा धर्मी, उष्णता धर्म और अग्नि धर्मी । इसी प्रकार अन्यत्र भी धर्म-धर्मी भाव समझ लें ।

जो अनेक पदार्थों का समान=तुल्य धर्म हो उसे साधर्म्य और परस्पर विरुद्धधर्म को वैधर्म्य कहते हैं । जैसे 'गुरुत्व' (=भारी होना रूप-) धर्म पृथिवी और जल का साधर्म्य (=समान धर्म) है और ठोस होना पृथिवी का जल से वैधर्म्य

(= अपना विशेष धर्म = जल से विरुद्ध धर्म) है तथा द्रव्यत्व (= तरल होना) जल का पृथिवी से वैधर्म्य (= अपना विशेष धर्म = पृथिवी से विरुद्ध धर्म) है।

इस प्रकार पदार्थों की साधारण (=समान) और असाधारण (=अन्यों से भिन्न = अपनी) विशेषताओं को वास्तविकता के साथ जान लेना द्रव्यादि-विषयक तत्त्वज्ञान है।

'पदार्थ' यह यौगिक शब्द है, 'पदस्य अर्थः = पदार्थ' = पद का अर्थ-पदार्थ; अर्थात् जिसका कोई नाम हो वह पदार्थ है। अतः 'अभिधेयत्व' = किसी वाचक पद का वाच्य होना 'पदार्थ' का सामान्य लक्षण है।

'धर्मविशेषप्रसूतात्' में आये हुए 'धर्म' शब्द का अर्थ वह नहीं जो पहले दो सूत्रों में अथवा 'साधर्म्य' 'वैधर्म्य' शब्दों में आया है; अपितु यहाँ मन को साधने की प्रक्रिया 'योग' अथवा 'समाधि' से आत्मा का जो दिव्य सामर्थ्य जागृत होता है, उसी को धर्मविशेष कहा जाता है। ऐसे धर्म-विशेष(=दिव्य - सामर्थ्य) से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से ही निःश्रेयस (=मोक्ष) प्राप्त होता है।

इस समाधिजन्य सामर्थ्य द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से ही व्यक्ति भौतिक अन्वेषण की ओर प्रगति कर सकता है और दूसरी ओर अध्यात्म-दिशा में प्रगति करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

इस धर्मविशेष (= समाधिजन्य सामर्थ्य) के बिना व्यक्ति को सामान्य शाब्दिक ज्ञान ही होगा, साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

आधुनिक विज्ञान की प्रगति भी इसी धर्म-विशेष(=समाधिजन्य सामर्थ्य) से प्रकृतिलय योगियों द्वारा हो रही है। तथा इसी सामर्थ्य के द्वारा भौतिक तत्त्वों (Adjuncts) की नश्वरता का साक्षात्कार करके इनको लक्ष्य न मानकर, साधनमात्र मानकर जीवन के लक्ष्य = मोक्ष का मार्ग खुल जाता है।

पदार्थों की शिक्षा देने के तीन क्रम हैं - १.उद्देश, २. लक्षण और ३. परीक्षण।

१. बताने योग्य पदार्थ का केवल नाम लेना 'उद्देश' (Enumeration) कहाता है। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, पृथिवी आदि।

२. उद्दिष्ट के असाधारण धर्म को 'लक्षण' (Defination =पहिचान) कहते हैं। यथा - उष्ण स्पर्श तेज का गुण है। पृथिवी का गन्ध गुण है।

३. लक्षित का यह लक्षण बन सकता है या नहीं, इस विचार का नाम 'परीक्षा' (Examination) है।

इस आधारभूत चतुःसूत्री में शास्त्र का उद्देश बता दिया है ॥४॥

२. उद्देश-प्रकरणम्

इन २, ३, ४ सूत्रों के विषय को संक्षेप से 'पदार्थधर्मसंग्रह' (प्रशस्तपादभाष्य) में कहा है -

(प्रश.) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः । तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों के समानधर्म तथा विरुद्धधर्मरूप तत्त्व का ज्ञान निःश्रेयस अर्थात् अपवर्ग/मोक्ष का कारण है। (एवं उक्त तत्त्वज्ञान का जनक यह ग्रन्थ भी परम्परा से अपवर्ग का कारण है)। और वह निःश्रेयस (= अपवर्ग) ईश्वर की प्रेरणा से प्रकट हुए धर्म (= अदृष्ट विशेष) से ही होता है।

विशेष - वस्तुतः द्रव्यादि के तत्त्वज्ञान से मोक्ष नहीं हो जाता, अपितु द्रव्यादि का तत्त्वज्ञान धर्म का कारण है, उस धर्म से ही मोक्ष उत्पन्न होता है। अर्थात् पदार्थों के यथार्थज्ञान से बाह्य और आभ्यन्तर सभी वस्तुओं में दोष-बुद्धि

उत्पन्न होती है (कि ये सभी दुःख के कारण हैं)। इस दोष-बुद्धि से वैराग्य की उत्पत्ति होती है और वैराग्य से उस पुरुष की सभी अभिलाषाएँ निवृत्त हो जाती हैं। तब वह व्यक्ति अभिलाषाओं के पोषक सभी उपायरूप कर्मों को छोड़कर अभिलाषाओं से पीछा छुड़ाने वाले वेद एवं धर्मशास्त्रोक्त निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ आत्मज्ञान का अभ्यास करता है। इन आचरणों से जब आत्म-ज्ञान परिपक्व हो जाता है, तब आत्मा की शरीर के साथ अत्यन्त-वियोग (मोक्ष) की उत्पत्ति होती है। जैसे कि सर्प, कण्टक आदि पदार्थों में पहले इस प्रकार के दोष का ज्ञान होता है, कि ये सभी दुःखजनक हैं। तब उन्हें त्यागने की इच्छा होती है। इस इच्छा से निवर्तक प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। आत्मा के विशेषगुण इस प्रयत्न से जीव उन दुष्ट (सर्पादि) पदार्थों को छोड़ देता है। इसी विषय को आगे मोक्ष-निरूपण प्रकरण में विस्तार से कहेंगे।

कठोपनिषद् में भी कहा है -

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ - (कठो. २/२३)
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ - (कठो.२/२४)

अर्थात् यह आत्मा (परमात्मा) बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नहीं मिलता, बहुत कुछ पढ़ने-सुनने से नहीं मिलता। जिसको यह सुपात्र समझकर चुन लेता है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके लिए यह आत्मा अपना स्वरूप प्रकट कर देता है॥

जो व्यक्ति दुराचरण से हटा नहीं है, जो अशान्त है, जो तर्क-वितर्क में उलझा हुआ है, जो चञ्चल-चित्त वाला है, वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। उसे तो 'प्रज्ञान' (= प्रकृष्ट ज्ञान, ऋतम्भरा प्रज्ञा) से ही प्राप्त किया जा सकता है॥

प्रसङ्ग :- अब उद्दिष्ट द्रव्यादि छह पदार्थों के विभाग बताते हैं। नामों को गिनाने से विभाग भी उद्देश ही है। सो उद्दिष्ट क्रम के अनुसार द्रव्य के विभाग इस प्रकार हैं -

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥

[पृथिवी] पृथिवी, [आपः] जल, [तेजः] अग्नि, [वायुः] वायु, [आकाशम्] आकाश, [कालः] काल (=समय), [दिक्] दिशा, [आत्मा] आत्मा (=जीवात्मा, परमात्मा), [मनः] मन [इति] ये (नौ) [द्रव्याणि] द्रव्य हैं।

सूत्र में 'इति' शब्द पृथिवी आदि के पृथक्-पृथक् स्वरूप का द्योतक है, अथवा अवधारण (=निश्चय) के लिए है, कि इनके विभाग नौ ही हैं, न्यूनाधिक नहीं। धर्म रूप से गिनाये गये समस्त भाव-पदार्थों में जिस प्रकार द्रव्य एक वर्ग है, उसी प्रकार पृथिवी आदि नौ, द्रव्य के अवान्तर वर्ग हैं। हाँ इनके अवान्तर भेद असंख्य हैं। असंख्य पृथिवी कण, असंख्य जल के अणु इत्यादि।

आकाश, काल, दिशा - यद्यपि व्यक्ति रूप से एक-एक हैं, किन्तु इनका औपचारिक या आपेक्षिक भेदरूप में भी व्यवहार होता है। यथा - घटाकाश, मठाकाश - इत्यादि; भूत, वर्तमान, भविष्यत् - इत्यादि; पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इत्यादि। ये भेद अपेक्षाकृत होने से औपचारिक मात्र हैं। इनका वस्तुतत्त्व एक ही है।

'आत्मा' शब्द से कहे जाने वाला द्रव्य जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही हैं। इनमें जीवात्मा मानवदृष्टि से संख्या में अनन्त हैं; परमात्मा एकमात्र द्रव्य है।

प्रत्येक जीवात्मा के साथ एक-एक मन साधन रूप में सम्बद्ध रहने से मानव दृष्टि में 'मन' भी अनन्त हैं।

इस प्रकार द्रव्यों की नौ संख्या उनके वर्गीकरण की दृष्टि से है, व्यक्तिरूप से नहीं।

यद्यपि वैशेषिक में 'द्रव्य' शब्द पृथिवी आदि नौ तत्त्वों के लिए पारिभाषिक है, तथापि इसकी व्युत्पत्ति 'द्रु' गतौ धातु से 'यत्' प्रत्यय करने पर हो सकती है - द्रवति क्रियाया गुणस्य वाऽऽश्रयत्वं प्राप्नोतीति 'द्रव्यम्' पृथिव्यादि।

महर्षि पाणिनि के अनुसार 'द्रु' शब्द जो वृक्ष का पर्यायवाची है, वह 'द्रु' गतौ (भ्वा.प.अ.) धातु से 'डु' प्रत्यय (पा.३/२/१८० वा.) बनता है। जिसका अर्थ है - द्रवति ऊर्ध्वं गच्छतीति द्रुः = जो ऊपर को बढ़ता जाय। इस 'द्रु' पद से 'इव' अर्थ में 'यत्' (पा.५/३/१०४) प्रत्यय होकर 'द्रव्य' पद की सिद्धि मानने पर अर्थ होगा - द्रोरिव उन्नतिशीलः। अर्थात् जो वृक्ष के समान उन्नतिशील (भव्य) हो, अथवा जो उन्नत करने वाला, प्रत्येक प्रकार की उन्नति का साधन हो, वह द्रव्य है। व्याकरण-ग्रन्थों में इसके उदाहरण हैं - द्रव्यो राजपुत्रः, द्रव्यो माणवकः आदि। अर्थात् होनहार राजपुत्र अथवा होनहार बालक।

कोशों में इसके अन्य भी अर्थ हैं। यथा - वस्तु, धन, सामग्री, योग्य पदार्थ, शील, लाख, गोंद इत्यादि।

इन नौ द्रव्यों में क्रमशः सूक्ष्म होने से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश क्रम से कहे हैं। पश्चात् व्यावहारिक द्रव्य काल और दिशा कहे हैं, अनन्तर चेतन आत्मा; और आत्मा के साथ नियत रहने से पीछे 'मन' कहा है ॥५॥

उद्दिष्ट छह पदार्थों में से द्रव्यों के भेदरूप में संक्षिप्त-विवरण 'पदार्थधर्मसंग्रह' (प्रश.भा.) में प्रस्तुत किया है -

(प्रश.) - ''अथ के द्रव्यादयः पदार्थाः किञ्च तेषां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्चेति ?

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेषसञ्ज्ञयोक्तानि नवैवेति । तद्व्यतिरेकेणान्यस्य सञ्ज्ञानभिधानात् ॥"

द्रव्य इत्यादि पदार्थ कौन-कौन से हैं ? एवं उनके साधर्म्य (= समान धर्म) और वैधर्म्य (= विरुद्ध धर्म) क्या हैं ?

उन छह पदार्थों में १ - पृथिवी, २-जल, ३ - तेज, ४ - वायु, ५ - आकाश, ६-काल, ७-दिशा, ८-आत्मा तथा ९ - मन ... ये नौ ही द्रव्य सूत्रकार के द्वारा सामान्य (द्रव्यसंज्ञा) और विशेष (पृथिवी, जल इत्यादि नामक) संज्ञाओं से कहे गये हैं । क्योंकि पदार्थों के उपदेश के लिए इन नौ को छोड़कर महर्षि कणाद ने और किसी द्रव्य का नाम नहीं लिया है ॥

प्रसंग :- भावरूप पदार्थों में से द्रव्यों का विभाग वताकर अव सूत्रकार गुणों का विभाग वताते हैं -

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥

[रूपरसगन्धस्पर्शाः] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, [संख्याः] संख्याऐं = गिनतियाँ [परिमाणानि] परिमाण = नाप, [पृथक्त्वं] पृथक्ता (= अलग होना), [संयोगविभागौ] संयोग और विभाग, [परत्वापरत्वे] परत्व (=दूर होना) और अपरत्व (= समीप होना), [बुद्धयः] बुद्धियाँ, [सुखदुःखे] सुख और दुःख, [इच्छाद्वेषौ] इच्छा और द्वेष, [प्रयत्नाः] प्रयत्न [च] और {लोकप्रसिद्ध - गुरुत्व (=भारीपन), द्रवत्व (=पिघलापन), स्नेह (=विखरे पदार्थ को पिण्ड वना देने की क्षमता), संस्कार, धर्म (= पुण्यकर्म), अधर्म (= पाप कर्म), शव्द} - (ये चौवीस) [गुणाः] गुण हैं ।

इन २४ गुणों में से पिछले, लोक प्रसिद्ध सात गुण सूत्रकार ने यहाँ नहीं गिनाये । किन्तु आगे परीक्षा में यथाप्रसंग इनका वर्णन है । इनमें संस्कार के तीन अवान्तर भेद हैं - वेग, स्थितिस्थापक और भावना ।

वेग - संस्कार (= फेंके हुए पदार्थ का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाना) - चलने वाले द्रव्यों का।

स्थितिस्थापक - संस्कार (= पहली अवस्था में लाने वाला) - पृथिवी का ।

भावना - संस्कार (= स्मृति कराने वाला, कार्य का प्रभाव) - आत्मा का होता है ।

शब्द - प्रसिद्ध ध्वनिरूप है, जो कि आकाश का गुण है ।

दुःखे इच्छा ... में प्रगृह्य संज्ञा होने से अयादि-सन्धि नहीं हुई ।

सूत्र में समासरूप में पढ़े हुए चार गुण पहले चार द्रव्यों में रहते हैं, अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाते । फिर भी इनको भूतों की स्थूलता या सूक्ष्मता के क्रम से न रखकर ज्ञान की दृष्टि (= इन्द्रिय-प्रत्यक्षत्व) की दृष्टि से रखा है । क्योंकि इन्द्रियों द्वारा द्रव्यों के प्रत्यक्षत्व में रूप की प्रधानता है ।

पश्चात् रस, गन्ध और स्पर्श का ग्रहण किया है ।

संख्याएँ - एक से लेकर परार्द्ध पर्यन्त हैं ।

परिमाण - लम्वाई, चौड़ाई, छोटाई, वड़ाई (Quantity) हैं । पृथक्त्व - अलगपना (Separately) है । चाहे दो का हो या अधिक का ।

संयोगविभागौ, परत्वापरत्वे, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ ये सव द्वन्द्व = जोड़े हैं, जो कि परस्पर विरुद्ध गुण हैं ।

वहुवचनान्त 'वुद्धयः' तथा 'प्रयत्नाः' पद ज्ञान तथा प्रयत्नों की अनन्तता को प्रकट करते हैं ।

यहाँ पर शूरता, उदारता, दया, चातुर्य, उग्रता आदि लोकप्रसिद्ध गुणों को अलग से नहीं गिनाया; क्योंकि ये सब गुण प्रयत्न बुद्धि आदि के अन्तर्गत आ जाते हैं ॥६॥

गुणों के उद्देश प्रकरण में प.ध.सं. (=पदार्थधर्मसंग्रह) में कहा है -

(प्रश.) "गुणाश्च रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृ थक्त्वसंयोग - विभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः ॥"

और गुणपदार्थ भी क्रमप्राप्त हैं। जिनमें १-रूप, २-रस, ३-गन्ध, ४-स्पर्श, ५-संख्या, ६-परिमाण, ७-पृथक्त्व, ८-संयोग, ९-विभाग, १०-परत्व, ११-अपरत्व, १२-बुद्धि, १३-सुख, १४-दुःख, १५-इच्छा, १६-द्वेष और १७-प्रयत्न. ये सत्रह गुण सूत्रकार ने कण्ठ से (स्वयं) कहे हैं और सूत्रस्थ 'च' शब्द से संग्रह किये हुए १-गुरुत्व, २-द्रवत्व, ३-स्नेह, ४-संस्कार, अदृष्ट (=५-धर्म, ६-अधर्म) तथा ७-शब्द - ये सात ही गुण हैं। इस प्रकार सब मिलाकर गुण चौबीस प्रकार के हैं।

आगे गुण निरूपण के प्रकरण में इनको विस्तार से समझाया जाएगा।

अन्य लोकप्रसिद्ध शौर्य, औदार्य, कारुण्य, चातुर्य, दक्षता' उग्रता आदि गुण तो प्रयत्न, बुद्धि आदि के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः अलग से नहीं गिनाए। क्योंकि अपने से अधिक बलशाली शत्रु को पराजित करने के उत्साह/प्रयत्न को 'शौर्य' कहते हैं। सतत सन्मार्ग में रहनेवाली 'बुद्धि' ही उदारता है। दूसरे के दुःख का नाश करने की 'इच्छा' ही कारुण्य है। वस्तु के यथार्थ रूप को ग्रहण करने वाली 'बुद्धि' दक्षता है। अपने उत्कर्ष की 'बुद्धि' ही उग्रता है। वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये तीनों एक ही संस्कारत्व जाति के अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु

'अदृष्ट' नाम की कोई जाति नहीं है, अतः उससे कहे जाने वाले धर्म और अधर्म अलग-अलग गुण हैं ।

प्रसंग :- अब क्रम-प्राप्त कर्म के विभाग कहते हैं -

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।। ७ ।।

[उत्क्षेपणम्] ऊपर को उठाना या फेंकना, [अवक्षेपणम्] नीचे फेंकना या गिराना, [आकुञ्चनम्] सिकुड़ना या सिकोड़ना, [प्रसारणम्] फैलना या फैलाना, [गमनम्] गमन (= शेष सब प्रकार की सामान्य क्रिया) [इति] ये (पाँच) [कर्माणि] कर्म हैं ।

जब इच्छापूर्वक प्रयत्न से ऊपर फैंकना आदि क्रियाऐं होती हैं, तभी उनको उत्क्षेपणादि कहते हैं । यदि इच्छापूर्वक प्रयत्न न हो तो सामान्य गतिरूप क्रिया ही समझी जाती है ।

क्रिया की ऊर्ध्वप्रवृत्ति या मूसल का ऊपर उठाना उत्क्षेपण है । क्रिया की अधःप्रवृत्ति या प्रयत्नपूर्वक मूसल आदि का नीचे गिराना अवक्षेपण है । वस्त्र आदि को तहकर या अन्य प्रकार से छोटे आकार में कर देना, हाथ की मुट्ठी बाँधना आदि जिसमें किसी द्रव्य के अवयवों का परस्पर, द्रव्यान्तर का अनारम्भक संयोग होता है वह उस द्रव्य में 'आकुञ्चन' नामक कर्म का कारण होता है । वस्त्र, पिण्ड, राशि या मुट्ठी का फैलाना जिसमें द्रव्यान्तर के अनारम्भक संयोग को हटा दिया जाता है, वह उस द्रव्य में 'प्रसारण' नामक कर्म का कारण होता है । उत्क्षेपणादि चार से अन्य परिभ्रमण (=परिक्रमण) घूर्णन, विरेचन, वमन, नर्तन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, निष्क्रमण, प्रवेशन आदि सभी क्रियाएँ 'गमन' में आ जाती हैं ।।७।।

कर्मों के उद्देश-प्रकरण में प.ध.सं. में कहा है -

(प्रश.) - "उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव कर्माणि । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यक्पतननमनोन्नमनादयो गमनविशेषा न जात्यन्तराणि ।।"

भाष्य में स्यन्दन के स्थान पर 'स्पन्दन' पाठान्तर है ।

१. उत्क्षेपण (=ऊपर फेंकना), २. अपक्षेपण (= नीचे फेंकना, ३-आकुञ्चन (=सिकोड़ना), ४-प्रसारण (= फैलाना), ५-गमन (=गति करना) - ये पाँच ही कर्म-पदार्थ हैं । गमन पद के ग्रहण से भ्रमण (=परिक्रमण, घूर्णन), विरेचन, स्यन्दन(=चूना, रिसना) अथवा (स्पन्दन (=फुदकना) ऊपर जलना, तिरछे गिरना, झुकना, ऊपर उठना - इत्यादि कर्म भी गमन के ही विशेष (=भेद) हैं; दूसरी जाति के कर्म नहीं हैं ।

कर्म की परीक्षा के प्रकरण में इनका विस्तार से वर्णन करेंगे ।।

प्रसङ्ग - द्रव्य, गुण, कर्म का विभाग दिखाकर अव शेष सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों के उद्देश से पहले इनके आश्रयभूत द्रव्यादि तीनों का साधर्म्य (समानधर्म) कहते हैं -

सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामन्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेष : ।।८।।

[सत्] सत्ता से युक्त होना, [अनित्यम्] (नित्य द्रव्यों को छोड़कर) विनाशी होना, [द्रव्यवत्] द्रव्य से नित्य सम्बद्ध होना (= द्रव्य जिनका समवायिकारण हो) (नित्य द्रव्यों को छोड़कर), [कार्यम्] (नित्य द्रव्यों को छोड़कर) उत्पन्न होने वाले, उत्पन्न किये जाने वाले होना, [कारणम्] कारण (=किसी अन्य कार्य की उत्पत्ति में निमित्त) होना, [सामान्यविशेषवत्] सामान्य (=साधर्म्ययुक्त) होने पर भी एक-दूसरे से भिन्न होना, [इति] यह [द्रव्यगुणकर्मणाम्] द्रव्य, गुण और कर्मों का [अविशेषः] सामान्य धर्म है ।

'द्रव्यवत्' शब्द में -

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।

संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुवादयः ॥ - (काशिका. ५/२/९४)

इस कारिका के अनुसार 'नित्ययोग' (=नित्यसम्बद्ध) अर्थ में मतुप् प्रत्यय है।

'सत्' - द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में 'सत्ता' (= सामान्य ='सत्ता' जाति) समान रूप से रहती है ।

द्रव्य, गुण और कर्म तीनों विनाशी (=कालान्तर में न रहने वाले) हैं । द्रव्यादि तीनों द्रव्य के आश्रित रहने वाले (= समवायिद्रव्य वाले) हैं । कार्यद्रव्य का अवयव-द्रव्य कारण (=समवायिकारण) होते हैं; उन अवयव-द्रव्यों का संयोग-गुण कार्य-द्रव्य का असमवायिकारण तथा रूपादिगुण कार्यद्रव्य के रूपादि गुण का भी असमवायिकारण होता है और कर्म भी संयोग-विभाग-वेग का असमवायिकारण होता है ।

द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता-जाति समान रूप से रहती है, फिर द्रव्य में द्रव्यत्व गुण-कर्म से, गुणों में गुणत्व द्रव्य-कर्म से और कर्म में कर्मत्व द्रव्य-गुण से विशेष (= भिन्न) होता है ।

द्रव्यादि में भी पृथिवी, जलादि का द्रव्यत्व अन्य द्रव्यों से समान होते हुए भी पृथिवीत्व, जलत्वादि से विशेष (=भिन्न) है । इसी प्रकार गुणों में रूपत्वादि तथा कर्मों में उत्क्षेपणादि सामान्य और विशेष हैं ।

इस प्रकार सत्तावत्त्व, अनित्यत्व, द्रव्याश्रितत्त्व, कार्यत्व, कारणत्व और सामान्यविशेषवत्त्व - ये छह द्रव्य, गुण, कर्म के साधर्म्य हैं ॥८॥

प्रसङ्ग :- द्रव्य, गुण और कर्म - इन तीनों पदार्थों का साधर्म्य बताकर अब द्रव्य, गुण-इन दो पदार्थों का साधर्म्य बताते हैं -

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ।। ९ ।।

[सजातीयारम्भकत्वम्] अपने सजातीय पदार्थ का आरम्भक (= उत्पादक) होना [द्रव्यगुणयोः] द्रव्यों और गुणों का [साधर्म्यम्] साधर्म्य (= समानधर्म) है।

पृथिवीजातीय परमाणु पृथिवीजातीय द्रव्य को ही उत्पन्न करते हैं जलजातीय को नहीं; जलजातीय परमाणु जलजातीय द्रव्य को ही उत्पन्न करते हैं पृथिवीजातीय को नहीं। इस प्रकार श्वेत रंग के तन्तु वस्त्र के श्वेत वर्ण को ही उत्पन्न करता है, नील या पीत को नहीं; नीलवर्ण का तन्तु वस्त्र के नीले वर्ण को ही उत्पन्न करता है श्वेत या पीले वर्ण को नहीं।

अथवा रूप, रूप को ही उत्पन्न कर सकता है, रस या गन्ध को नहीं।

यह नियम निरवयव (ईश्वरादि), अन्त्यावयवी (घट आदि) पर नहीं लगता, क्योंकि ये किसी द्रव्य के समवायिकारण नहीं होते। ये किसी द्रव्य के निमित्तकारण अथवा साधारणकारण (=असमवायिकारण) हो सकते हैं ।।९।।

प्रसंग :- पूर्वोक्त सूत्र को सूत्रकार स्वयं स्पष्ट करते हैं -

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ।।१०।।

[द्रव्याणि] पृथिवी आदि द्रव्य (पदार्थ) [द्रव्यान्तरम्] (सजातीय) अन्य द्रव्य को [च] और [गुणाः] (रूपादि) गुण (पदार्थ) [गुणान्तरम्] (सजातीय) अन्य गुण को [आरभन्ते] उत्पन्न करते हैं।

अन्त्यावयवि-द्रव्य, विभु द्रव्य तथा जीवात्मा में यह नियम नहीं लगता, अर्थात् ये अपने सदृश द्रव्य को उत्पन्न नहीं करते ।।१०।।

अन्त्यावयविगुण और द्वित्वादि संख्या, द्विपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व इत्यादि गुण भी अपने सदृश गुण को उत्पन्न नहीं करते ॥

प्रसंग :- अब सजातीयारम्भकत्व - धर्म में कर्म का द्रव्य, गुण से वैधर्म्य दिखाते हैं -

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

[कर्म] कर्म (= क्रिया = Action) [कर्मसाध्यम्] कर्म से साध्य (= उत्पाद्य) [न] नहीं [विद्यते] होता है ।

द्रव्य और गुण के समान एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न नहीं होती । एक उत्क्षेपण आदि क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि वह क्षणिक होती है । यदि प्रथम क्रिया अन्य क्रिया को और अन्य, अन्य को उत्पन्न करती; तो हाथ से सरकाया हुआ पत्थर या हवा में उड़ाया गया तिनका कभी न रुकता ।

किन्तु जहाँ अभिघात (=धक्के) से क्रिया उत्पन्न होती है, जैसे - पत्थर या गैंद फैंकना, धनुष से बाण या बन्दूक से गोली छोड़ना, वहाँ अभिघात की शक्ति के अनुसार क्रिया उत्पन्न होकर वेग नामक संस्कार-गुण को उत्पन्न कर देती है । पुनः वेग, गति-क्रिया को और क्रिया वेग को उत्पन्न करते रहते हैं । इस प्रकार वस्तु में गति बनी रहती है, जब तक कि अभिघात की शक्ति क्षीण न हो जाय अथवा वस्तु किसी ठोस वस्तु से न टकरा जाय । ऐसा हो जाने पर वस्तु गिर जाती है या रुक जाती है; क्योंकि ''संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्'' - (वैशे. ५/१/१८;१६९)

शंका - जब एक सीध में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर खड़ी ईंटों में से पहली ईंट को धक्का (=अभिघात) देते हैं तो उससे दूसरी, दूसरी से तीसरी गिरती चली जाती हैं । सो क्या यहाँ पहली ईंट के कर्म द्वारा दूसरी ईंट का कर्म उत्पन्न नहीं होता ?

समा. - नहीं, वहाँ भी पहली ईंट का कर्म कारण नहीं, किन्तु आघात (=संयोग-विशेष) ही कारण है। पहली ईंट का कार्य तो दूसरी ईंट को आघात पहुँचाना है। अर्थात् दूसरी ईंट से केवल संयोग-विशेष ही होता है। अव उस संयोग से दूसरी ईंट में कर्म उत्पन्न होता है। इसलिए वहाँ भी कर्म, कर्म का कार्य नहीं, अपितु संयोग का ही कार्य है ॥ ११ ॥

प्रसङ्ग :- अब द्रव्य का गुण और कर्म से वैधर्म्य दिखाते हैं -

न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति ॥ १२ ॥

[द्रव्यम्] (कोई भी) द्रव्य (अपने) [कार्यम्] कार्य को [च] और [कारणम्] कारण को (न) नहीं [वधति] नष्ट करता है।

कोई द्रव्य अपने कार्य द्रव्य या कार्यद्रव्यानुगत गुण को, अथवा कोई द्रव्य अपने समवायिकारण द्रव्य को या असमवायिकारण संयोगादि गुण को नष्ट नहीं करता। यदि ऐसा करे तो उसका अपना अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा।

सूत्र में 'वधति' यह सौत्र-निर्देश है अर्थात् आर्ष प्रयोग है। पा. धातुपाठ में 'वध' धातु नहीं है, किन्तु 'हन' धातु को ही आ.लिङ् तथा लुङ् लकार में वधादेश कहा गया है।

इस विषय में श्री पं. युधिष्ठिर मीमांसक का विचार है, कि पहले 'वध' धातु का स्वतन्त्र रूप से प्रचलन था; किन्तु कालान्तर में उसका प्रयोग अति संकुचित हो गया। आ. लिङ् या लुङ् में ही प्रयोग रह गया, जिसका हन् को वधादेश करके काम चलाया जाने लगा ॥१२॥

प्रसंग :- अव गुणों का द्रव्य से वैधर्म्य दिखाते हैं -

उभयथा गुणाः ।। १३ ।।

[गुणाः] गुण [उभयथा] दोनों प्रकार के होते हैं ।

गुण दोनों प्रकार के देखे जाते हैं । कुछ गुण अपने कारण या कार्य को नष्ट कर देते है, कुछ नहीं भी करते । जैसे - हल्दी और चूने के कारणभूत पीत और श्वेत रूप, उनके कार्यरूप लाल रंग द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं । परन्तु कारणभूत तन्तु का रूप कार्यभूत पट के रूप द्वारा नष्ट नहीं होता ।

इसी प्रकार कारणभूत प्रथम शब्द, कार्यभूत अपने अनन्तर उत्पन्न हुए शब्द को नष्ट नहीं करता । किन्तु संयोग से उत्पन्न होने वाला कार्यरूप 'शब्द' अपने असमवायिकारण संयोग के स्थिर होने पर नष्ट हो जाता है ।।१३।।

प्रसङ्ग - द्रव्य और गुणों का परस्पर साधर्म्य एवं वैधर्म्य बताकर सूत्रकार कर्म का द्रव्य से वैधर्म्य और गुण से एक अंश में साधर्म्य बताते हैं -

कार्यविरोधि कर्म ।। १४ ।।

[कार्यविरोधि] कार्य है विरोधी जिसका, ऐसा [कर्म] कर्म है ।

'कार्यविरोधि' पद में बहुव्रीहि समास माना गया है । अर्थात् कर्म/क्रिया का नाशक उसका कार्य होता है । कर्म कारण या कार्य को नष्ट नहीं करता अपितु वह कर्म ही उसके संयोगादि कार्य के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है ।

क्रिया के द्वारा विभाग उत्पन्न होकर वस्तु के पूर्वदेशसंयोग के नाश के अनन्तर उत्तरदेशसंयोग उत्पन्न हो जाता है । उत्पन्न हुआ यह संयोग, अपने कारण गमन क्रिया (= कर्म) का नाश कर देता है । अर्थात् उत्तरदेशसंयोग हो जाने पर गमन-क्रिया नष्ट हो जाती है ।।१४।।

प्रसङ्ग :- द्रव्य, गुण, कर्म का साधर्म्य और वैधर्म्य वताकर, पुनः वैधर्म्य स्पष्ट करने के लिए पहले द्रव्य का लक्षण (=स्वरूप) वताते हैं -

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

[क्रियागुणवत्] क्रियावाला (= क्रिया का आश्रय) और गुणवाला (= गुणों का आश्रय) तथा [समवायिकारणम्] {अवयविद्रव्य (= कार्यद्रव्य), गुण एवं क्रिया (= कर्म) का} समवायिकारण होना [इति] यह [द्रव्यलक्षणम्] द्रव्य (पदार्थों) का लक्षण (= चिह्न) है ।

गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, अवयव-अवयवी, व्यक्ति-जाति, अन्त्यनित्यद्रव्य (=परमाणु) - विशेष; इन पाँच जोड़ों के नित्यसम्वन्ध को समवाय कहा जाता है । आगे कहेंगे - ''इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ।'' - (वैशे.७/२/२६)

जिस द्रव्य में समवाय सम्वन्ध से रहता हुआ कोई कार्य उत्पन्न होता है, वह द्रव्य उस कार्य का समवायिकारण होता है । कार्यस्य समवायोऽस्मिन्नस्ति इति समवायि । अर्थात् कार्य जिसमें समवेत रहे, वह 'समवायिकारण' कहाता है । द्रव्य, गुण, कर्म - इन तीनों का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है । वही कार्य-कारण प्रसंग में कारण द्रव्य, कार्यद्रव्य का उपादान-कारण (Material Cause) कहलाता है । वह कार्य जिस सामग्री से वना है, वह सामग्री उस द्रव्य का उपादान है ।

क्रिया और गुण, द्रव्य में ही होते हैं । द्रव्य को छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रह सकते और न गुण या कर्म में रह सकते हैं । अर्थात् क्रियावाला, गुणवाला तथा समवायिकारण होना द्रव्यों का साधर्म्य तथा अन्य सव पदार्थों का वैधर्म्य है ॥१५॥

प्रसङ्ग :- अव गुण का लक्षण अथवा गुण का द्रव्य और कर्म से वैधर्म्य कहते हैं -

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

[द्रव्याश्रयी] द्रव्य में आश्रय लेने का जिसका स्वभाव हो, [अगुणवान्] जो स्वयं गुण का आश्रय न हो, [संयोगविभागेषु] संयोग और विभागों में [अनपेक्षः] (अन्य किसी की) अपेक्षा न करता हुआ, [अकारणम्] (जो) कारण न हो - [इति] यह [गुणलक्षणम्] गुण (नामक पदार्थ का (सामान्य) लक्षण (=चिह्न) है ।

यहाँ 'द्रव्याश्रयी' पद में तच्छील-अर्थ में णिनि है । और 'अगुणवान्' में मत्वन्त से नञ्-तत्पुरुष है । सूत्र में 'द्रव्याश्रयी' कहकर मूलकारणद्रव्य से वैधर्म्य दिखाया है । 'अगुणवान्' कहकर कार्यद्रव्य से और 'संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षम्' कहकर कर्म से वैधर्म्य दिखाया है । क्योंकि कर्म तो संयोग और विभाग का अनपेक्षकारण (असमवायिकारण) होता है ।

संयोग-विभाग में गुणकारण नहीं होता; किन्तु अन्य गुणों में तो गुण कारण होता है । जैसे - संयोग से विभाग से और शब्द से (ध्वनिरूप) शब्द की उत्पत्ति होती है ।

'अनपेक्षः' कहने से जो 'हस्त-पुस्तक-संयोग' है, वह 'शरीर-पुस्तक-संयोग' का तथा जो 'हस्त-पुस्तक-विभाग' है, वह 'शरीर-पुस्तक-विभाग' का कारण होता है । इसमें संयोग और विभाग रूप गुण के प्रति लक्षण का अव्याप्ति-दोष नहीं होता; क्योंकि यह 'शरीर-पुस्तक' का संयोगज संयोग 'अंगांगिभाव' की अपेक्षा से हुआ है । यदि हाथ, शरीर का अंग न होता, तो बिना कर्म के शरीर का पुस्तक से संयोग अथवा विभाग न होता । अर्थात् गुण संयोग और विभाग का सापेक्ष कारण तो हो सकता है; अनपेक्ष कारण नहीं ॥१६॥

किस द्रव्य में कितने गुण हैं, उसका संकलन किसी विद्वान् ने इस श्लोक में किया है -

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः,

जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।

दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे,

महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥

अर्थात् वायु के नौ; तेज (=अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथिवी और जीवात्मा के चौदह-चौदह; दिशा के पाँच; काल के पाँच; आकाश के छह; परमेश्वर और मन के आठ-आठ गुण माने जाते हैं । इस विभाजन को समझने के लिए गुणों को इस क्रम से रखना चाहिए -

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व (स्वाभाविक, नैमित्तक), गुरुत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (=भावना, वेग, स्थिति-स्थापक), शब्द।

वायु के ९ गुण = स्पर्श से अपरत्व तक आठ और नौवाँ वेग नामक संस्कार ।

तेज के ११ = रूप - द्रवत्व (नैमित्तिक) (१०) + वेग-संस्कार ।

जल के १४ = रस - स्नेह १३ + वेग - संस्कार । द्रवत्व सांसिद्धिक है ।

पृथिवी के १४ = गन्ध-गुरुत्व १३ + संस्कार (-वेग, स्थितिस्थापक) । द्रवत्व नैमित्तिक है ।

जीवात्मा के १४ - संख्या - विभाग ५ + बुद्धि - संस्कार ९ (-भावना) तक ।

= दिशा के ५ संख्या - विभाग ।

= काल के ५ संख्या - विभाग

आकाश के ६ = संख्या - विभाग ५ + शब्द ।

महेश्वर के ८ = संख्या - विभाग ५ + बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न ये ३ ।

मन के ८ - संख्या - अपरत्व ७ + वेग -संस्कार ।

गुणों के क्रम से विभाजन -

गन्ध - केवल पृथिवी में ।

रस - पृथिवी और जल में ।

रूप - पृथिवी, जल और तेज में ।

स्पर्श - पृथिवी, जल, तेज और वायु में ।

संख्या से विभाग तक ५ - सब द्रव्यों में ।

परत्व, अपरत्व - विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सब में ।

द्रवत्व - जल में (सांसिद्धिक) पृथिवी और तेज में नैमित्तिक) ।

गुरुत्व - पृथिवी और जल में ।

स्नेह (- गीला करके मिलाना -) - केवल जल में ।

बुद्धि से भावना (-संस्कार) तक - जीवात्मा में ।

बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न - जीवात्मा और परमात्मा दोनों में ।

स्थितिस्थापक संस्कार - केवल पृथिवी में ।

शब्द - आकाश में ॥

प्रसङ्ग :- द्रव्य और गुण का लक्षण बताने के अनन्तर सूत्रकार पूर्वोद्दिष्ट कर्म का लक्षण या उसका द्रव्य और गुणों से वैधर्म्य बताते हैं -

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

[एकद्रव्यम्] एक (ही) द्रव्य में आश्रित, [अगुणम्] गुण का अनाश्रय, [संयोगविभागेषु] संयोग और विभागों (को उत्पन्न करने) में [अनपेक्षकारणम्] अन्य की अपेक्षा न रखते हुए कारण होना, [इति] यह [कर्मलक्षणम्] कर्म (नामक पदार्थ) का लक्षण (=चिह्न) है ।

अवयवी द्रव्य अपने सारे अवयवों में आश्रित रहता है; संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्या इत्यादि अनेक गुण भी अनेक द्रव्यों के आश्रय से रहते हैं; किन्तु कर्म (=क्रिया) कभी अनेक द्रव्यों में आश्रित नहीं रहता । जैसे - जब गाड़ी दौड़ती है, तव गाड़ी में अपना कर्म अलग होता है और सवारों में अपना अलग । इसलिए यदि दौड़ती हुई गाड़ी सहसा रोक दी जाती है, तो सवार आगे गिर पड़ते हैं । यह द्रव्य और गुणों से कर्म का वैधर्म्य है, तथा कर्मों का परस्पर साधर्म्य ।

'अगुणम्' यह लक्षण द्रव्य से वैधर्म्य तथा गुण, कर्म दोनों का साधर्म्य है ।

'संयोग और विभाग की उत्पत्ति मे अनपेक्ष कारण होना' - यह कर्म का गुण से वैधर्म्य है; क्योंकि गुण अनपेक्षकारण नहीं होता ॥ १७ ॥

प्रसङ्ग :- द्रव्य, गुण, कर्म का लक्षण या उनका परस्पर वैधर्म्य वताकर अव तीनों का साधर्म्य (=समानधर्म) का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं -

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

[द्रव्यगुणकर्मणाम्] ९ द्रव्य, २४ गुण तथा ५ कर्मों का [द्रव्यम्] द्रव्य, [सामान्यम्] समानरूप से [कारणम्] (समवायि-) कारण है ।

जिस प्रकार द्रव्य, द्रव्य का समवायि (=नित्य) कारण होता है; वैसे ही गुणों और कर्मों का भी समवायिकारण होता है ।

यदि कारण द्रव्य भी किसी का कार्य है, तो उसका उपादान कारण, समवायिकारण होगा और उसका भी परम्परागत कारण द्व्यणुक तथा अन्तिम कण=परमाणु केवल समवायिकारण ही होते हैं ।

जैसे - वस्त्र के अवयव तन्तु हैं । तन्तु वस्त्र के समवायिकारण हैं । तन्तु के अवयव अंशु (=रेशे) तन्तु (=धागे) के समवायिकारण हैं । अंशु के और छोटे-छोटे रेशे उनके समवायिकारण हैं । इस कारण परम्परा से द्व्यणुक के अवयव दो परमाणु द्व्यणुक के समवायिकारण हैं । इस प्रकार स्थूल से द्व्यणुक तक प्रत्येक अवयव और अवयवी हैं । परन्तु दो परमाणु (=पृथिवी आदि के अन्तिम कण) केवल अवयव हैं । पृथिवी आदि के अन्तिम कण (=परमाणु) तक प्रतिपादन करना ही इस वैशेषिक शास्त्र का लक्ष्य है । उसके भी सूक्ष्म अवयवों का प्रतिपादन करना सांख्य आदि शास्त्रों का लक्ष्य है ॥ १८ ॥

प्रसंग :- द्रव्यों के साधर्म्य के साथ सूत्रकार गुणों का भी साधर्म्य वताते हैं -

तथा गुणः ॥ १९ ॥

[तथा] वैसे ही [गुणः] गुण (भी) (द्रव्य, गुण और कर्म का असमवायिकारण) होता है ।

जैसे द्रव्य, गुण, कर्म-तीनों का द्रव्य समान कारण है; वैसे ही गुण भी द्रव्य, गुण, कर्मों का समान कारण है । भिन्नता इतनी है, कि द्रव्य तीनों का समवायिकारण है, किन्तु गुण असमवायिकारण ।

यथा - कारणरूप अवयव-द्रव्यों का **संयोग**, समस्त कार्य-द्रव्यों का असमवायिकारण है ।

आत्ममनःसंयोगरूप गुण (=असमवायिकारण) से बुद्धि (=ज्ञान), सुख, दुःख आदि आत्मगत गुणों की उत्पत्ति होती है। गुरुत्व, द्रवत्व, वेग एवं स्थितिस्थापक संस्कार अधःपतन, गति आदि कर्मों के 'असमवायिकारण' होते हैं। इसी प्रकार जलादि के बहाव (=गति) रूप कर्म में द्रवत्व; फेंके हुए लोष्ठ, गेंद आदि की अगली क्रियाओं में वेग; झुकाकर छोड़ी हुई टहनी के यथावस्थित होने में 'स्थितिस्थापक संस्कार' असमवायिकारण होते हैं।

कुछ व्याख्याताओं द्वारा निर्दिष्ट 'तथा' के स्थान पर 'उभयथा' इस पाठान्तर के हेतु आसानी से कट जाते हैं। अतः यहाँ प्रदत्त पाठ ही समीचीन है। 'तथा' कहने से सूत्रकार का इतना ही तात्पर्य है, कि जैसे कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य है; ऐसे ही कार्यमात्र का असमवायिकारण गुण है। जैसा कि आगे कहा है - **'कारणं त्वसमवायिनो गुणाः'**- (५/२/२४) ॥१९॥

प्रसङ्ग :- द्रव्य और गुणों का साधर्म्य वताकर अव कर्म का साधर्म्य दिखाते हैं -

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ २० ॥

[संयोगविभागवेगानाम्] संयोग, विभाग और वेग - (इन तीन गुणों) का (कर्म) कर्म [समानम्] समानरूप से (असमवायिकारण) है।

सव पदार्थों का समवायिकारण तो द्रव्य ही होता है। किन्तु असमवायिकारण, गुणों से अतिरिक्त कुछ पदार्थों का कर्म भी होता है। वे इस सूत्र में गिना दिये हैं। इनका असमवायिकारण गुण नहीं होता।

विभक्त (=अलग-अलग) पदार्थों का एकत्रित (=सहभाव) होना 'संयोग', संयुक्तों का अलग-अलग होना 'विभाग' तथा जिससे कोई वस्तु एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चली जाती है उस संस्कार-गुण का नाम 'वेग' है।

जैसे - किसी वस्तु को पकड़ने (-कर्म) से 'संयोग' और फेंकने (-कर्म) से 'वियोग' एवं 'वेग (-संस्कार)' उत्पन्न होते हैं। धनुप पर वाण रखने से 'संयोग' और डोरी खींचकर छोड़ देने पर धनुप से वाण का 'वियोग' एवं 'वेग(-संस्कार)' उत्पन्न होते हैं। अतः इन तीनों गुणों का 'असमवायिकारण' कर्म ही है ॥२०॥

प्रसङ्गः - जिस प्रकार कर्म संयोग, विभाग और वेग का असमवायिकारण होता है, क्या उसी प्रकार द्रव्य का भी असमवायिकारण हो सकता है ? क्योंकि क्रिया कार्यद्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान तो होती है। इस शंका का समाधान करते हैं-

न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

[कर्म] कर्म (-पदार्थ) [द्रव्याणाम्] द्रव्यों का (कारण) [न] नहीं होता।

सूत्र सं. १८ से 'कारणम्' की अनुवृत्ति आती है। कर्म कार्यद्रव्य का न समवायिकारण होता है, न असमवायिकारण और न निमित्तकारण ही। यहाँ पूर्वसूत्र को ध्यान में रखकर कर्म की असमवायिकारणता का निषेध समझना चाहिए ॥ २१ ॥

प्रसंङ्ग :- हम तो लोक में स्पष्ट देखते हैं, कि कर्म से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति होती है, फिर आप कर्म को द्रव्य का कारण क्यों नहीं मानते ? इस शंका का उत्तर देते हैं -

व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

[व्यतिरेकात्] (द्रव्योत्पत्ति से पूर्व ही कर्म के) निवृत्त हो जाने (=हट जाने) से (कर्म द्रव्य का कारण नहीं हो सकता)।

यद्यपि कर्म कार्यद्रव्य से पूर्व विद्यमान होता है, किन्तु अवयवद्रव्य - संयोग

को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है । अतः द्रव्योत्पत्तिकाल में कर्म का अभाव हो जाने से वह द्रव्य का असमवायिकारण नहीं हो सकता ।

भले ही परम्परा से वह द्रव्य का कारण हो, किन्तु साक्षात् कारण नहीं होता, यही सूत्रकार का लक्ष्य है ।

वस्तुतः कार्यद्रव्य के प्रति द्रव्य और गुण ही कारण होते हैं । द्रव्य समवायिकारण और गुण असमवायिकारण होता है ॥ २२ ॥

प्रसंग - कार्यद्रव्य का समवायिकारण कारणद्रव्य होते हैं, और वे अनेक होते हैं, तो क्या उनका कार्य भी अनेकरूप होता है ? - इस शंका का समाधान करते हैं -

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

[द्रव्याणाम्] अनेक (= दो या बहुत) द्रव्यों का [द्रव्यम्] एक द्रव्य [कार्यम्] कार्य होता है [सामान्यम्] यह साधर्म्य (=साधारण=सामान्य) है ।

यह द्रव्यों का साधर्म्य है, कि दो या अधिक अवयवों से मिलकर जो कार्यद्रव्य बनता है, वह एक द्रव्य (= अवयवी) होता है ।

यथा - दो अवयवों का गोल कलश, गैंद, द्व्यणुकादि अवयवी बनते हैं । तथा बहुत से तन्तुओं से वस्त्र या ईंटों से भवन, मृत्कणों से कपाल या अन्य पात्र बनता है ।

यह अवयवी द्रव्य, अवयवों का ढेर मात्र नहीं होता, अपितु इसकी स्वतन्त्र सत्ता और व्यावहारिकता होती है । लोक में किसी वस्तु का लाना, ले जाना, उठाना, खींचना आदि व्यवहार 'अवयवी' के आधार पर ही सम्भव हैं । घट का एक किनारा पकड़कर उठा लेते हैं अथवा वस्त्र का एक किनारा पकड़कर खींच लेते

हैं। यह व्यवहार भी होता है, कि मैं वा अन्य वस्त्र वा गाड़ी को खींच रहे हैं। अतः कार्यद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता और व्यवहार है ॥ २३ ॥

प्रसंग :- क्रमप्राप्त 'गुणों का कार्य गुण' तो आगे विस्तार से वताएंगे। संक्षिप्त विषय होने से (-सूची-कटाह न्याय से) सूत्रकार आचार्य यह वताते हैं, कि 'द्रव्यों का कार्य द्रव्य' तथा 'गुणों का कार्य गुण' के समान 'कर्मों का कार्य कर्म' नहीं होता -

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

[कर्मणाम्] कर्मों का [कर्म] कर्म [न] (कार्य) नहीं होता [गुणवैधर्म्यात्] (द्रव्य तथा) गुण के विरुद्ध धर्म होने से।

बहुत से कर्मों का भी कार्य 'कर्म' नहीं होता; क्योंकि कर्म का द्रव्य और गुण से विरुद्ध स्वभाव होता है। कर्मों का स्वभाव अस्थिर या क्षणिक होता है। अस्थिर वा क्षणिकों का कार्यरूप में मिश्रण सम्भव नहीं। किन्तु द्रव्यों और गुणों के स्थिर होने से उनका कार्यरूप में मिश्रण सम्भव है।

'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' (१/१/११) में कारणसामान्य की दृष्टि से कहा है, कि कर्म, कर्म का कारण नहीं होता। यहाँ कार्य-सामान्य की दृष्टि से कहा, कि अनेक कर्मों का भी एक कर्म कार्य नहीं होता। अतः यहां पुनरुक्ति दोष नहीं है। अथवा अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से उसी अर्थ को यहाँ दुहरा दिया है।

अर्थात् जैसे अनेक तन्तु एक वस्त्र को या अनेक मृत्कण एक घट को उत्पन्न करते हैं तथा तन्तुओं के हरित, नील, पीत आदि रूप, पट में एक 'चित्ररूप' उत्पन्न करते हैं; वैसे अनेक कर्म एक कर्म को उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि इस विषय में कर्म का दोनों से वैधर्म्य है।

कारण के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए, कि **द्रव्य** - कार्यमात्र (द्रव्य, गुण, कर्म तीनों) का समवायिकारण (Constituent Cause or intimate cause) होता है ।

गुण, कर्म - कार्य के असमवायिकारण (Non Intimate cause or Accidental cause) होते हैं ।

आत्मा के विशेष-गुण बुद्धि (=ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (=भावना), संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग - इन चौदह में से पहले ९ कहीं भी असमवायिकारण नहीं होते । किन्तु जहाँ कारण होते हैं, तो निमित्तकारण (Efficient cause or motive cause) ही होते हैं ।

कर्म - द्रव्यों का असमवायिकारण न होकर कुछ संयोगादि गुणों का ही असमवायिकारण होता है ।

कार्यों के अन्य कारण जो समवायिकारण या असमवायिकारण की परिभाषा में नहीं आते, वे **निमित्तकारण** कहे जाते हैं । जैसे - पट कार्य के प्रति तन्तु समवायिकारण, तन्तुओं का परस्पर संयोग असमवायिकारण तथा अकाश, काल, दिशा, तन्तुवाय (=जुलाहे) की भावना व प्रयत्न, तुरी-तन्तु-संयोग, संयोग का जनक कर्म ये सब निमित्त-कारण हैं ।

द्रव्य, गुण, कर्म के परस्पर कार्य-कारण भाव को ध्यान में रखने से इस शास्त्र को समझने में सुविधा होती है ॥२४॥

प्रसङ्ग - पिछले सूत्रों में बताया है, कि अनेक द्रव्यों से एक द्रव्य और अनेक गुणों से एक गुण उत्पन्न होता है । अब बताते हैं, कि कुछ गुण भी ऐसे हैं, जो अनेक द्रव्यों से मिलकर (एक गुणरूप में) उत्पन्न होते हैं -

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ।। २५ ।।

[द्वित्वप्रभृतयः] दो आदि (=दो से लेकर परार्ध=दस शंख पर्यन्त) [संख्याः] गिनतियाँ [पृथक्त्वसंयोगविभागाः] पृथक्त्व, संयोग और विभाग (अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, एक से नहीं) ।

सूत्र सं. २३ से यहाँ 'द्रव्याणां कार्यम्' की अनुवृत्ति आती है ।

एक संख्या को छोड़कर सभी दो, तीन आदि संख्याएँ तथा पृथक्त्व आदि गुण अनेक द्रव्यों में ही अपना अस्तित्व पाते हैं अर्थात् इन सबका 'समवायिकारण' अनेक द्रव्य होते हैं । जबकि ये सब कार्य गुण एक-एक हैं । ये सभी कार्य गुण एक-एक कारण द्रव्य में सम्भव नहीं । ये गुण **'व्यासज्यवृत्ति'** कहलाते हैं, जो अनेक मिलित द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं ।। २५ ।।

प्रसंग :- क्या पूर्वसूत्रोक्त द्वित्वादि के समान व्यासज्यवृत्ति से एक कर्म भी अनेक द्रव्यों का कार्य होता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ।। २६ ।।

[असमवायात्] (दो या अनेक द्रव्यों में एक कर्म के) समवाय-सम्बन्ध से युक्त न होने के कारण [सामान्यकार्यम्] अनेक द्रव्यों का एक कार्य [कर्म] कर्म [न] नहीं [विद्यते] जाना जाता है ।

जो द्रव्यों और कतिपय गुणों का साधर्म्य 'अनेक-द्रव्यारभ्यत्व' (=व्यासज्यवृत्तित्व) बताया है, उनके साथ कर्मों का वैधर्म्य है । अर्थात् अनेक द्रव्यों में एक कर्म नहीं होता ।

गतसूत्र (१/१/१७) में भी कह चुके हैं, कि एक कर्म एक द्रव्य में ही आश्रित रहता है ।। २६ ।।

प्रसंग :- सूत्रकार पुनः अनेकों का एक कार्य द्रव्य दिखाते हैं -

संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

[संयोगानाम्] दो अथवा बहुत से संयोगों का [द्रव्यम्] (कार्य एक) द्रव्य होता है।

यहाँ सूत्र २६ से 'सामान्यकार्यम्' की अनुवृत्ति है।

सूत्र के 'संयोगानाम्' पद में द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त की एकशेष - वृत्ति है। गता सूत्रों (१८, २३) में बता चुके हैं, कि एक (अवयवी-) द्रव्य के अवयवरूप अनेक द्रव्य समवायिकारण होते हैं। यहाँ यह बताया कि एक अवयवि-द्रव्य का असमवायिकारण उसके अनेक अवयव-द्रव्यों के अनेक संयोग होते हैं।

जैसे अनेक तन्तु-संयोगों से एक पट, अनेक मृत्कणों के संयोगों का एक घटादि तथा अनेक पार्थिवादि-अणुसंयोगों का एक पृथिवी आदि स्थूलभूत बनता है ॥ २७ ॥

प्रसंग :- जिस प्रकार अनेक संयोग-गुण एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, क्या उसी प्रकार अनेक गुण एक गुण को उत्पन्न करते हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

[रूपाणाम्] (श्वेत, लाल, नील, पीत आदि अनेक) रूपगुणों का [रूपम्] एक रूपगुण (कार्य होता है)।

यहाँ भी सू.२६ से 'सामान्यकार्यम्' की अनुवृत्ति है।

यथा - वस्त्र का नीला, पीला आदि रूप सब तन्तुओं के नीले, पीले आदि रूपों का कार्य हैं। अर्थात् अवयवों के नीलादि रूपगुण अवयवी के नीलादि रूपगुण

के असमवायिकारण है । यदि सौ पीले तन्तुओं से एक पीला वस्त्र बना है, तो सौ पीले तन्तुओं के सौ रूप पीले वस्त्र के एक पीले रूप गुण के असमवायिकारण हैं । अथवा अनेक रूपगुणों से यदि एक चित्ररूप का वस्त्र बना है, तो अनेक रूप वस्त्र के एक चित्ररूप के असमवायिकारण हैं ।

सूत्रगत 'रूपाणां' पद कुछ अन्य गुणों - रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, एकत्व, एकपृथक्त्व, परिणाम, वेग, स्थितिस्थापक, गुरुत्व का भी उपलक्षण है । अर्थात् अनेक रस, गन्ध आदि गुण भी एक अवयवी कार्यरूप रस, गन्ध आदि गुण के असमवायिकारण होते हैं ।। २८ ।।

प्रसंग :- जैसे अनेक गुणों का कार्य एक गुण होता है, वैसे ही क्या अनेक गुणों का एक कार्य कर्म भी होता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ।। २९ ।।

[गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानाम्] गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग - इन तीन गुणों का [उत्क्षेपणम्] उत्क्षेपण (=ऊपर फैंकना) कर्म (एक कार्य है) ।

यहाँ भी सूत्र २६ से 'सामान्यकार्यम्' की अनुवृत्ति है । उक्त तीनों गुणों के सम्मिलित सहयोग से उत्क्षेपण कर्म हो पाता है । यथा -

'गुरुत्व(=भार-) हीन वस्तु को ऊपर फैंकना सम्भव नहीं है । फैंकने वाले के 'प्रयत्न' के विना भी यह कार्य सम्भव नहीं होगा । फैंकने वाले व्यक्ति के हाथ आदि का वस्तु के साथ 'संयोग' होना भी उत्क्षेपण - क्रिया में आवश्यक है ।

इस प्रकार पाषाणादि किसी उत्क्षेप्य (=फैंकी जाने वाली) वस्तु के उत्क्षेपण कर्म में उत्क्षेप्य वस्तु का 'गुरुत्व, उत्क्षेपक व्यक्ति का 'प्रयत्न' और उत्क्षेप्य-उत्क्षेपक का परस्पर 'संयोग' - ये तीनों गुण कारण होते हैं ।

यहाँ गुरुत्वयुक्त पाषाणादि वस्तु 'समवायिकारण' गुरुत्व तथा संयोग गुण 'असमवायिकारण' और आत्मप्रयत्न 'निमित्तकारण' समझना चाहिए।

सूत्र का 'उत्क्षेपण' पद यहाँ अवक्षेपणादि कर्मों का उपलक्षण (=सूचक) है ॥ २९ ॥

प्रसंग :- क्या द्रव्यों और गुणों के समान कर्मों का भी कोई कार्य होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥ ३० ॥

[संयोगविभागाः] संयोग, विभाग [च] और (वेग) [कर्मणाम्] (दो या बहुत) कर्मों के (कार्य हैं)।

यहाँ भी सूत्र २६ से 'सामान्यकार्यम्' की अनुवृत्ति है। गतसूत्र (१/१/२०) में संयोग, विभाग और वेग का असमवायिकारण कर्म बताया है। यहाँ प्रकारान्तर से कहा है, कि 'संयोगादि' कर्म के कार्य हैं। अतः यह पुनरुक्ति दोष नहीं, किन्तु स्पष्टता के लिए है।

सूत्र में 'च' पद से 'वेग' गुण का ग्रहण समझना चाहिए। 'कर्मणाम्' पद के पूर्ववत् एकशेष वृत्ति से 'दो या बहुत कर्मों के'-अर्थ हैं ॥३०॥

प्रसङ्ग :- क्यों जी ! आपने गतसूत्रों (१/१/११, २१, २४) में तो कर्म को अकारण कहा है और पिछले सूत्र (१/१/२०, ३०) में कारण बता रहे हैं; क्या यह विरोधाभास नहीं है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥ ३१ ॥

[कारणसामान्ये] साधारण रूप से कारण (वताये जाने वाले प्रकरण) में [द्रव्यकर्मणाम्] द्रव्यों और कर्मों का [कर्म] कर्म [अकारणम्] अकारण (=कारण न होना) [उक्तम्] कहा गया है ।

पिछले कार्य-कारण के प्रकरण में यह नहीं कहा कि कर्म किसी का भी कारण नहीं होता, अपितु वहाँ केवल यही कहा है, कि कर्म द्रव्य का और कर्म का कारण नहीं होता । संयोग, विभाग और वेग का तो कारण होता ही है ॥ ३१ ॥

मेयोद्देशो विभागोऽथ सामान्यं च विशेषकम् ।
अर्थस्य लक्षणं चास्मिन्नाह्निके सम्प्रकीर्तितम् ॥ - (स्वा. हरिप्रसादः)

अर्थात् इस आह्निक में प्रमेय पदार्थों के नाम, विभाग, सामान्य-विशेष और अर्थ का लक्षण वताया गया है ॥

इति वैशेषिकानन्दभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

प्रसङ्ग : पहले आह्निक में शास्त्र के विषयों का उद्देश और द्रव्य, गुण, कर्म का लक्षण वताकर कारणसामान्य तथा कार्य-सामान्य दिखाया । अब कार्य और कारण का परस्पर सम्वन्ध दिखाते हैं -

कारणाभावात् कार्याभावः ॥ १ ॥ (३२)

[कारणाभावात्] (समवायि, असमवायि और निमित्त सभी प्रकार के) कारण के अभाव (=अविद्यमानत्व) से [कार्याभावः] कार्य का अभाव (=अप्रादुर्भाव) होता है ।

कारण के होने पर ही कार्य की निष्पत्ति (=सिद्धि=उत्पत्ति) हो सकती है,

अन्यथा नहीं । जैसे - तन्तु, तुरी, वेमा, तन्तुवाय आदि के विना वस्त्र अथवा मृत्तिका, चक्र, पानी, दण्ड, सूत्र, कुम्हार आदि के विना घटादि नहीं वनते ।

इस प्रकार कार्य का अभाव करना हो तो कारण का अभाव (=विनाश) करना आवश्यक है । यथा-दुखों से नितान्त छुटकारा (=अपवर्ग) पाना हो तो संसार में जन्मोत्पत्ति से वचना होगा । जन्मोत्पत्ति से वचने के लिए प्रवृत्ति (=पाप-पुण्य रूप कर्मों) को छोड़ना होगा (केवल कर्त्तव्यरूप में निष्काम कर्म ही करने होंगे)। प्रवृत्ति छूटेगी दोष (=राग-द्वेष-मोह) के छूटने से और दोष को छोड़ने का उपाय है, उसके कारणभूत मिथ्याज्ञान को छोड़ना । तभी अपवर्ग (=मोक्ष) सम्भव है ।

प्रत्येक कार्य के अनेक कारण होते हैं । कोई समवायी, कोई असमवायी और कोई निमित्त ।

जैसे घट के निर्माण में मृत्कण समवायिकारण; मृत्कणों का परस्पर संयोग असमवायिकारण; अन्य चक्र, दण्ड, सूत्र, जल, कुम्भकार का प्रयत्न आदि सव निमित्तकारण कहलाते हैं । इन सव कारणों में से एक के भी अभाव से कार्य (=घट आदि) सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार अन्यत्र समझ सकते हैं ॥ १ ॥

प्रसंग :- जैसे कारण के अभाव में कार्य का अभाव रहता है, तो क्या यह भी सम्भव है, कि कार्य के अभाव मे कारण का भी अभाव रहे ? सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ २ ॥ (३३)

[तु] परन्तु [कार्याभावात्] कार्य का अभाव होने से [कारणाभावः] कारण का अभाव [न] नहीं होता ।

कार्य के अभाव में भी कारण अपने स्वरूप में रहता ही है । जैसे - घट न

होने पर भी मिट्टी; वस्त्र न होने पर भी तन्तु; वृष्टि न होने पर भी मेघ; सन्तान न होने पर भी स्त्री-पुरुष आदि अपने स्वरूप में रहते ही हैं ।

शंका - जब कार्य उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो ये सब (तन्तु, मिट्टी आदि) किसके कारण माने जाएंगे ? अतः कार्य के अभाव में कारण भी नहीं माना जा सकता ।

समा. - इन सब कारणों में कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है । इसीलिए कार्योत्पादन के लिए इन्हीं को ग्रहण किया जाता है । अतः कार्य उत्पन्न न होने पर भी इनको कारण कह सकते हैं ।

इसी प्रकार कभी सामयिक दुःख के अभाव में यह नहीं मान लेना चाहिए, कि दुःख का कारण भी नहीं है । दुःख का नितान्त अभाव ही कृतार्थता है, और वह कारण के नितान्त अभाव में ही सम्भव है, अन्यथा नहीं ।। २ ।।

प्रसंग :- प्रथम आह्निक के चतुर्थ सूत्र में उद्दिष्ट छह पदार्थों में से द्रव्य, गुण, कर्म - इन तीनों के लक्षण तथा साधर्म्य-वैधर्म्य, कार्य-कारण आदि बताकर अब सामान्य और विशेष का लक्षण करते हैं -

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ।। ३ ।। (३४)

[सामान्यम्] सामान्य और [विशेषः] विशेष [इति] ये (दो पदार्थ) [बुद्ध्यपेक्षम्] (अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप-) बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं ।

जो पदार्थ बहुतों से सम्बन्ध रखे, वह अनुवृत्ति-बुद्धि वाला 'सामान्य' और जो थोड़ों से सम्बन्ध रखे वह व्यावृत्तिबुद्धिवाला पदार्थ 'विशेष' कहाता है । जैसे - 'पशुत्व' सभी प्रकार के पशुओं के साथ अनुवृत्त (=विद्यमान) है; किन्त गोत्व, गो-पशु तक सीमित है । उसे अन्य पशुओं से अलग करने वाला है ।। ३ ।।

प्रसङ्ग :- अव आचार्य स्वयं यह दिखाते हैं, कि सामान्य और विशेष वुद्धि की अपेक्षा से कैसे होते हैं -

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ ४ ॥ (३५)

[भावः] सत्ता [अनुवृत्तेः] अनुवृत्ति (-वुद्धि) के [एव] ही [हेतुत्वात्] हेतु (=कारण) से [एव] केवल [सामान्यम्] सामान्य (शव्द - वाच्य) है ।

द्रव्य है, गुण है, कर्म है - इन सव में 'है, है' - ऐसा अस्तित्व विद्यमान होने के कारण इस अस्तित्व (=भाव) को केवल सत्ता (=महासत्ता = पर सत्ता) कहते हैं ।

अर्थापत्ति से यह निकला, कि 'व्यावृत्तेरेव हेतुत्वाद् विशेष एव' अर्थात् व्यावृत्ति वुद्धि के हेतु से विशेष ही होता है । और जहाँ कभी अनुवृत्तिवुद्धि हो कभी व्यावृत्तिवुद्धि हो वहाँ सामान्य और विशेष दोनों होते हैं । इसी को अपर-सामान्य (=अपर-सत्ता) कहते हैं ।

यथा - प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व है, चाहे वह द्रव्य हो, गुण हो, या कर्म हो । द्रव्य है, पृथिवी है, घट है । गुण है; रूप है, रस है; खट्टा है, मीठा है, लाल है, पीला है । कर्म है, उत्क्षेपण है, गमन है - इत्यादि ।

द्रव्य पदार्थ पृथिवी आदि ९ में अनुवृत्त है; किन्तु गुण, कर्म से व्यावृत्त (=पृथक्) है । यथा - पृथिवी द्रव्य है, जल द्रव्य है, तेज द्रव्य है । किन्तु वह द्रव्य गुण नहीं, रूप नहीं, रस नहीं; गन्ध नहीं; कर्म नहीं, उत्क्षेपण नहीं, अवक्षेपण नहीं इत्यादि ।

इसी प्रकार **गुण** - रूप गुण है, रस गुण है, किन्तु वह द्रव्य - पृथिवी, आप आदि नहीं; कर्म - उत्क्षेपणादि नहीं ।

कर्म - उत्क्षेपण कर्म है, अवक्षेपण कर्म है । किन्तु वह गुण - रूप, रसादि नहीं; द्रव्य - पृथिवी, जल आदि नहीं । इस प्रकार के अनुवृत्ति और व्यावृत्ति-बुद्धि से सम्बद्ध सामान्य को 'अपर-सामान्य' कहते हैं ।

'गमन' - सामान्य-क्रिया के घूर्णन, भ्रमण, पतन, स्यन्दनादि विशेष होते हैं । गुण-सामान्य का रूप गुण; रूप गुण की पीली या श्वेत वस्तु विशेष है ।

द्रव्यत्व - सामान्य का आकाश (भेद न होने से) विशेष है और पृथिवीत्व -सामान्य के घटत्व आदि, अपर - सामान्य का घट-व्यक्ति (=एक स्वतन्त्र घट) विशेष है ।। ४ ।।

प्रसंग :- इसी विषय को आचार्य स्पष्ट करते हैं, कि कौन से धर्म 'सामान्य' होते हुए भी 'विशेष' कहे जाते हैं -

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ।। ५ ।। (३६)

[द्रव्यत्वम्] द्रव्यत्व [गुणत्वम्] गुणत्व [कर्मत्वम्] कर्मत्व [च] तथा (अन्य पृथिवीत्वादि, रूपत्वादि और गमनत्वादि जातियाँ) ये [सामान्यानि] (अनुवृत्तिबुद्धि के कारण होने से) सामान्य (भी) है [च] और [विशेषाश्च] (व्यावृत्तिबुद्धि के कारण होने से) विशेष भी हैं ।

द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणों में गुणत्व तथा कर्मों में कर्मत्व की अनुवृत्ति होने से ये सामान्य हैं, किन्तु सत्ता-सामान्य की अपेक्षा से विशेष हैं । इस प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व सामान्य भी हैं और विशेष भी । इसी को अपर-सामान्य कहते हैं ।। ५ ।।

प्रसङ्ग :- एक ही पदार्थ में सामान्य होना तथा विशेष होना, यह सार्वत्रिक नियम नहीं है । किन्तु -

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥ ६ ॥ (३७)

[अन्त्येभ्यः] अन्त में होने वाले [विशेषेभ्यः] विशेषों से [अन्यत्र] अन्यत्र (पूर्वसूत्रोक्त सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का होना समझना चाहिए)।

अन्ते भवम् = अन्त्यम्। जिस अन्तिम कार्यरूप पदार्थ से आगे अन्य कार्यरूप पदार्थ उत्पन्न न हो सके उसे अन्त्य - विशेष कहते हैं।

पूर्वसूत्र में जो द्रव्यत्वादि को सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का होना कहा है, वह सार्वत्रिक नियम नहीं, किन्तु अन्त्यविशेषों से अन्यत्र समझना चाहिए।

वे अन्त्य विशेष हैं - द्रव्यों में पृथिवी आदि के भी घटत्व, पटत्व आदि। गुणों में रूपादि के श्वेतत्व, पीतत्वादि। कर्मों में उत्क्षेपणादि। और गमन के भ्रमण, वमन, विरेचन, घूर्णन आदि।

जिस प्रकार 'सत्ता' सदा सामान्य ही होती है, विशेष नहीं; उसी प्रकार अन्त्य विशेष - घटत्व, पटत्व, श्वेतत्व, लवणत्व; उत्क्षेपणत्व, घूर्णन आदि भी विशेष ही विशेष होते हैं, सामान्य नहीं, क्योंकि इनके अन्य अवान्तर विभाग नहीं होते। हाँ, इनके धर्मलक्षणावस्थापरिणाम तो हो सकते हैं, जो कि तत्त्वान्तर नहीं अपितु रूपान्तर कहलाते हैं ॥ ६ ॥

सूत्र १/२/३-६ के अनुसार उद्देश प्रकरण में प्रशस्तपाद ने कहा है -

(प्रश.) :-"**सामान्यं द्विविधं परमपरञ्चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता, महाविषयत्वात्। सा चानुवृत्तेरेवहेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्यपरम् अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते। नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषा एव ॥**"

'पर' और 'अपर' भेद से सामान्य (=जाति) नामक पदार्थ दो प्रकार का है। ये दोनों 'अनुवृत्तिप्रत्यय' अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में एक आकार की प्रतीति के कारण हैं। उन दोनों में से पर-सामान्य 'सत्ता' नामक जाति है, क्योंकि वह 'महाविपय' अर्थात् द्रव्यत्व आदि अन्य सभी सामान्यों से अधिक आश्रयों में विद्यमान है। और वह 'सत्ता' केवल सामान्य (=जाति) पदार्थ ही है, विशेष नहीं; क्योंकि वह केवल अनुगत-प्रतीति का ही कारण है, अर्थात् परस्पर भिन्न अपने आश्रयों में एकाकारप्रतीति को उत्पन्न करती है। अपने आश्रयों में किसी भी प्रकार की परस्पर भेद - बुद्धि को उत्पन्न नहीं करती।

द्रव्यत्व गुणत्व आदि 'अपर-सामान्य' (=अपर-जाति) हैं; क्योंकि ये सत्ता-सामान्य की अपेक्षा थोड़े आश्रयों में रहते हैं। ये द्रव्यत्वादि अनुवृत्तिप्रत्यय के समान व्यावृत्तिप्रत्यय के भी कारण होने से सामान्य होते हुए 'विशेष' भी कहलाते हैं।

परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में रहने वाले, अन्त में होनेवाले, व्यावर्तक होने से 'विशेष' नाम के पदार्थ हैं। वे (अपने आश्रय की अन्य पदार्थों से भिन्नत्व - बुद्धिरूप) व्यावृत्ति के ही कारण होने से 'विशेष' ही कहे जाते हैं ; क्योंकि ये अपने आश्रय को अन्य पदार्थों से भिन्न रूप में ही समझाते हैं ॥

५ (६२) - अथ विशेषपदार्थनिरूपणम्

अव क्रमप्राप्त पञ्चम 'विशेष' नामक पदार्थ का वर्णन करने के लिए वैशे. १/२/६ आदि सूत्रों के अनुसार आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश.) :- अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः।

यथा अस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा, गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनककुद्मान् महाघण्ट इति। तथा अस्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः।

यदि पुनरन्त्यविशेषणमन्तरेण योगिनां योगजाद् धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं च स्यात् ? ततः किं स्यात् ? नैवं भवति। यथा न योगजाद् धर्मादशुक्ले शुक्लप्रत्ययः सञ्जायते, अत्यन्तादृष्टे च प्रत्यभिज्ञानम्। यदि स्यान्मिथ्या भवेत्। तथेहाप्यन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां न योगजाद् धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं वा भवितुमर्हति।

अथान्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः कल्प्यत इति चेत् ? न, तादात्म्यात्। इहाऽतदात्मकेष्वन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवति, यथा घटादिषु प्रदीपात्, न तु प्रदीपे प्रदीपान्तरात्। यथा गवाश्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं तद्योगादन्येषाम्, तथेहापि तादात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिः, तद्योगात् परमाण्वादिष्विति॥

इति प्रशस्तपादभाष्ये विशेषपदार्थः समाप्तः॥

अन्त में (भी विद्यमान, न नष्ट होने वाले) अर्थात् नित्य द्रव्यों में रहने के कारण जिन्हें 'अन्त्य' कहते हैं एवं अपने आश्रय को अन्य पदार्थों से अलग करने के कारण इन्हें 'विशेष' कहते हैं। उत्पत्ति और विनाश से रहति सभी प्रकार के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन-इन प्रत्येक (नित्य) द्रव्य में एक-एक 'विशेष' है, (अर्थात् एक नित्य द्रव्य में एक ही विशेष माना जाता है; क्योंकि

एक द्रव्य में एक विशेष को स्वीकार कर लेने पर ही उसके आश्रय द्रव्य में) उनकी अन्य सभी पदार्थों से अत्यन्त भिन्नता की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

जिस प्रकार (योगियों से भिन्न) हम साधारण जनों को गो आदि में अश्व आदि से कुछ समानता रहते हुए भी विशेष आकृति (लम्बाई, मोटाई आदि), विशेष गुण (श्वेतवर्ण आदि), विशेष क्रिया (गमन आदि), विशेष अवयव (पीन ककुद, सास्ना आदि), विशेष संयोग (घंटा आदि) के कारण (गौ में अश्वादि से) भिन्नता की प्रतीति होती है; कि यह छोटी एवं मोटी आकृति का प्राणी) गौ है (अश्व नहीं; क्योंकि) यह (विशेष प्रकार का) श्वेत है, यह शीघ्र चलने वाला है, यह मोटी ककुद् (= कंधे के ऊपर टांट) वाला है, (इसके गले में) बहुत बड़ा घंटा है। उसी प्रकार हम लोगों से उत्कृष्ट योगियों को नित्य, समान आकार वाले, समान गुणवाले एवं समान क्रिया के आश्रय (पृथिवी आदि चारों द्रव्यों के) परमाणुओं में भिन्नता के अन्य निमित्त प्रतीत न होते हुए भी 'यह परमाणु उस परमाणु से भिन्न (विलक्षण) है' - इस प्रकार की भिन्नता की प्रतीति जिस कारण से होती है, वही **'विशेष'** है। और मुक्त आत्माओं एवं मन में भी भिन्नता का अन्य निमित्त न होते हुए भी (= सर्वथा समानता के रहते हुए भी) 'यह आत्मा उस आत्मा से भिन्न है' एवं 'यह मन उस मन से भिन्न (= विलक्षण) है' - इस प्रकार की भिन्नता की प्रतीति जिस कारण से होती है, वही **'विशेष'** है।

तथा देश एवं काल की दूरी (=भिन्नता) हो जाने पर भी परमाणु के विषय में 'यह वही है' - इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (=पहचान) योगियों को जिन निमित्तों से होती है, वे अन्त में होने वाले 'विशेष' पदार्थ हैं। [योगदर्शन में भी कहा है **"जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः"** - (योग.३/५२) अर्थात् जाति, लक्षण और देश के भेद से जिन दो वतुओं के भेद का निश्चय नहीं होता, ऐसी दो तुल्य वस्तुओं के भेद का प्रत्यक्ष उस विवेकज ज्ञान से होता है। (यही योगियों का योगज सामर्थ्य है।]

(शंका) यदि उक्त अन्त्य विशेष-पदार्थ के बिना ही उक्त परमाणुओं में केवल योगजधर्म के बल से भेदों का ज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञान हो जाए, तो क्या आपत्ति आयेगी ? [अर्थात् जैसे योगियों को योगजधर्म के सामर्थ्य से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है; वैसे ही बिना विशेष-पदार्थ रूप निमित्त के परमाणुओं में भेदों का ज्ञान एवं प्रत्यभिज्ञा भी हो जाएगी । (जैसा कि योगशास्त्र में भी कहा है - **'प्रवृत्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्' - योग. ३/२४**]

(समाधान) - ऐसा नहीं हो सकता । जिस प्रकार केवल योगजन्य धर्म से श्वेतवर्णरहित द्रव्य में 'श्वेत है' - ऐसा ज्ञान नहीं होता तथा कभी न देखे हुए पदार्थ में प्रत्यभिज्ञा - ज्ञान नहीं होता; यदि (कोई कहे कि) होता है, तो वह मिथ्याज्ञान ही कहाएगा । उसी प्रकार यहाँ (= परमाणु आदि के विषय में) भी अन्त्यविशेष पदार्थ के बिना योगियों को केवल योगजधर्म के सामर्थ्य से भेदों का ज्ञान अथवा प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती । (अर्थात् योगियों को योगजधर्म के सामर्थ्य से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, किन्तु बिना विशेष-निमित्त के नहीं हो सकता ।)

(आक्षेप-) (घट, पट आदि) अन्त्य-विशेषों के समान उक्त परमाणुओं में स्वतः (=बिना किसी विशेष कारण के ही) भेद की प्रतीतियाँ क्यों न मान ली जायें।

(समाधान) - ये नहीं हो सकतीं; क्योंकि (परमाणु में अन्य परमाणु से) तादात्म्य (= अभेद) है । दो भिन्न वस्तुओं में (= जिनमें तादात्म्य नहीं है) उनमें से एक के विषय में दूसरे के निमित्त से ज्ञान होता है । जैसे कि घट आदि की प्रतीति प्रदीप से होती है; किन्तु (प्रज्वलित) प्रदीप की प्रतीति के लिए दूसरे प्रदीप की अपेक्षा नहीं होती ।

जिस प्रकार गौ या अश्व के मांस आदि (=मल-मूत्रादि) में अशुचित्व स्वतः ही (=बिना किसी अन्य के सम्बन्ध के ही) है; उसके सम्बन्ध से अन्यों (=शुचि पदार्थों) में भी अशुचिता आ जाती है । उसी प्रकार यहाँ भी अन्त्य - विशेषों में

तादात्म्य (=अभेद होने) के कारण स्वयं ही (= किसी के सम्बन्ध के बिना ही) व्यावृत्ति की प्रतीति (=भेद की प्रतीति) होती है; किन्तु परमाणुओं में उनके (=अन्त्य-विशेषों के) सम्बन्ध से ही व्यावृत्ति-बुद्धि (=भेद की प्रतीति) होती है (उसकी प्रतीति स्वतः नहीं हो सकती)।

इस प्रकार पंचम विशेष-पदार्थ के वर्णन का महाप्रकरण समाप्त हुआ॥

- (द्र.१/२/६)

[**विशेष -** इस प्रकरण में पृथिवी आदि चार महाभूतों के परमाणुओं (=इन पदार्थों के अन्तिम कणों) को एवं मन को नित्य कहा है। सो, यद्यपि यह मान्यता सांख्य-दर्शन के अनुसार पूरी तरह सत्य नहीं हो सकती; क्योंकि सांख्य के अनुसार मूल-प्रकृति एवं पुरुष (=आत्मा) से अतिरिक्त सभी पदार्थ अनित्य हैं।

किन्तु व्याकरण-महाभाष्य के अनुसार **'तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते'** - (महा.१/१/१) अर्थात् चिरकाल तक जिसमें तत्त्व (=तद्भाव) नष्ट नहीं होता, वह भी नित्य मान लिया जाता है। सो इन पाँचों महाभूतों के परमाणु (= अन्तिम कण) एवं 'मन' भी सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त नष्ट नहीं होते। इसलिए इन्हें भी व्यावहारिक रूप से नित्य मान लिया जाता है। वैशेषिक का उद्देश्य सांख्य के समान सूक्ष्मता से विवेचना करना नहीं है। क्योंकि सांख्य का कार्यक्षेत्र है - मूल सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्रकृति से पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति पर्यन्त सर्ग की व्याख्या करना; और वैशेषिक का कार्यक्षेत्र है - पञ्चतन्मात्रों (= पञ्चविध परमाणुओं) से स्थूल जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करना। दोनों शास्त्र मिलकर सर्ग की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। ये परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं॥]

प्रसंग :- अब सत्ता का लक्षण (= स्वरूप) बताते हैं -

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ ७ ॥ (३८)

[द्रव्यगुणकर्मसु] द्रव्य, गुण, कर्म - इन तीनों में [यतः] जिस (पदार्थ) से [सत्] (ये) 'सत्' हैं [इति] ऐसा (ज्ञान तथा व्यवहार) होता है [सा] वह [सत्ता] सत्ता सामान्य है ।

द्रव्य, गुण और कर्म - इन तीनों पदार्थों में 'सत्' की प्रतीति का कारण है 'सत्ता' । इसलिए सद् द्रव्यम् ,सन् गुणः, सत् कार्यम् - ऐसा व्यवहार वा ज्ञान होता है । यही सत्ता का लक्षण या स्वरूप है । इसी को 'महासामान्य' भी कहते हैं ॥ ७ ॥

प्रसंग :- जिस प्रकार 'घट' से 'पट' का पृथक् अनुभव होता है, वैसे द्रव्यादि तीनों से सत्ता का पृथक् अनुभव नहीं होता । गोत्व या अश्वत्व में गौ या अश्व से अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता । अतः सत्ता को द्रव्यादि के रूप में ही समझना चाहिए, अलग पदार्थ नहीं । - इस शंका का समाधान करते हैं -

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥ (३९)

[सत्ता[सत्ता (=सामान्य) [द्रव्यगुणकर्मभ्यः] द्रव्य, गुण और कर्मों से [अर्थान्तरम्] भिन्न अर्थ (=पदार्थ) है ।

जिस प्रकार द्रव्यत्व पृथिवी आदि सभी द्रव्यों में व्यापक (= विद्यमान) होने से पृथिवी आदि से भिन्न है; गुणत्व, रूपरसादि सभी गुणों में व्यापक (=विद्यमान=अनुगत) होने से रूपरसादि से भिन्न है और कर्मत्व, उत्क्षेपणादि सभी कर्मों में व्यापक (=विद्यमान=अनुगत) होने से उत्क्षेपणादि कर्मों से भिन्न है; उसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में व्यापक (=अनुगत) होने से 'सत्ता' द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है ॥ ८ ॥

प्रसंगः- द्रव्य में रहती हुई सत्ता को द्रव्य से भिन्न कहा है और गुण, कर्म भी द्रव्य में रहते हुए द्रव्य से भिन्न होते हैं; फिर क्यों न गुण या कर्म को ही सत्ता मान लें ? इस शंका का समाधान करते हैं -

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥ ९ ॥ (४०)

[गुणकर्मसु] गुणों और कर्मों में [भावात्] (समवेत=विद्यमान) होने से, सत्ता-सामान्य [न] न [कर्म] कर्म है, [न] न [गुणः] गुण है [च] और (न द्रव्य है) ।

सूत्र में पठित 'च' से 'द्रव्य' पदार्थ का भी संग्रह हो जाता है । अथवा कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'कर्म न गुणः' को भिन्न क्रम से पढ़ने के कारण 'द्रव्य' का संग्रह कर लेना चाहिए ।

आचार्य चन्द्रकान्त ने सूत्र में 'च' नहीं पढ़ा है । तदनुसार स्वामी ब्रह्ममुनि आदि के भाष्यों में भी सूत्र में 'च' नहीं है ।

द्रव्य, गुण और कर्म ये गुणों और कर्मों में समवेत नहीं रहते अर्थात् गुणों में न द्रव्य रहता, न गुण रहता, न कर्म रहता है । इसी प्रकार कर्मों में न द्रव्य रहता, न गुण रहता, न कर्म रहता है । परन्तु सत्ता-सामान्य गुणों और कर्मों में भी रहती है । इसलिए द्रव्य, गुण, कर्मों से वह भिन्न है ॥ ९ ॥

प्रसंग :- आचार्य सूत्रकार सत्ता की द्रव्य, गुण, कर्मों से भिन्नता में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं -

सामान्यविशेषाऽभावेन च ॥ १० ॥ (४१)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्य-विशेष के अभाव(=न होने) से [च] भी (सत्ता, द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न है) ।

सूत्र सं.५ (३६) के अनुसार जिस प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व तीनों में सामान्य और विशेष दोनों हैं; इसी प्रकार यदि सत्ता इन तीनों से भिन्न न होती तो उस (=सत्ता) में भी सामान्य और विशेष दोनों होते। किन्तु सूत्र ४ (३५) के अनुसार सत्ता केवल सामान्य ही है, विशेष नहीं। अतः सत्ता, द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न पदार्थ है ॥ १० ॥

प्रसंग : पर-सामान्य (=सत्ता-सामान्य) बताकर, अब अपर-सामान्य का प्रकरण आरम्भ करते हैं। उसमें सर्वप्रथम 'द्रव्यत्व' की द्रव्यों से भिन्नता दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं -

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥ (४२)

[अनेकद्रव्यवत्त्वेन] अनेक (=सब) द्रव्य (मात्र) में (समवाय-सम्बन्ध से) रहनेवाला होने से [द्रव्यत्वम्] द्रव्यत्व-जाति (=अपर - सामान्य) को (द्रव्यों से अलग) [उक्तम्] कथित (=व्याख्यात) (समझ लेना चाहिए)।

यहाँ 'अनेक' शब्द को 'सर्व' के अर्थ में समझना चाहिए। अर्थात् जो सभी (=प्रत्येक) द्रव्य में विद्यमान रहे, वह द्रव्यत्व है। ऐसा होने से कार्यद्रव्य = अवयवी में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि 'अवयवी' अनेक द्रव्यों (=अवयवों) में रहता हुआ भी प्रत्येक द्रव्य (=सब द्रव्यों) में नहीं रहता।

इतना करने पर भी सत्ता-सामान्य (= पर-सामान्य) में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। उसके हटाने के लिए व्याख्याताओं ने हेतु के साथ 'मात्र' अथवा 'केवल' शब्द जोड़ने का परामर्श दिया है। अर्थात् जो केवल द्रव्यों में ही रहे, वह 'द्रव्यत्व' है। सत्ता, द्रव्यों से अतिरिक्त गुणों तथा कर्मों में भी रहती है ॥ ११ ॥

प्रसंग :- अब आचार्य सूत्रकार द्रव्यों से द्रव्यत्व-सामान्य के भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १२ ॥ (४३)

[च] और [सामान्यविशेषाभावेन] सामान्य-विशेष का अभाव होने से (द्रव्यमात्र-समवायी, द्रव्यों से भिन्न केवल 'द्रव्यत्व-सामान्य' है) ।

यदि द्रव्यत्व, द्रव्यरूप ही होता तो द्रव्य के समान द्रव्यत्व में भी अवान्तर जातियाँ (पृथिवीत्व आदि सामान्य-विशेष) प्रतीत होतीं । परन्तु ऐसा नहीं है । अतः द्रव्यत्व, पृथिवी, जल आदि से भिन्न है । पृथिवी, जल आदि द्रव्य सामान्य और विशेष वाले होते हैं । किन्तु द्रव्यत्व एक सा है अर्थात् द्रव्यत्व रूप अपर-सामान्य ही होता है ॥ १२ ॥

प्रसंग :- आगे द्रव्यत्व के समान गुणत्व का भी सभी गुणों से पृथक् निरूपण करते हैं -

तथा गुणेषु भावात् गुणत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥ (४४)

[तथा] वैसे ही [गुणेषु] (रूप आदि चौवीस) गुणों में ही [भावात्] (समवाय सम्वन्ध से) वर्तमान होने से [गुणत्वम्] गुणत्व - जाति (=अपर-सामान्य) को (गुणों से अलग [उक्तम्] कथित (=व्याख्यात) समझना चाहिए ।

कुछ पुस्तकों में 'तथा' पद नहीं है ।

सभी (=२४) गुणों में गुणत्व रहता है, किन्तु रूपादि गुण अन्य गुणों में नहीं रहते । अतः गुणत्व-सामान्य, गुणों से पृथक् धर्म है ॥ १३ ॥

प्रसंग : - अब गुणों से 'गुणत्व-सामान्य' को भिन्न बताने में अन्य हेतु देते हैं -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १४ ॥ (४५)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्य और विशेष के न होने से [च] भी (गुणत्व - अपर सामान्य रूपादि गुणों से भिन्न है)।

जिस प्रकार गुणों में अवान्तर जातियां (=रूप-श्वेत,पीत, रक्त इत्यादि;रस-कटु, अम्ल इत्यादि) होती हैं अर्थात् सामान्य - विशेष होते हैं; वैसे गुणत्व - अपर सामान्य में नहीं होते, क्योंकि वह तो प्रत्येक प्रकार के गुण में रहता है ॥ १४ ॥

प्रसङ्ग :- अन्त में द्रव्यत्व और गुणत्व के समान कर्मत्व का भी निरूपण करते हैं -

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥ (४६)

[कर्मसु] (उत्क्षेपणादि पाँच) कर्मों में (ही) [भावात्] (समवायसम्बन्ध से) वर्तमान होने से [कर्मत्वम्] कर्मत्व-जाति (=अपर-सामान्य) को (कर्मों से अलग) [उक्तम्] कथित (=व्याख्यात) (समझना चाहिए)।

कर्मत्व - अपरसामान्य उत्क्षेपणादि सभी कर्मों में समवायसम्बन्ध से रहता है, किन्तु उत्क्षेपणादि कर्म परस्पर अन्य कर्मों में नहीं रहते और न द्रव्य, गुण कर्मों में रहते हैं। अतः 'कर्मत्व-सामान्य' कर्मों से एवं द्रव्य, गुण से भिन्न है ॥ १५ ॥

प्रसंग :- अब अन्य अपर सत्ताओं के समान कर्मों से कर्मत्व - अपरसामान्य को भिन्न सिद्ध करने में अन्य हेतु देते हैं -

सामान्यविशेषाभावेन च ।। १६ ।। (४७)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्य और विशेष के न होने से [च] भी (कर्मत्व-अपरसामान्य, उत्क्षेपणादि कर्मों से भिन्न है) ।

जिस प्रकार कर्मों में अवान्तर जातियाँ (=उत्क्षेपणादि) (तथा गमन में घूर्णन, भ्रमण, वमन, विरेचन आदि) होती हैं अर्थात् सामान्य-विशेष होते हैं; वैसे कर्मत्व - अपरसामान्य में नहीं होते, क्योंकि कर्मत्व तो प्रत्येक प्रकार के कर्म में रहता है ।। १६ ।।

प्रसंग :- अन्त में भाव (= भाव-प्रत्ययान्त) की एकता का वर्णन करते हैं -

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः ।।१७।। (४८)

[भावः] भाव (= त्व, तल्, ता) - प्रत्ययान्त पदार्थ [एकः] एक ही है, [सत्] सत् (=है) [इति] इस प्रकार [लिङ्गाविशेषात्] प्रतीति के समान होने से [च] और [विशेषलिङ्गाभावात्] भेदक-चिह्न अथवा अनुमान के अभाव होने से ।

विभिन्न पृथिवी आदि द्रव्यों में वर्तमान होता हुआ भी द्रव्यत्व एक है; विभिन्न रूपादि गुणों में वर्तमान होता हुआ भी गुणत्व एक है; और विभिन्न उत्क्षेपणादि कर्मों में वर्तमान होता हुआ भी कर्मत्व एक पदार्थ है । ये तीनों अपर सत्ताएं हैं । इसी प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म - तीनों में वर्तमान भाव (= सत्ता = अस्तित्व) भी एक है ।

अतः द्रव्यों में द्रव्यत्व एक है, गुणों में गुणत्व एक है, कर्मों में कर्मत्व एक है और द्रव्य-गुण-कर्मों में 'भाव' 'परसामान्य' या 'सत्ता-सामान्य' भी एक है । अर्थात् जिनका जो 'भाव' है, वह एक ही है । पदार्थों के उस-उस रूप में 'सत्' = अस्तित्व की प्रतीति में कोई भेद नहीं होता । सभी को 'है, है' - ऐसा अनुभव करते हैं ।

एकत्व, द्वित्वादि में गो, घट आदि व्यक्ति विशेषित नहीं होते हैं, अपर - सामान्य से गोत्व या द्रव्यत्व आदि विशेषित नहीं होते, इसी प्रकार द्रव्य, गुण या कर्म कहने से अर्थ विशेषित होते हैं, सत्ता (=पर-सामान्य) विशेषित नहीं होती।

'उपस्कार' - वृत्ति के लेखक पं. शंकर मिश्र तथा कुछ अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र की सत्तापरक व्याख्या की है, कि 'सत्ता-सामान्य एक है'। यदि सूत्रकार का यही आशय होता, तो यह सूत्र 'सदिति यतो द्रव्य.' (१/२/७) के अनन्तर ही होना चाहिए था।

इन भाष्यकारों से पूछ सकते हैं, कि क्या 'सत्ता' ही 'एक' होती है, द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व - ये एक-एक नहीं होते ?

वस्तुतः यहाँ सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व - इन सब भावों के प्रति समानरूप से विधान है। यही इस सूत्र को सबके बताने के उपरान्त रखने का प्रयोजन है ॥ १७ ॥

४(६१) - अथ सामान्यपदार्थनिरूपणम्

अब क्रमप्राप्त चतुर्थपदार्थ 'सामान्य' (=जाति) का विस्तार से वर्णन करने के लिए आचार्य प्रशस्तदेव वैशे. - १/२/३, ४, ७-१७ आदि सूत्रों के अनुसार कहते हैं -

(प्रश.)- **सामान्यं द्विविधम् - परमपरं च। स्वविषय-सर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदेनाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। कथम् ? प्रतिपिण्डं सामान्यापेक्षं प्रबन्धेन ज्ञानोत्पत्तावभ्यासप्रत्ययजनिताच्च संस्कारादतीतज्ञानप्रबन्धप्रत्यवेक्षणाद् यदनुगतमस्ति तत् सामान्यमिति।**

तत्र सत्तासामान्यं परमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव । यथा परस्परविशिष्टेषु चर्मवस्त्रकम्बलादिष्वेकस्मान्नीलद्रव्याभिसम्बन्धान्नीलं नीलमिति प्रत्ययानुवृत्तिः, तथा परस्परविशिष्टेषु द्रव्यगुणकर्मस्वविशिष्टा सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः । सा चार्थान्तराद् भवितुमर्हतीति यत् तदर्थान्तरं सा सत्तेति सिद्धा । सत्तानुसम्बन्धात् सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः, तस्मात् सा सामान्यमेव ।

अपरं द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यं विशेषश्च भवतः । तत्र द्रव्यत्वं परस्पर-विशिष्टेषु पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिहेतुत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । तथा गुणत्वं परस्परविशिष्टेषु रूपादिष्वनुवृत्तिहेतुत्वात् सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । तथा कर्मत्वं परस्परविशिष्टेषूत्क्षेपणादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यम्, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः ।

एवं पृथिवीत्वरूपत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वपटत्वादीनामपि प्राण्यप्राणिगताना - मनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यविशेषभावः सिद्धः । एतानि तु द्रव्यत्वादीनि प्रभूतविषयत्वात् प्राधान्येन सामान्यानि, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् भक्त्या विशेषाख्यानीति ।

लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम् । अत एव च नित्यत्वम् ।

द्रव्यत्वादिषु वृत्तिनियमात् प्रत्ययभेदाच्च परस्परतश्चान्यत्वम् । प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणाविशेषाद् विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम् ।

यद्यप्यपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति, तथाप्युपलक्षणनियमात् कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगतानि । अन्तराले च संयोगसमवायवृत्त्य - भावादव्यपदेश्यानीति ॥

इति प्रशस्तपादभाष्ये सामान्यपदार्थः समाप्तः ॥

सामान्य (जाति) पदार्थ दो प्रकार का है - पर और अपर। (-इस पंक्ति की व्याख्या पदार्थोद्देश प्रकरण में भी कर चुके हैं।) वह सामान्य अपने सभी आश्रयों (= विषयों) में रहता है। वह एक ही स्वभाव का है। अनेक व्यक्तियों में वर्तमान; एक, दो या बहुत सी वस्तुओं में अपने से अनुगत ज्ञान को करानेवाला है। वह अपने स्वरूप के अभिन्न होने से अपने सभी आश्रयों में निरन्तर (=विना विराम के) रहता हुआ 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का अर्थात् अपने आश्रयरूप विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की अनुगतबुद्धि का कारण है।

(प्र.) - यह कैसे समझें (-कि अनेक वस्तुओं में एक ही सामान्य रहता है) ?

(उ.) - प्रत्येक पिण्ड में सामान्य का ज्ञान होता है। यही ज्ञान जब बार-बार होता है (जो कि अभ्यास कहाता है), तब उससे दृढ़ संस्कार उत्पन्न होता है। इस संस्कार से उन ज्ञान-समूहों का स्मरण होता है। इस स्मरण से ज्ञात होता है, कि इस स्मरण के विषयभूत सभी पिण्डों में अनुगत जो धर्म है, वही 'सामान्य' है।

उन (पूर्वोक्त पर और अपर दोनों सामान्यों) में से सत्ता नामक सामान्य (=जाति) केवल पर (व्यापक) सामान्य एवं अनुगतबुद्धि का ही कारण है। (सत्ता की सिद्धि इस प्रकार होती है, कि-) जिस प्रकार परस्पर भिन्न रहते हुए भी नील चर्म, नील वस्त्र एवं नील कम्बलों में नील-वर्ण के सम्बन्ध से उनमें से प्रत्येक में 'यह नीला है', 'यह नीला है' - ऐसी एक प्रकार की प्रतीति होती है; उसी प्रकार परस्पर विभिन्न द्रव्यों, गुणों और कर्मों - इन तीनों पदार्थों में से प्रत्येक में 'यह सत् है, यह सत् है' - ऐसी एक ही प्रकार की प्रतीति होती है। और वह प्रतीति द्रव्य, गुण तथा कर्म - इनसे भिन्न किसी अन्य वस्तु से ही हो सकती है। इसलिए जो अन्य पदार्थ है, वही 'सत्ता' नामक जाति सिद्ध होती है। इस सत्ता जाति के सम्बन्ध से 'यह सत् है, यह सत् है' - ऐसा अनुवृत्ति-प्रत्यय ही हो सकता है (कोई व्यावृत्तिप्रत्यय नहीं), इस कारण वह 'सत्ता' सामान्य ही है, विशेष नहीं।

(अब सत्ता से भिन्न 'अपर' सामान्य का स्वरूप बताते हैं -) द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि (=पृथिवीत्व, जलत्व आदि) जातियाँ अपर हैं। ये जातियाँ अनुवृत्तिप्रत्यय के कारण होने से 'सामान्य' और व्यावृत्तिप्रत्यय के कारण होने से 'विशेष' दोनों ही हैं। अर्थात् इनमें (जिस प्रकार) द्रव्यत्व जाति से विभिन्न पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्यों में पृथिवी द्रव्य है, जल द्रव्य है - ऐसी अनुवृत्तिबुद्धि होती है; इसलिए द्रव्यत्व 'सामान्य' रूप जाति है, किन्तु गुण और कर्म पदार्थ से भेद बुद्धि का कारण होने से 'विशेष' रूप जाति भी है। इसी प्रकार गुणत्व भी रूपादि चौवीस गुणों में से प्रत्येक में 'रूपगुण है, रसगुण है' - ऐसी अनुगत बुद्धि का कारण होने से 'सामान्य' रूप जाति है, किन्तु द्रव्य तथा कर्म पदार्थों से भेद बुद्धि का साधक होने से 'विशेष' रूप जाति भी है। इसी प्रकार कर्मत्व जाति भी उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में से प्रत्येक में 'यह उत्क्षेपण कर्म है, यह अपक्षेपण कर्म है' - ऐसी अनुवृत्तिबुद्धि का कारण होने से 'सामान्य' है; किन्तु द्रव्य तथा गुण पदार्थों से भेदबुद्धि का साधक होने से 'विशेष' रूप जाति भी है। - यह सिद्ध होता है। - (द्र. ... वैशे. - १/२/४, ७-१०,१७)

इसी प्रकार (=द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व इन जातियों के समान) (द्रव्यत्व से व्याप्य) पृथिवीत्व, जलत्व इत्यादि, (गुणत्व से व्याप्य) रूपत्व, रसत्व आदि (एवं कर्मत्व से व्याप्य) उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व आदि तथा (पृथिवीत्व से व्याप्य) गोत्व घटत्व, पटत्व आदि जातियों में भी प्राणियों और अप्राणियों के भेद से अनुवृत्तिप्रत्ययजनकत्व हेतु से 'सामान्यत्व' एवं व्यावृत्तिप्रत्ययजनकत्व हेतु से 'विशेषत्व' की सिद्धि होती है। किन्तु ये द्रव्यत्व-गुणत्व आदि जातियाँ अधिक विषयवाली होने के कारण मुख्य रूप से सामान्य जातियाँ ही हैं, किन्तु उनमें अपने आश्रयों को अन्य वस्तुओं से पृथक् रूप में समझाने की योग्यता भी कुछ अंश में विद्यमान होती है, इसलिए ये गौण रूप से 'विशेष' नामक जातियाँ भी होती हैं। - (द्र.१/२/४)।

[(प्र.) - द्रव्यत्व - गुणत्व आदि जातियाँ जब द्रव्य-गुण आदि पदार्थों से भिन्न

ही नहीं हैं, तो उनका अलग से निरूपण करने की क्या आवश्यकता है ? (उ.) -इन द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व का क्रमशः] द्रव्य, गुण और कर्म - इन तीनों से भिन्न लक्षण (=स्वरूप) होने से यह सिद्ध होता है, कि द्रव्यत्वादि पदार्थ, द्रव्यादि से भिन्न (=स्वतन्त्र) पदार्थ हैं । और इसी कारण द्रव्यत्वादि सामान्य पदार्थ में नित्यत्व है ।

द्रव्यत्व-गुणत्वादि सामान्य द्रव्य-गुणादि कुछ आश्रयों में ही नियतरूप से रहते हैं एवं भिन्न रूप से प्रतीत भी होते हैं, इसलिए (द्रव्यत्व-गुणत्वादि सामान्य) परस्पर विभिन्न हैं (अर्थात् द्रव्यत्व द्रव्यों में ही रहता है, गुणों में नहीं; गुणत्व गुणों में ही रहता है, द्रव्यों में नहीं रहता । तथा द्रव्यत्व सामान्य, गुणत्व-कर्मत्व सामान्यों से भिन्न प्रतीत होता है । अतः द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व परस्पर भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं ।)

एवं द्रव्यत्वादि प्रत्येक सामान्य अपने पृथिवी-जल आदि आश्रयों में समानरूप से प्रतीत होता है तथा उसको अनेक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है; इससे सिद्ध होता है, कि द्रव्यत्व-गुणत्व आदि प्रत्येक सामान्य एक-एक ही हैं ।

यद्यपि गोत्व अश्वत्व आदि सम्पूर्ण जातियाँ जिस किसी स्थल में उत्पन्न गो-अश्व आदि पिण्डों में गोत्व, अश्वत्वादि जातियों का सम्बन्ध होने के कारण नियत देश वाले नहीं हैं, तो भी गोत्व-अश्वत्वादि सामान्यों के अभिव्यञ्जक सास्ना, केश, टेड़ी-गर्दन आदि अवयवों की रचनाओं के उन गौ, अश्व, उष्ट्र आदि व्यक्तियों में ही नियत होने के कारण तथा गौ, घट, वस्त्र आदि पिण्डों के उत्पादक सामग्री के नियत होने से भी गोत्व, अश्वत्व, उष्ट्रत्व, घटत्व, पटत्व आदि जातियाँ अपने-अपने ही गौ, घट, वस्त्र आदि सम्पूर्ण व्यक्तियों में रहती हैं अर्थात् अश्वत्व में गोत्व-घटत्व-पटत्वादि एवं पटत्व में गोत्व-अश्वत्व-घटत्वादि नहीं रहते; क्योंकि उन सबकी अभिव्यक्ति के प्रवृत्तिनिमित्त सास्ना, केश, ग्रीवा, सूंड आदि अलग-अलग निश्चित हैं ।

(अनेक गौ आदि व्यक्तियों के) अन्तराल (=आकाश, दिशा, वायु आदि द्रव्यरूप मध्यदेशों में गोत्व, अश्वत्व आदि जातियों का न संयोग है, न समवाय-सम्बन्ध हैं, अतः अन्तराल-प्रदेशों में गोत्व आदि सामान्य का व्यवहार नहीं होता, (अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से कारण-सामग्री के सामर्थ्य से उत्पन्न गो, अश्व, वस्त्र आदि पिण्डों में ही गोत्व आदि जाति का सम्बन्ध होता है ।) - (द्र.१/२/११-१६)

(भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति जाति से ही होती है, इसके ज्ञान के बिना लोकव्यवहार कठिन है; इसलिए सामान्य का स्वरूप अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।)

इस प्रकार सामान्य-पदार्थ का वर्णन पूरा हुआ ।।

प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक का विषय :-

कार्य - कारणयोर्ज्ञानं रामान्यार्थस्य लक्षणम् ।

परीक्षणं च संक्षेपा द्वितीयेऽस्मिन् प्रकीर्तितम् ।। - (स्वा. हरिप्रसादः, अर्थात् कार्य और कारण का ज्ञान, सामान्य अर्थ का लक्षण और संक्षेप से परीक्षा, इस द्वितीय आह्निक में कहे गये हैं ।।

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ।

सम्पूर्णश्चायं प्रथमोऽध्यायः ।।

समवायः

यद्यपि द्रव्य आदि छह पदार्थों में से छटे पदार्थ 'समवाय' का विस्तार से निरूपण वैशे. सू.७/२/२६ (३०७) में किया है; फिर भी यहाँ संक्षेप में इसकी चर्चा कर दी है -

(प्रश.) - ''अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः ।।

एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशःकृतः ।।

अयुताश्च ते सिद्धाश्चेति - अयुतसिद्धाः, तेषाम् अयुतसिद्धानाम् = अपृथक्सिद्धानाम् ।

अपृथक्सिद्ध = प्राप्त होकर रहने वाले आधार और आधेयरूप (=आश्रय और आश्रयिरूप) पदार्थों का, जो सम्बन्ध 'इह प्रत्ययहेतुः' अर्थात् इस आधार में यह आधेय है (-इन तन्तुओं में यह वस्त्र है) इत्यादि प्रतीति का कारण होता है, वह 'समवाय' कहलाता है ।

यहाँ तन्तु आधार हैं एवं वस्त्र आधेय है । यह वस्त्र, तन्तुरूप आधार में ही रह सकता है, तन्तुओं से पृथक् नहीं ।

इस समवाय-पदार्थ की विस्तृत चर्चा आगे ७/२/२६ (३०७) पर की जाएगी ।

इस प्रकार धर्मों को छोड़कर केवल द्रव्यादिरूप धर्मियों को उद्देश (= नाममात्र कथन) कर दिया गया है ।

यह स्वतन्त्र भाष्य है, इस भाष्य का कोई सूत्र नहीं है ।।

(३) साधर्म्य-वैधर्म्ये

साधर्म्य-प्रकरणम्

आगे द्वितीय अध्याय में पृथिवी आदि द्रव्यों का परस्पर वैधर्म्य दिखाया जाएगा, जिससे उनको स्पष्टतया पहचाना जा सके । उससे पूर्व यहाँ प्रशस्तपाद ने प्रथम और द्वितीय अध्याय में बिखरे हुए साधर्म्य-वैधर्म्य में से सब पदार्थों का परस्पर साधर्म्य दिखाते हुए कहा है -

(प्रश.) : षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि ।

आश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः ।

द्रव्यादीनां पञ्चानां समवायित्वमनेकत्वञ्च ।

गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे ।

(प्रश.) - द्रव्यादीनां त्रयाणामपि सत्तासम्बन्धः, सामान्यविशेषवत्त्वम्, स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्वम्, धर्माधर्मकर्तृत्वञ्च ।

(द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन) छहों पदार्थों के १. अस्तित्व (= स्वरूप, अपना असाधारण रूप), २ - अभिधेयत्व - (=वाच्यता, शब्द से कहे जाने की क्षमता) तथा ३ - ज्ञेयत्व (= ज्ञान-विषयता) ये तीन साधर्म्य (=समान-धर्म) हैं ।

नित्यद्रव्यों (=पृथिवी आदि के परमाणुओं तथा आकाश, आत्मा आदि) को छोड़कर अन्य अनित्य द्रव्यों एवं गुणादिकों का 'आश्रितत्व' (=आश्रित होना) साधर्म्य है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों के समवायित्व (= समवाय-सम्बन्ध के सम्बन्धी होना) और अनेकत्व (= अनेकता, परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होना) ये दो साधर्म्य हैं ।

गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन पाँच पदार्थों के भी 'निर्गुणत्व (= गुणशून्यता) और 'निष्क्रियत्व' (=क्रियाशून्यता) साधर्म्य हैं ।

द्रव्य आदि (= गुण, कर्म) इन तीनों पदार्थों के ये चार साधर्म्य हैं - १ - सत्ता (= जाति) का सम्बन्ध, २ - सामान्य और विशेष अर्थात् पर और अपर दोनों जातियों का द्रव्यत्वादि के रूप में सम्बन्ध होना, ३ - वैशेषिकों के शास्त्र में संकेतित (=बताए हुए) 'अर्थ' शब्द से कहा जाना (अर्थात् वैशेषिक शास्त्र के आचार्यों ने

यह संकेत किया है, कि 'अर्थ' शब्द से द्रव्य-गुण-कर्म ये तीन समझे जाएं। इस संकेत के कारण विशेषण रहति केवल 'अर्थ' शब्द से कहा जाना (अर्थात् वैशेपिक शास्त्र के आचार्यों ने यह संकेत किया है, कि 'अर्थ' शब्द से द्रव्य-गुण-कर्म ये तीन समझे जाएं। इस संकेत के कारण विशेषण रहित केवल 'अर्थ' शब्द से द्रव्यादि तीन ही समझे जाते हैं। जिस प्रकार योगशास्त्र में 'संयम' शब्द से धारण-ध्यान-समाधि समझे जाते हैं), तथा ४-धर्म और अधर्म के निमित्त बनना। (जैसे - एकही गौ दान से धर्म की और अपहरण से अधर्म की निमित्त बनती है; एक ही स्पर्श-गुण कपिला गाय के स्पर्श से धर्म का और नरास्थि का स्पर्श अधर्म का कारण बनता है; तथा कर्म भी सत्संगादि तीर्थगमन धर्म का और शौण्डिक (=मद्यविक्रेता) के घर जाने की क्रिया अधर्म का निमित्त बन जाते हैं)।

यह भाष्यकार ने सूत्रनिरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया है ।।

अब कार्य पदार्थों, अन्य सब पदार्थों तथा सामान्यादि तीन पदार्थों का परस्पर साधर्म्य बताते हैं -

(प्रश.)- कार्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव।
कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमण्डल्यादिभ्यः।
द्रव्याश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः।

सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यमकारणत्वमसामान्यविशेषवत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वञ्चेति।

कारणों से उत्पन्न पदार्थों के ही कार्यत्व और अनित्यत्व ये दो साधर्म्य हैं।

पारिण्डल्य (= परमाणु के परिमाण) आदि (=आकाश, काल, दिशा, आत्मा, अन्तिम शब्द, मन का परिणाम, परत्व, अपरत्व, अन्त्यावयवी द्रव्य अर्थात् जो अवयवी किसी दूसरे अवयवी का अवयव न हो, जैसे - घट, पट आदि) इन

से भिन्न द्रव्यादि तीनों पदार्थों का 'कारणत्व' (= कारण होना) साधर्म्य है । [यहाँ कारणशब्द से समवायि - असमवायिकारण होना अभीष्ट है । यद्यपि द्रव्यों में असमवायिकारणत्व और गुण एवं कर्म में समवायिकारणत्व नहीं होता, पुनरपि यहाँ 'कारणत्व' शब्द से 'निमित्तकारणभिन्नकारणत्व' रूप साधर्म्य ही अपेक्षित है । यह साधर्म्य द्रव्यादि तीनों पदार्थों में समान रूप से है ।]

नित्य द्रव्यों को छोड़कर (अनित्य द्रव्य, अनित्यगुण और कर्म इन तीनों पदार्थों का) द्रव्य में आश्रित रहना अर्थात् द्रव्यरूप समवायिकारण से उत्पन्न होना साधर्म्य है ।

सामान्य इत्यादि तीन पदार्थों का अर्थात् सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों का १ - 'स्वात्मसत्त्व' अर्थात् सत्ता - जाति के विना स्वरूपसत्तावत्त्व; २ - 'बुद्धिलक्षणत्व' अर्थात् बुद्धिमात्रप्रमाणवत्ता [बुद्धिरेव लक्षणं प्रमाणं येषां ते बुद्धिलक्षणाः = बुद्धि ही जिनका प्रमाण = समझाने का साधन है वे ही बुद्धि-लक्षण कहे जाते है । क्योंकि द्रव्यादि तो सन्देह होने पर द्रव्यादि के कार्यों से भी समझाए जा सकते हैं, किन्तु सामान्यादि के प्रसंग में सन्देह होने पर तो उन्हें बुद्धि से ही समझाया जा सकता है अर्थात् बुद्धि ही एक अवलम्ब है ।]

(३) - 'अकार्यत्व' = किसी कारण का कार्य न होना अर्थात् अपने स्वरूप की स्थिति के लिए कारणों की अपेक्षा न रखना; द्र. --(सूत्र १/२/३).

४ - 'अकारणत्वम्' = समवायिकारणत्व तथा असमवायिकारणत्व न होना [यहाँ निमित्तकारणत्व का निषेध नहीं है, क्योंकि ये तीनों बुद्धि के निमित्तकारण तो होते हैं ।];

५ - 'असामान्यविशेषवत्त्व' = सामान्यविशेषरूप अपरजातिशून्यता;

द्र. सूत्र १/२/१०, १२, १४, १६

६ - 'नित्यत्व = नित्यता, ; और ७ - 'अर्थ' शब्द से वैशेषिक मत में न कहा जाना - ये सात साधर्म्य हैं ।।

द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थों का यथासम्भव साधर्म्य बताकर अब केवल द्रव्यों का साधर्म्य कहते हैं -

(प्रश.) -पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः, स्वात्मन्यारम्भकत्वं गुणवत्त्वं कार्यकारणाविरोधित्वम् अन्त्यविशेषवत्त्वम् ।

अनाश्रितत्वनित्यत्वे चान्यत्रावयविद्रव्येभ्यः ।

पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्त्वे ।

क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वपरत्वापरत्ववेगवत्त्वानि ।

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के द्रव्यत्व-जाति के सम्बन्ध वाला होना, अपने में समवाय-सम्बन्ध से कार्य को उत्पन्न करना - (द्र.सूत्र १/१/९, १०, १८)-गुणवत्ता-(द्र. १/१/१५), अपने कार्य से अथवा कारण से विनष्ट न होना (द्र. १/१/१२) अन्त्यविशेषपदार्थवत्त्व ये पाँच साधर्म्य हैं ।

अवयविद्रव्यों को छोड़कर अन्य सभी द्रव्यों के अनाश्रितत्व (=किसी के आश्रित न होना) और नित्यता ये दो साधर्म्य हैं । - (यह स्वतन्त्र भाष्य है ।)

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आत्मा तथा मन - इन छह द्रव्यों के अनेक होना और (पृथिवीत्व इत्यादि) अपरजाति वाला होना - ये दो साधर्म्य हैं ।

यह भी स्वतन्त्र भाष्य है ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन - इन पाँच द्रव्यों के क्रियावत्त्व(= उत्क्षेपणादि), मूर्त्तत्व (=अल्प परिमाण का सम्बन्ध होना), परत्व - अपरत्व (= दूर

होना, समीप होना) तथा वेगवत्ता - ये पाँच साधर्म्य हैं। (-द्र.५/२/१-७, १०-१२, ५/१/१७, ७/२/२१))।

अब आकाशादि एवं पृथिवी आदि का साधर्म्य बताते हैं -

(प्रश.)- आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वञ्च।

पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि भूतत्वेन्द्रियप्रकृतित्वबाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानि।

आकाश, काल, दिशा और आत्मा (=परमात्मा) इन चार द्रव्यों के सर्वगतत्व (=सब मूर्त द्रव्यों में रहना), परममहत्परिमाण वाला होना, और सर्वसंयोगिसमानदेशत्व (=सभी संयोगी मूर्त द्रव्यों का समान रूप से आधार होना - ये तीन साधर्म्य हैं। - (द्र. ७/१/२२, २४, २५)

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच द्रव्यों के भूतपदवाच्यता, इन्द्रियप्रकृतित्व (=बाह्येन्द्रियों के गोलकों के कारण होना) और एक-एक बाह्येन्द्रिय चक्षुरादि से ग्रहण करने योग्य विशेषगुण रूपादिमत्ता - ये तीन साधर्म्य हैं।

अब चारभूतों का यथासम्भव साधर्म्य दिखाते हैं -

(प्रश०) -चतुर्णां द्रव्यारम्भकत्वस्पर्शवत्त्वे।

त्रयाणां प्रत्यक्षत्वरूपवत्त्वद्रवत्वानि।

द्वयोर्गुरुत्वं रसवत्त्वञ्च।

भूतात्मनां वैशेषिकगुणवत्त्वम्॥

पृथिवी, जल, तेज और वायु - इन चार द्रव्यों का द्रव्य को उत्पन्न करना

(-द्र. १/१/१०), और स्पर्शगुण का अधिकरण होना (-द्र.२/१/१-४) - ये दो साधर्म्य हैं ।

पृथिवी, जल और तेज - इन तीन द्रव्यों का बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना, रूपवत्त्व (=रूपाश्रयता) और द्रवत्व (=द्रवत्वगुणाश्रयता) - (द्र.२/१/१-७) - ये तीन साधर्म्य हैं । (द्रवत्व पर विशेष-विचार २/१/७ पर द्रष्टव्य है ।)

पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों के गुरुत्वगुणवत्ता और रसाधिकरणता ये दो साधर्म्य हैं । - (द्र.२/१/१,२; ५/१/७; ५/२/३) ।

भूतों (= पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा आत्मा (=जीवात्मा) इन छह द्रव्यों का वैशेषिक गुणवत्त्व= विशेषगुणाश्रयता (=रूपादि-शब्दान्त तथा ज्ञान आदि विशेष गुणों की आधारता साधर्म्य है । - (द्र. २/१/१-५, २०; ३/२/४, २०)।

अव पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, आत्मा, दिशा और काल का यथासम्भव साधर्म्य दिखाते हैं -

(प्रश.)-क्षित्युदकात्मनां चतुर्दशगुणवत्त्वम् ।

आकाशात्मनां क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वम् ।

दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वं, सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणत्वञ्च ।

क्षितितेजसोर्नैमित्तिकद्रवत्वयोगः ।

एवं सर्वत्र साधर्म्यं विपर्ययाद् वैधर्म्यञ्च वाच्यमिति द्रव्यासङ्करः ॥

पृथिवी, जल और आत्मा (-जीवात्मा) - इन तीनों द्रव्यों का चतुर्दशगुणाधिकरणता (=चौदह गुणों की आधारता) साधर्म्य है । [इनमें से पृथिवी

के - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (-नैमित्तिक), वेगाख्य स्थितिस्थापक संस्कार।

जल के - रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (-सांसिद्धिक), स्नेह और वेगाख्य संस्कार।

जीवात्मा के - संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावनाख्यसंस्कार, धर्म और अधर्म ॥]

आकाश और आत्माओं के क्षणिक (=तृतीय क्षण में नष्ट होने वाले) अव्याप्यवृत्ति (= व्यापक होकर न रहने वाले, एकदेशवृत्ति) विशेषगुण शब्द, ज्ञानादिकों की अधिकरणता साधर्म्य है ॥ [- यह स्वतन्त्र भाष्य है।]

दिशा और काल इन दो द्रव्यों के (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इन) पाँच गुणों की अधिकरणता तथा सम्पूर्ण उत्पत्तिशील पदार्थों का निमित्त-कारण होना - ये दो साधर्म्य हैं ॥

पृथिवी और तेज - इन दो द्रव्यों का नैमित्तिक (-आतप, अग्नि आदि के सम्बन्ध से उत्पन्न) द्रवत्व (=पतलापन) गुण की अधिकरणता साधर्म्य है; क्योंकि घृतादि पृथिवी तथा सुवर्ण आदि तेज में अग्नि आदि के संयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है। [किन्तु स्वर्ण आदि को तैजस् बताने वाला कोई वैशे.सूत्र न होने से यह विषय विचारणीय है। विशेष समीक्षा सू. २/१/७ पर देखें ॥]

इसी प्रकार सब पदार्थों में (समान धर्म रहने के कारण) साधर्म्य और इसके विपरीत (-समान धर्म न रहने के कारण) वैधर्म्य समझना चाहिए। अतः द्रव्यादि पदार्थों में परस्पर साङ्कर्य नहीं है ॥ - (द्र.१/१/१३, १४;५/२/२१)।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसङ्गः- प्रथमाध्याय में विभागसहित द्रव्यादि का उद्देश, यथासम्भव लक्षण, साधर्म्य-वैधर्म्य आदि का वर्णन किया । अब द्वितीय अध्याय के प्रथमाह्निक में नौ द्रव्यों का लक्षण तथा ईश्वर और आकाश की सिद्धि आदि का निरूपण किया जाएगा ।

(वैधर्म्यप्रकरणोपक्रमः)

अथ द्रव्यपदार्थे

४ - पृथिवी-निरूपणम्

(प्रश.) - **इहेदानीमेकैकशो वैधर्म्यमुच्यते ।।**

अब तक कहे गये पदार्थों में से इस समय प्रत्येक का वैधर्म्य, अर्थात् असाधारण धर्म रूप लक्षण कहते हैं ।

'एकैकशः' पद में वीप्सा (=व्याप्ति) में 'शस्' प्रत्यय एवं द्विर्वचन है । इसका क्षेत्र प्रत्येक द्रव्य के लक्षण कहने तक है ।

'वैधर्म्य' का तात्पर्य है - विशिष्ट इतरस्माद् व्यावृत्तो धर्मो यस्यासौ विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्, असाधारणः तत्त्वव्यवस्थापको धर्मः ।

अर्थात् अन्यों से विशिष्ट (भिन्न) असाधारण धर्म का होना वैधर्म्य है । यह स्वतन्त्र भाष्य है ।

प्रसंग - उन नौ द्रव्यों में से प्रथमोद्दिष्ट पृथिवी का लक्षण बताते हैं -

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ १ ॥ (४९)

[पृथिवी] पृथिवी (नामक द्रव्य) [रूपरसगन्धस्पर्शवती] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण का आश्रय है ।

यहाँ सप्तमी (=अधिकरण) अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है । जिससे यह अर्थ निकलता है, कि पृथिवी रूपादि गुणों वाली, रूपादि का अधिकरण (=आधार) या आश्रय है । आश्रयाश्रित सम्बन्ध को 'समवाय' कहा गया है । अतः समवाय सम्बन्ध से रूपादि गुणों का जो आश्रय है वह पृथिवी है ।

गुण दो प्रकार के हैं - विशेषगुण और सामान्यगुण । विशेषगुण वे हैं, जिनसे वस्तु की पहचान हो सकती है । लक्षणों में ये ही गुण बतलाये जाते हैं । वे ये हैं -

रूपं गन्धो रसःस्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
बुद्ध्यादि भावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिको गुणः ॥

रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द - ये विशेष गुण हैं । इनसे भिन्न सब गुण, सामान्य गुण हैं ।

पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार विशेष गुण हैं । गन्ध तो है ही केवल पृथिवी में । रूप, रस स्पर्श ये जल, तेज, वायु के भी गुण हैं । किन्तु पृथिवी के उनसे विलक्षण हैं ।

१. रूप : - पृथिवी में रूप सातों प्रकार का है - शुक्ल, नील, पीत, हरित, रक्त, कपिश (=बादामी, भूरा) और चित्र । रूपत्व के शुक्लत्व आदि अवान्तर भेद समझे जाते हैं और 'शुक्लत्व' के भास्वर (=परप्रकाशक)' अस्वच्छ अभास्वर, स्वच्छ' ये अवान्तर भेद हैं । जिनमें से पृथिवी में अभास्वर, अस्वच्छ रूप माना जाता

है। अग्नि में 'शुक्ल भास्वर' (=परप्रकाशक) और जल में 'स्वच्छ अभास्वर'।

२. रस :- रसना-ग्राह्य गुण रस छहों प्रकार का पृथिवी में होता है - मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त। कुछ व्याख्याता अनुभवगम्य सातवें 'चित्र' रस को भी स्वीकार करते हैं।

मधुर रस दो प्रकार का होता है - व्यक्त (=स्पष्ट प्रखररूप में अनुभव होना) और अव्यक्त। इनमें से पृथिवी में व्यक्त और जल में अव्यक्त होता है।

३. गन्ध :- गन्धमात्र का समवायिकारण या आश्रय केवल पृथिवी ही है। अन्य किसी द्रव्य में यह गुण नहीं होता। गन्ध दो प्रकार का है - सुरभि (=सुगन्ध, रुचिकर, मनोहर) और असुरभि (=दुर्गन्ध, अरुचिकर)।

४. स्पर्श :- त्वगिन्द्रिय-ग्राह्य स्पर्श तीन प्रकार का होता है - उष्ण, शीत, अनुष्णशीत। इनमें उष्णस्पर्श-गुण अग्नि में; शीतस्पर्श-गुण जल में; अनुष्णशीतस्पर्श-गुण वायु और पृथिवी में होता है। इनमें वायु का स्पर्श, स्पर्शान्तर - व्यञ्जक (=अन्य स्पर्श को प्रकट करने वाला) होता है। जैसे - स्नान किये हुए व्यक्ति के गीले शरीर पर वायु का स्पर्श, देह-सम्पृक्त जल के शीत स्पर्श का अभिव्यञ्जक होता है। किन्तु पृथिवी में स्पर्श पाकज एवं स्पर्शान्तर - अव्यञ्जक समझा जाता है। पृथिवीगत अनुष्णशीत स्पर्श के भी मृदु, मध्य, कठोर आदि अनेक अवान्तर भेद वस्तुओं की रचना के आधार पर हो सकते हैं।

पूर्वोक्त भेदक (=विशेष) १६ गुणों से अतिरिक्त आठ - संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और गुरुत्व गुण 'सामान्य गुण' कहलाते हैं, जो कि अधिकांश द्रव्यों में रहते हैं। जिस प्रकार गन्ध केवल पृथिवी का अन्यनिरपेक्ष गुण है, वैसे रूप आदि नहीं। किन्तु रूप आदि से पूर्व 'विविध' आदि विशेषण लगा दें तव वे भी पृथिवी के स्वतन्त्र लक्षण हो सकते हैं। यथा - विविध-रूपवती पृथिवी, विविध-रसवती या विविध-स्पर्शवती पृथिवी इत्यादि।

उद्देशक्रम से सर्वप्रथम पृथिवी द्रव्य का वैधर्म्य बताते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है -

(प्रश.) पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी ।

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती । एते च गुणविनिवेषाधिकारे रूपादयो गुणविशेषाः सिद्धाः ।

चाक्षुषवचनात् सप्त सङ्ख्यादयः । पतनोपदेशाद् गुरुत्वम् । अद्भिः सामान्यवचनाद् द्रवत्वम् । उत्तरकर्म-वचनात् संस्कारः । क्षितावेव गन्धः । रूपमनेकप्रकारं शुक्लादि। रसः षड्विधो मधुरादिः । गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च । स्पर्शोऽस्या अनुष्णशीतत्वे सति पाकजः ।

पृथिवीत्व रूप जाति-विशेष के समवाय-सम्बन्ध से 'पृथिवी' नामक द्रव्य सिद्ध होता है ।

यह पृथिवी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, (नैमित्तिक-) द्रवत्व और स्थिति-स्थापक संस्कार इन चौदह गुणों से युक्त है । और ये चौदह रूपादि गुणविशेष, द्रव्यों में गुणों का वर्णन करने वाले द्वितीय अध्याय में बतलाए होने से पृथिवी में सिद्ध हैं ।

"संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ पत्वापरत्वे कर्म च रूपि - द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि" (वैशे.४/१/११) इस सूत्र में संख्यादि सात गुणों को रूपवान् द्रव्यों में समवेत होने के कारण चाक्षुष कहा है । इससे पृथिवी में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व ये सात गुण सिद्ध समझने चाहिए ।

"संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् (वैशे.५/१/७) इस सूत्र से पतन (=गिरने) में 'गुरुत्व' को हेतु कहने से पृथिवी में 'गुरुत्व' गुण सिद्ध होता है।

"सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां पार्थिवानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्" (वैशे.२/१/६) इस सूत्र से घृत आदि का अग्नि के संयोग से जल के सदृश द्रवत्व कहने से पृथिवी में द्रवत्व सिद्ध होता है।

"नोदनादाद्यमिषोः कर्म, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च" (वैशे. ५/१/१७) इत्यादि सूत्रों द्वारा शर प्रभृति पार्थिव द्रव्य के उत्तर कर्म में संस्कार को कारण कहने से पृथिवी में (वेग और स्थितिस्थापक) संस्कार गुण भी सिद्ध होता है।

उक्त १४ गुणों में से "व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः' (वै.२/२/२) के अनुसार पृथिवीत्व का व्यवस्थापक विशेष गुण 'गन्ध' पृथिवी में ही है।

शुक्ल आदि (= नील, पीत, रक्त, कपिश, हरित, चित्र) अनेक प्रकार का रूप नामक गुण भी पृथिवी में ही है।

मधुर आदि (= अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त) छह प्रकार के रस भी पृथिवी में ही हैं।

पूर्वोक्त पृथिवी का गन्ध गुण दो प्रकार का होता है - सुरभि (=सुगन्ध) और असुरभि (=दुर्गन्ध)।

इस पृथिवी का स्पर्श गुण अनुष्णाऽशीत होता हुआ, पाकज (=तेजः संयोग से परिवर्तनशील) होता है॥

(प्रश.) सा च द्विविधा - नित्या चानित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या। सा च स्थैर्याद्यवयवसन्निवेशविशिष्टाऽपरजातिबहुत्वोपेता शयनासनाद्यनेकोपकारकरी च।

वह पृथिवी दो प्रकार की है - नित्य और अनित्य। इसमें परमाणुस्वरूप पृथिवी नित्य है, किन्तु कार्यस्वरूप पृथिवी अनित्य है। और वह कार्यरूप पृथिवी स्थैर्यादि (=घनत्व, शिथिलत्व आदि) अवयवों के विलक्षण संयोग से युक्त एवं (घटत्व-पटत्व आदि) अनेक अपर जातियों से युक्त है। वह कार्यरूप पृथिवी शय्या, आसन आदि कार्यों की उत्पादक होने से प्राणियों के अनेक उपकार करने वाली है। - (द्र.सूत्र - ४/१/१-५)

(प्रश.) त्रिविधं चास्याः कार्यम् - शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। तत्रायोनिजम् - अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते।

इस पृथिवी का शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का कार्य है। इनमें शरीर दो प्रकार का है - योनिज और अयोनिज। इनमें से अयोनिज शरीर सृष्टि के आरम्भ में देवों एवं ऋषियों के होते हैं, जो शुक्र और रज की अपेक्षा न करके योगज धर्मविशेष एवं परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं। - (द्र. सूत्र-४/२/१, ५-११)

(प्रश.) क्षुद्रजन्तूनां यातनाशराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते।

शुक्रशोणितसन्निपातजं योनिजम्। तद् द्विविधं - जरायुजमण्डजं च। मानुषपशुमृगाणां जरायुजम्। पक्षिसरीसृपाणामण्डजम्।

(दूसरे प्रकार के अयोनिज शरीर) कीड़े-मकोड़े, मच्छर इत्यादि तुच्छ प्राणियों के, विशेष यातना (=दुःख) भोगने वाले शरीर, (दुःखसाधक) अधर्मविशेष एवं परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं।

वीर्य और रजः के सन्निपात (=मिलन) से उत्पन्न शरीर योनिज कहाते हैं। वह योनिज शरीर दो प्रकार का है - जरायुज (=गर्भाशय की झिल्ली से उत्पन्न) और

अण्डज (=अण्डे से उत्पन्न) । मनुष्य, पशु (-ग्राम्य चतुष्पाद्), मृग (=आरण्य चतुष्पाद्) आदि प्राणियों के शरीर जरायुज हैं एवं चिड़िया आदि पक्षियों और सरकने वाले साँप आदि जीवों के शरीर अण्डज होते हैं ॥

पृथिवी का शरीररूप कार्य बताकर अब इन्द्रियरूप कार्य बताते हैं -

(प्रश.) इन्द्रियं गन्धव्यञ्जकं सर्वप्राणिनां जलाद्यनभिभूतैः पार्थिवावयवैरारब्धं घ्राणम् ।

इन्द्रिय रूप पृथिवी, सभी प्राणियों के गन्ध को प्रकट करने वाला; जिसके अवयवों का सामर्थ्य जल, तेज आदि से अभिभूत (=नष्ट) नहीं होता, ऐसे अवयवों से बना हुआ, 'घ्राण' नामक अन्वर्थक इन्द्रिय है । अर्थात् 'जिघ्रति अनेन इति घ्राणः' (=प्राणी जिससे सूंघता है, वह इन्द्रिय घ्राण है ।) [प्राणियों के अदृष्टवश घ्राणेन्द्रिय के निर्माण में पार्थिव तत्त्व की प्रधानता होने से इसे पार्थिव मान लिया जाता है ।] - (द्र.वैशे. ८/२/५) ।

अन्त में पृथिवी का विषयरूप कार्य बताते हैं -

(प्रश.) - विषयस्तु द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धस्त्रिविधो - मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः। तत्र भूप्रदेशाः प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकाराः । पाषाणा उपलमणिवज्रादयः । स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति ॥

और विषयरूप पृथिवी द्रव्य द्व्यणुक से त्रसरेणु, चतुरणुक इत्यादि क्रम से बना हुआ, तीन प्रकार का है - १. मृत्तिका, २. पाषाण (=पत्थर) और ३ - स्थावर (=एकत्र स्थिति वाले वृक्ष आदि) ।

उन तीनों में से भूमिरूप प्रदेश, दीवाल तथा ईंटें इत्यादि मृत्तिका के ही भेद हैं । पाषाणरूप पृथिवी साधारण पत्थर से लेकर मणि एवं वज्र (=हीरा) पर्यन्त है ।

तिनके, औषधियाँ, लता, अवतान (-केवड़ा, मटर आदि के समान फैलने वाले) तथा वनस्पतियाँ स्थावर विषय रूप पृथिवी है ॥

इति पृथिवीनिरूपणम्

प्रसंग :- अब क्रमप्राप्त द्वितीय द्रव्य जल का लक्षण (= स्वरूप) बताते हैं -

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥ (५०)

[आपः] आपः (=जल नामक द्विताय द्रव्य) [रूपरसस्पर्शवत्यः] रूप, रस, स्पर्श वाले [द्रवाः] द्रव (=वहने वाले) (और) [स्निग्धाः] स्निग्ध (=स्नेह=संश्लेष) धर्मवाले हैं ।

'आपः' शब्द प्रथमाबहुवचनान्त है ।

जल में **रूप** - शुक्ल (-अभास्वर - स्वच्छ) है ।

रस - मधुर अव्यक्त है । **स्पर्श-**शीत है ।

जल में इन तीनों से भिन्न प्रकार के रूप, रस, स्पर्श की अनुभूति अन्य - पृथिवी, अग्नि आदि के सम्पर्क से होती है । वह नैमित्तिक है, स्वाभाविक नहीं । जैसे - मीठा, नमकीन, लाल या गर्म जल ।

द्रवत्व - यह गुण जल में सांसिद्धिक (=स्वाभाविक =अनैमित्तिक) है । जब कि पृथिवी (=पार्थिव पदार्थों) में अग्निसंयोग (=बाह्यनिमित्त) से माना जाता है । अतः सांसिद्धिक द्रवत्व का समवायिकारण या आश्रय जल है ।

स्नेह - यह जल में निरपेक्ष विशेष गुण है । इस गुण के कारण चून (=आटा), मिट्टी, सीमेंट आदि विखरी हुई वस्तु पिण्डीभूत (=संगृहीत) हो जाती है। विखरी वस्तु को संश्लिष्ट करने की क्षमता घृत, तैल आदि के चिकनेपन (रूपी

स्नेह) में नहीं होती । अपितु इनसे तो खरत्तापन (पिण्डीभाव में शैथिल्य) आता है । अतः स्नेह (संश्लेष धर्म) केवल जल का गुण है ॥ २ ॥

५ - जल-निरूपणम्

क्रम - प्राप्त जल द्रव्य का लक्षण करते हुए, सूत्र के समान जल के वाचक अप्शब्द का प्रयोग करके प्रशस्तपाद कहते हैं -

(प्रश०) :- अप्त्वाभिसम्बन्धादापः ।

रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व-स्नेह-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-संस्कारवत्यः पूर्ववदेषां सिद्धिः ।

शुक्लमधुरशीता एव रूपरसस्पर्शाः ।

स्नेहोऽम्भस्येव, सांसिद्धिकञ्च द्रवत्वम् ।

जलत्वरूप, द्रव्यत्व-जाति-विशेष के समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध 'जल' नामक द्रव्य सिद्ध होता है । ['अप्' शब्द 'अप्सुमनस्' (लिंगा.२९ सूत्र) से नित्यबहुवचनान्त स्त्रीलिंग में है ।]

यह जल - रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व (-सांसिद्धिक), स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व तथा (वेग) संस्कार इन चौदह गुणों से युक्त है । पृथिवी की तरह जल में भी सूत्र के वाक्यों से इन १४ गुणों की सिद्धि समझ लेनी चाहिए । पृथिवी के गन्ध गुण के स्थान पर जल में **स्नेह** गुण विशेष है । शेष पृथिवी के समान हैं । (द्र. - वैशे. सूत्र - २/१/२) ।

जल के अन्दर रूपों में से शुक्ल (-अभास्वर, स्वच्छ) रूप ही है; रसों में मधुर (-अव्यक्त) रस ही है एवं स्पर्शों में शीत स्पर्श ही है । - (द्र. - २/२/५) ।

स्नेह (= श्लेषण, जोड़ने की क्षमता, मिट्टी - चून आदि को पिण्डीभूत करने की शक्ति) एवं सांसिद्धिक (= स्वाभाविक) द्रवत्व ये दोनों गुण केवल जल में ही रहते हैं ।

अब पृथिवी के समान जल के भी अवान्तर-भेद बताते हैं -

(प्रश.) : ताश्च पूर्ववद् द्विविधाः नित्यानित्यभावात् ।

तासां तु कार्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् । तत्र शरीरमयौनिजमेव वरुणलोके, पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।

इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रसव्यञ्जकं विजात्यनभिभूतैर्जलावयवैरारब्धं रसनम् ।

विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादिः ॥

वह जल भी पृथिवी के समान नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है ।

शरीर, इन्द्रिय और विषय नाम से उस कार्यरूप (=अनित्य) जल के भी तीन भेद हैं ।

इनमें जलीय शरीर अयोनिज ही होते हैं; ये शरीर वरुणलोक (=जल-रूप संसार) में ही (मछली, काई, अमीबा आदि के रूप में) प्रसिद्ध हैं; और पार्थिव द्रव्य के अवयवों के सम्बन्ध से सुख-दुःख आदि की अनुभूति में समर्थ होते हैं ।

जिससे प्राणियों को मधुर आदि रस का प्रत्यक्ष होता है, वह जलीय इन्द्रिय है; जो विरोधी द्रव्यों की शक्ति से अनभिभूत (=अपराजित) जल के अवयवों से बनती है अर्थात् जिसके निर्माण में जलीय तत्त्व की प्रधानता है । इसका अन्वर्थक नाम है 'रसना' - (रसयति, रसं गृह्णातीति 'रसनम्') । नदी, समुद्र, बर्फ, ओले, पाला इत्यादि विषयरूप जल हैं ॥ (द्र. - सूत्र ४/२/१; ५/२/८, ८/२/६ इत्यादि) ।

३८- (५१) - स्नेहप्रकरणम् (=स्नेहवैधर्म्यम्)

द्रवत्व के पश्चात् क्रमप्राप्त 'स्नेह' गुण का प्रशस्तपाद वर्णन करते हैं -

(प्रश.) : स्नेहोऽपां विशेषगुणः । संग्रहमृजादिहेतुः । अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः ॥

केवल जल में ही रहने वाला विशेषगुण 'स्नेह' है । यह स्नेह संग्रह (=बटोरने, कणों को मिलाने) अर्थात् सत्तू, आटा, सीमेंट, मिट्टी आदि चूर्णरूप पदार्थों को पिण्डाकार बनाने एवं स्वच्छता आदि (=मृदुता) का कारण है । [वस्तुतः किसी चूर्ण के पिण्ड, पत्थर, लकड़ी, लोहा आदि में जो विशेष संघात है, उसका कारण आप्य (=जलीय) अणु-संयोग ही है । पश्चात् अग्नि का भी सीमित संयोग होने पर वह संघात और कठोरतर हो जाता है ।

इसी प्रकार आटा, सत्तू, सीमेंटी, मिट्टी के चूर्ण के साथ सीमित जल का संयोग होने पर तो वह चूर्ण पिण्ड बन सकता है; किन्तु बहुत अधिक जल का प्रयोग होने पर वह जल उस चूर्ण की सफाई का साधन होता है ।] इस स्नेह की भी गुरुत्व के समान नित्यता और अनित्यता की व्यवस्था समझनी चाहिए । अर्थात् आप्य परमाणुओं में स्नेह नित्य एवं कार्यरूप जल में अनित्य होता है (=पानी के नाश के साथ नष्ट हो जाता है) ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त तेजः (=अग्नि) का लक्षण (=स्वरूप) बताते हैं -

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥ (५१)

[तेजः] अग्नि नामक द्रव्य [रूपस्पर्शवत्] रूप और स्पर्शगुण वाला है ।

तेज में शुक्ल-भास्वर (=परप्रकाशक) रूप और उष्णस्पर्श रहते हैं । अर्थात् भास्वर-शुक्ल रूप एवं उष्ण-स्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय तेज है ।

कहीं पर ये रूप और स्पर्श प्रकट (=उद्‌भूत) रहते हैं; जैसे सौर तेज या जलते काष्ठ की अग्नि। कहीं रूप और स्पर्श दोनों अनुद्‌भूत रहते हैं; जैसे - नेत्र-तेज। कहीं रूप उद्‌भूत (=प्रकट) रहता है, स्पर्श नहीं; जैसे - चन्द्रप्रकाश। कहीं स्पर्श उद्‌भूत रहता है, रूप नहीं; जैसे - तप्त पत्थर अथवा भर्जन-कपालस्थ बालू आदि ॥ ३ ॥

६ - तेजोनिरूपणम्

अब क्रमप्राप्त तेज द्रव्य का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.):- तेजस्त्वाभिसम्बन्धात्तेजः। रूप-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत्। पूर्ववदेषां सिद्धिः। तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एव स्पर्शः।

तेजस्त्व जाति के साक्षात् समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्य का नाम तेज है। यह तेज नामक द्रव्य रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व (-नैमित्तिक) और (वेग-) संस्कार - इन ग्यारह गुणों से युक्त है।

पृथिवी और जल के समान इन ग्यारह गुणों की सिद्धि यथासम्भव सूत्रकार के वचनों या अनुमान प्रमाण से हो जाती है। (द्र. सूत्र - २/१/३, ७; ४/१/११; ५/१/१७)

इन गुणों में से तेज में रूपगुण शुक्ल भास्वर (= परप्रकाशक) होता है और स्पर्श गुण केवल उष्ण ही होता है। (द्र. - सूत्र - २/२/४)।

(प्रश.) - तदपि द्विविधमणुकार्यभावात्। कार्यञ्च शरीरादि त्रयम्। शरीरमयोनिजमेवादित्यलोके। पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्।

यह तेज भी परमाणु (= नित्य) और कार्य (= अनित्य) के भेद से दो प्रकार का है। और कार्यरूप तेज शरीर, इन्द्रिय एवं विषय-भेद से तीन प्रकार का है। तैजस शरीर भी (सूक्ष्मजीवाणु वायरस आदि के रूप में) अयोनिज ही हैं, एवं आदित्यलोक में [अत्युष्ण स्थान पर, मनुष्य पशु आदि के लिए असह्य उष्णता (150°C तक) में भी जीवित रह सकने वाले (जीवाणु / वायरस आदि)] सम्भव हैं। ये पार्थिव अवयवों के सम्बन्ध से सुख-दुःख आदि के अनुभव की क्षमता प्राप्त करता है।

(प्रश.)- इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रूपव्यञ्जकमन्यावयवानभिभूतैस्तेजोऽवयवैरारब्धं चक्षुः ।

विषयसंज्ञकं चतुर्विधम् - भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च ।तत्र भौमं काष्ठेन्धनप्रभवमूर्ध्वज्वलनस्वभावं पचनदहनस्वेदनादिसमर्थम् । दिव्यमबिन्धनं सौरविद्युतादि । भुक्तस्याहारस्य रसादिपरिणामार्थमुदर्यम् । आकरजञ्च सुवर्णादि । तत्र संयुक्तसमवायाद्रसाद्युपलब्धिरिति ।।

सभी प्राणियों को शुक्ल आदि रूप का प्रत्यक्ष जिससे होता है, वही तैजस इन्द्रिय है। जिनकी शक्ति विजातीय द्रव्यों की शक्ति से पराभूत नहीं हुई है, ऐसे तैजस प्रधान अवयवों से तैजस इन्द्रिय उत्पन्न होती है; उस इन्द्रिय का नाम 'चक्षु' है।

विषय नामक तेजद्रव्य चार प्रकार का है - भौम (=पृथिवी में उत्पन्न), दिव्य (=आकाश में उत्पन्न), उदर्य (=जठर में उत्पन्न), आकरज (=खान में उत्पन्न)। उनमें से लकड़ी आदि इन्धन से उत्पन्न हुआ; ऊपर की ओर प्रज्चलित होना जिसका स्वभाव है; पकाना, जलाना एवं वस्तुओं के काठिन्य को दूर करके कोमल बनाने तथा विस्फोट आदि का जिसमें सामर्थ्य है, ऐसा 'भौम' तेज है।

जिसमें 'अप्' अर्थात् जल इन्धन का काम करे, ऐसे विषय रूपी तेज को 'दिव्य'- तेज कहते हैं । इसके अन्तर्गत सूर्य-किरणें, विद्युत् इत्यादि आ जाते हैं । - (द्र. - ५/२/८, ९)

खाये हुए अन्न आदि आहार का रसादि रूप से परिणाम (=परिपाक, पाचन) करने वाला तेज ही 'उदर्य'-तेज है ।

खान से उत्पन्न होने वाला सुवर्ण, रजत, लोहा, सीसा, ताँवा आदि धातु 'आकरज' विषय है । उनमें रस इत्यादि गुणों की उपलब्धि उन तैजस विषयों में संयुक्तसमवाय-सम्बन्ध से पृथिवी आदि के भाग समवेत होने से होती है । इस प्रकार तेज का निरूपण भी समाप्त हुआ ।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त वायु का लक्षण (=स्वरूप) बताते हैं -

स्पर्शवान् वायुः ।। ४ ।। (५२)

[वायुः] वायु (नामक चतुर्थ द्रव्य) [स्पर्शवान्] स्पर्शगुण वाला है ।

स्पर्शगुण का समवायिकारण या आश्रय वायु है । वायु का स्पर्शगुण अनुष्णशीत, स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक तथा अपाकज होता है । जबकि पृथिवी का स्पर्श पाकज, अनुष्णशीत होता है । वह अन्य स्पर्श का अभिव्यञ्जक नहीं होता ।

इन चार सूत्रों में चार द्रव्यों के लक्षण बताए हैं । कुछ व्याख्याताओं का विचार है, कि इन चारों द्रव्यों में एक-एक ही गुण है - वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस और पृथिवी में गन्ध । इनमें उत्तरोत्तर पूर्व सूक्ष्म द्रव्य का गुण आ जाता है । अर्थात् वायु में स्पर्श गुण है । तदनन्दर तेज में रूप, स्पर्श । जल में रस, रूप, स्पर्श । पृथिवी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श ।

किन्तु वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार ये सब गुण पृथिवी आदि के अपने ही हैं। पृथिवी के परमाणु में चारों गुण हैं, उनके कार्य में भी। ये किसी अन्य द्रव्य से नहीं आते। इसी प्रकार जल में तीन और तेज में दो गुण अपने ही हैं, किसी अन्य के सम्पर्क से नहीं।

यदि पृथिवी का रस गुण जल से आया हुआ मानें, तो कारण गुण के अनुसार पृथिवी में केवल अव्यक्त मधुर रस ही होना चाहिए, जैसा कि जल में होता है। छह रस नहीं होने चाहिए। रूप केवल शुक्ल-भास्वर ही होना चाहिए, शुक्ल-अस्वच्छ-अभास्वर नहीं।

किन्तु ये सब होते हैं; क्योंकि ये उन द्रव्यों के अपने गुण हैं। आगे जो 'व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः' (वैशे.२/२/३) इत्यादि कहा है, उसका तात्पर्य है कि - यह गन्ध-गुण पृथिवी में ही विशेष रूप से स्थित रहता है, अन्य द्रव्यों में नहीं। इसी प्रकार जल में शीतलता तथा अग्नि में उष्णता व्यवस्थित (=विशेष रूप से स्थित) होती है। अन्यों में ये गुण संसर्ग से भी आ जाते हैं। जैसे - जल में विविध रस एवं रंग पृथिवी के संसर्ग से आ जाते हैं। वायु में उष्णता, शीतता क्रमशः अग्नि और जल के कारण प्रतीत होती है। अर्थात् स्थूल के गुण सूक्ष्म में भी आ जाते हैं। यह नियम नहीं कि पृथिवी आदि में ही जलादि के गुण आते हैं।

अतः इन चारों सूत्रों में वर्णित गुण द्रव्यों के अपने अपने ही हैं ॥ ४ ॥

प्रसंग :- क्या गन्धादि गुण आकाश द्रव्य में भी होते हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥ (५३)

[ते] वे (=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श नाम वाले चार गुण) [आकाशे] आकाश में [न] नहीं [विद्यन्ते] होते।

सूत्र में 'आकाश' शब्द काल आदि शेष सब द्रव्यों का उपलक्षण है । आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन सभी द्रव्यों में रूपादि पूर्वोक्त गुण नहीं होते ।

(शंका) - आकाश में जो नीलापन दिखाई देता है, क्या वह आकाश का रूप गुण नहीं ?

(समाधान) - जो नीला रूप आकाश में दीखता है, वह आकाश का रूप नहीं । किन्तु आकाश में रहनेवाले जलकणों का है ।। ५ ।।

प्रसङ्ग : (शंका) - द्रवत्व गुण जल में समवेत बताया है; किन्तु वह तो घृत, तैल, मोम आदि पार्थिव तत्त्वों में भी देखा जाता है । सो क्या यह अतिव्याप्ति दोष नहीं है ? (समा.) नहीं; क्योंकि -

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ।। ६ ।। (५४)

[सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानाम्] घृत, लाख, मोम इन वस्तुओं का [अग्निसंयोगात्] अग्नि के संयोग से [द्रवत्वम्] द्रवत्व गुण [अद्भिः] जलों के साथ [सामान्यम्] समान धर्म है ।

जल में द्रवत्व सांसिद्धिक (=स्वाभाविक, उसकी रचना के साथ ही) होता है । परन्तु घृत आदि में अग्नि के संयोग से द्रवत्व है । अतः घृत आदि का द्रवत्व नैमित्तिक है । अर्थात् जल और घृत आदि के द्रवत्व में सांसिद्धिक-नैमित्तिक भेद तो रहता ही है ।

यहाँ 'अग्निसंयोगात्' पद अनुद्भूत अनुष्णस्पर्श वाले तेज का उपलक्षण है । इससे साक्षात् अग्नि का संयोग न होने पर भी तेज धूप, शरीर की गर्मी आदि के सम्पर्क से घृत आदि का पिघल जाना सम्भव है ।। ६ ।।

प्रसंग :- रांगा, सीसा आदि में भी द्रवत्व देखा जाता है, तो क्या द्रवत्व रांगा

आदि का गुण नहीं ? सूत्रकार इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥ (५५)

[त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानाम्] [रांगा, सीसा, लोहा, चाँदी सोना आदि धातुओं का (अग्निसंयोगात्) अग्नि के संयोग से [द्रवत्वम्] द्रवत्व गुण [अद्भिः] जलों के साथ [सामान्यम्] समान धर्म है ।

सूत्र २/१/२ में जल का लक्षण 'सांसिद्धिक (=स्वाभाविक) द्रवत्व का समवायिकारण अभिप्रेत है । अतः त्रपु आदि में नैमित्तिक द्रवत्व होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं है ।

गत सूत्र से 'अग्निसंयोगात्' की अनुवृत्ति सम्भव होने पर भी पुनः पाठ से यह प्रकट होता है, कि त्रपु आदि में द्रवत्व गुण साक्षात् प्रखर-अग्नि-संयोग से होता है, घृतादि के समान तेज धूप आदि से नहीं । यदि घृत आदि के समान त्रपु आदि भी तेज-धूप आदि से ही पिघल जाते तो इस सूत्र के त्रपुसीस आदि शब्दों को भी गत सूत्र में पढ़ देते ।

सूत्र में पठित 'त्रपु' आदि धातुएं तांबा, कांसा, पीतल, पारा आदि समस्त पिघल सकने वाली धातुओं का उपलक्षण है ।

अज्ञातकर्तृक व्याख्या में '...सुवर्णादीनाम्.' पाठ है । उसके अनुसार 'आदि' शब्द से अनुक्त धातुओं का संग्रह हो जाता है ।

वैशेषिक के प्रायः सभी व्याख्याकारों ने त्रपु आदि धातुओं को तैजस (=आग्नेय) मानकर व्याख्या की है । किन्तु सूत्रकार ने कहीं पर स्वयं इनको तैजस नहीं कहा । अतः यह विचारणीय है, कि इन धातुओं को तैजस मानें या न मानें ।

१. कुछ विचारकों का सुझाव है, कि इन धातुओं को विद्युत् व ऊष्मा

(=तेज) का सुचालक (Good conductor) होने से तैजस मानना चाहिए। जबकि काष्ठादि ऊष्मा एवं विद्युत् के कुचालक (Bad conductor) होते हैं।

(शंका) - क्यों जी ! सुचालकता तो पानी में भी होती है; क्योंकि पानी में भी ऊष्मा एवं विद्युत् का संचार होता है। तो क्या पानी आदि को भी तैजस द्रव्य मानें ?

(समा.) - हाँ, यद्यपि पानी तेल आदि में भी ऊष्मा एवं विद्युत् का संचार होता है, किन्तु इन द्रव्यों में यह गति नाममात्र की / अत्यल्प होती है।

जैसेः -

THE RMEAL CONDUCTIVITY OF MATERIALS

[Measured in W/(mc) = Watts / (Meter x degree centigrade)]

सुवर्ण (gold) --- ---- 312 W/(mc)

चाँदी (silver) --- ---- 429 W/(mc)

एल्सुमिनियम् (Aluminium) --- ---- 250 W/(mc)

ताँबा (Copper) --- ---- 401 W/(mc)

लोहा (Iron) --- ---- 80 W/(mc)

पानी (Water) --- ---- 0.58 W/(mc)

खनिज तेल (Machine lubricating Oil) --- ---- 0.15 W/(mc)

जैतून तिल आदि का तेल (Olive Oil) --- ---- 0.17 W/(mc)

ELECTRIC CONDUCTIVITY OF MATERIALS

(Muasured in S/m - Siemens / meter; at 20^0c

[EE is Scientific notation. so, 10EE 7=10 to the power of 7=10^7]

सुवर्ण (gold) --- ---- 4.52×10^7 = 45200,000 s/m

चाँदी (silver) --- ---- 6.30×10^7 = 63000 000 s/m

ताँबा (copper) --- ---- 5.96×10^7 = 59600 000 s/m

एल्सुमिनियम् (Aluminium) --- ---- 3.5×10^7 = 35000000 s/m

लोहा (Iron) --- ---- $1 \times 10^{7} = 100\,00\,000$ s/m

समुद्री जल (Sea Water) --- ---- 4.8 s/m

पेय जल (Drinking Water) --- ---- from $5 \times 10^{-'+}$ =5/10000=005s/mto.05s/m

आसुत जल (Deionized Water) --- --- $5.5 \times 10^{-6} = 5.5/1000000$=00055 s/m

तेल / Oil (Kerosenes) = From 1×10^{-12} = .00000000001 s/m to 20×10^{-12}

= .0000000002 s/m

इस प्रकार सोना, चाँदी आदि ऊष्मा एवं विद्युत् के **(Super) Good conductor** हैं। २. - दूसरा हेतु है, कि - **"पार्थिवं लाक्षादि अग्निसंयोगाद् भस्मतामापद्यमानं दृष्टम्। सुवर्णादौ च भृशमप्यग्निसंयोगातिशयेन द्रवत्वमेव"**। - (प्रशस्तपाद. पर व्योम-शिवाचार्य की 'व्योमवती' - पृष्ठ - ८७ - सम्पूर्णा. वि.वि., प्रथम सं. १९८३ ई.)

अर्थात् लाख, मोम आदि द्रव्य पार्थिव हैं; क्योंकि विशेष अग्नि के संयोग से ये भस्म या गैस रूप में बदल जाते हैं; किन्तु स्वर्ण, लोहा आदि में अग्नि से बहुत तपाने पर भी इनका तरलरूप ही रहता है (ये गैसरूप में नहीं बदलते)।

इसी प्रकार 'न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली' के तेजोनिरूपण प्रकरण में कहा है - **"सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धकेऽप्यत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी।"** अर्थात् सुवर्ण तैजस (=आग्नेय) द्रव्य हैं; क्योंकि किसी बाधक कारण के न होने पर भी अग्नि का अत्यन्त संयोग होने पर भी इसका द्रवत्व नष्ट नहीं होता; जिसका द्रवत्व इस प्रकार नष्ट न होने वाला नहीं होता वह आग्नेय नहीं होता, जैसे मोम आदि पार्थिव द्रव्य।

समीक्षा - यद्यपि सूत्रकार महर्षि कणाद ने स्पष्ट शब्दों में कहीं सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि को तैजस (=आग्नेय) द्रव्य नहीं कहा है; किन्तु कुछ व्याख्याकारों ने सुवर्ण आदि को तैजस (=आग्नेय) मानने में हेतु यही है, कि भीषण

ज्वालाओं में भी स्वर्ण आदि द्रवरूप में ही परिवर्तित होते है, ये कभी गैस रूप में परिवर्तित नहीं होते ।

किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक इन धातुओं की द्रवावस्था के साथ-साथ इनका गैस रूप में बदलना भी स्वीकार करते हैं । वे गलनांक शब्द से उस अवस्था का निर्देश करते हैं, जब ये धातुएँ द्रवरूप में बदलने लगती हैं, और क्वथनांक शब्द से उस अवस्था को कहते हैं, जब ये धातुएँ गैस बनकर उड़ने लगती हैं । सभी धातुओं के गलने या गैस बनने का निश्चित तापमान होता है । यहाँ कुछ प्रमुख धातुओं के गलनांक एवं क्वथनांक दिखा रहे हैं -

धातु (Metal)	गलनांक (Melting Point)	क्वथनांक (Boiling Point)
सीसा (Lead)	३२७°C	१७४०°C
ताँबा (Copper)	१०८५°C	२५६७°C
लोहा (Iron)	१५३९°C	२७५०°C
पारा (Mercury)	३९°C	३५७°C
सुवर्ण (Gold) Aurum	१०६४°C	२९६६°C
यूरेनियम् (Uranium)	११३२°C	३८१८°C
थोरियम् (Thorium)	१७५०°C	४७९०°C
टंग्स्टन् (Tungsten)	३४१०°C	५६६०°C

इससे सिद्ध होता है, कि वे सभी धातु, जो द्रव में बदल सकते हैं, वे और अधिक (=निश्चित) ताप देने पर गैस रूप में भी बदल सकते हैं । इसलिए इन धातुओं को गैसरूप में न बदलने के आधार पर तैजस नहीं कह सकते ।

ऐसा प्रतीत होता है, कि वैशेषिक सूत्रों के बाद के मध्यकाल में लोग इन धातुओं के गैस में बदले योग्य अपेक्षित ऊष्मा पैदा करने की असमर्थता के कारण इन धातुओं को तैजस कहने लगे और वैसा ही सिद्धान्त भी बना लिया, कि ये धातुएँ अत्यन्त गर्म करने पर भी गैस रूप में न बदलने से तैजस (= आग्रेय = अग्निस्वरूप) ही मान्य हैं ।

स्वर्ण-दक्षिणा के आकर्षण से याज्ञिकों ने भी इन सुवर्ण आदि को तैजस मान लिया । शतपथ में भी कहा है, कि -

'अग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद् हिरण्यं दक्षिणा ।' - (शत.२/२/३/२८)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है -

'तस्याग्ने रेतः परापतत् तद् हिरण्यमभवत्' - (तै.ब्रा.-१/१/३/८)

वस्तुतः अनेक प्रसंगों में सुवर्ण के रूप की कुछ समानता से हिरण्य/सुवर्ण कहा है । जैसे -

'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' - (शत. ६/७/१/२; ७/४/१/१५; ऐत. ७/१२; गो. २/५/८; तां.६/६/ १०: तै. सं. ५/५/३/४) अर्थात् चमकीले सूर्यादि सितारे सुवर्ण (सदृश) ही हैं ।

निरुक्त-शास्त्र में स्पष्ट कहा है -

'अग्निरिति रूपोपमा' - (निरु. ३/३/१६/४)

अर्थात् अग्नि के लिए रूप की उपमा का प्रयोग होता है । जैसे -

'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृग् अपांनपात् सेदु हिरण्यवर्णः' - (ऋग्. २/३५/१०) । अर्थात् (सः) वह (अपांनपात्) अग्नि (हिरण्य-रूपः) 'हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्' सुवर्ण के समान तेजस्वी (हिरण्य-सन्दृक्) सुवर्ण के समान दीखने वाला (स,

इत्, उ) और वही अग्नि (हिरण्य-वर्णः) सुवर्ण के समान रंग वाला है ।

निरुक्त में अन्यत्र भी कहा है - **'हिरण्यं कस्मात् ? हित-रमणं भवतीति वा'** - (निरु.२/३/१)

अर्थात् हिरण्य (=सुवर्ण) को हिरण्य इसलिए कहते हैं, कि वह हितकारक (=उपयोगी) एवं रमणीक (=सुन्दर, आकर्षक) होता है । इसी प्रकार सूर्य आदि ज्योतियाँ भी हितकारक एवं रमणीक होती है । इस सादृश्य से यदि ज्योति को हिरण्य या हिरण्य को ज्योति कहें, तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

वस्तुतः वैज्ञानिकों के मत में कोई ऐसा दृश्य पदार्थ नहीं दीखता, जो गैस में न बदला जा सके ।

सुवर्ण आदि की अन्य पार्थिव द्रव्यों से मिलती जुलती आणविक संरचना भी है । जैसे -

सुवर्ण का भार-१९७ तथा इलैक्ट्रो-संख्या-७९ है । प्लेटिनम् का भार-१९५ तथा इलैक्ट्रो सं. ७८ है । पारा का भार - २०० तथा इलैक्ट्रो. सं. ८० है ।

३. यदि सुवर्ण तैजस् द्रव्य ही है, तो उसका भास्वर-शुक्ल (=स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी प्रकाशित करने वाला) रूप होने से अन्धकार में भी सुवर्ण के रूप का ग्रहण होना चाहिए; क्योंकि उस समय कोई प्रतिबन्धक भी उपस्थित नहीं है । किन्तु वैसा नहीं होता । अतः सुवर्ण को भी अन्य पार्थिव (=सीसा, लोहा, तांबा, चाँदी आदि के समान) ही समझना चाहिए ।

इस विवेचन से ये सीसा, ताँबा, लोहा, चाँदी, सुवर्ण आदि पदार्थ पार्थिव ही सिद्ध होते हैं । किन्तु ऊष्मा एवं विद्युत् के सुचालक **(Super) Good Conductor** होने से इन्हें तैजस कह सकते हैं ।।

३७ (५०) - द्रवत्वप्रकरणम् (= द्रवत्ववैधर्म्यम्)

गुरुत्व- निरूपण के पश्चात् अब भाष्यकार क्रमप्राप्त द्रवत्व का वैधर्म्य बताते हैं-

(प्रश.) द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् । त्रिद्रव्यवृत्ति । तत्तु द्विविधम् - सांसिद्धिकम्, नैमित्तिकं च । सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्यगुणः । सांसिद्धिकस्य गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः ।

सङ्घातदर्शनात् सांसिद्धिकत्वमयुक्तमिति चेत्, न दिव्येन तेजसा संयुक्तानामाप्यानां परमाणूनां परस्परं संयोगो द्रव्यारम्भकः सङ्घाताख्यः, तेन परमाणुद्रवत्व-प्रतिबन्धात् कार्ये हिमकरकादौ द्रवत्वानुत्पत्तिः ।

नैमित्तिकं च पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजम् । कथम् ? सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टादीनां कारणेषु परमाणुष्वग्निसंयोगाद् वेगापेक्षात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यो विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् कार्यद्रव्यनिवृत्तावग्निसंयोगाद् औष्ण्यापेक्षात् स्वतन्त्रेषु परमाणुषु द्रवत्वमुत्पद्यते । ततस्तेषु भोगिनामदृष्टापेक्षाद् आत्माणुसंयोगात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यः संयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तस्मिंश्च रूपाद्युत्पत्तिसमकालं कारणगुणप्रक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यत इति ।।

स्यन्दन (=बहना, चूना, रिसना) - इस क्रिया का कारण ही 'द्रवत्व' नामक गुण कहाता है । यह द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज (द्र.२/१/७ की समीक्षा) इन तीन द्रव्यों में रहता है । यह दो प्रकार का है - १. सांसिद्धिक (=स्वाभाविक) और २ - नैमित्तिक (=निमित्त से उत्पन्न होने वाला) । सांसिद्धिक द्रवत्व जल का विशेष गुण है, और नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी तथा तेज का सामान्यगुण है । सांसिद्धिक द्रवत्व के नित्यत्व और अनित्यत्व का निश्चय गुरुत्व के समान समझना चाहिए । (अर्थात् गुरुत्व गुण के समान द्रवत्व जलादि परमाणु में नित्य, किन्तु कार्य जलादि में अनित्य होता है ।)

(शंका-)-(जलीय ओले, बर्फ आदि द्रव्यों में पृथिवी द्रव्य के समान) संघात (=काठिन्य) देखे जाने से जल का स्वाभाविक द्रवत्व गुण कहना अयुक्त है ।

(समाधान-)-यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि (सभी जलों में स्वाभाविक द्रवत्व की उपलब्धि होती है, अतः जल का द्रवत्व स्वाभाविक ही है । किन्तु) दिव्य विद्युत् तेज से संयुक्त जलीय परमाणुओं के परस्पर संयोग से जल में से हिमांक (=Freezing point = -4°C) तक उष्णता खींच लेने पर संघात नामक (Solid thing, solidity) हिम (=ice) ओले (= Hail) आदि कठिन जलीय द्रव्य की उत्पत्ति हो जाती है । इसी से जल का स्वाभाविक द्रवत्व प्रतिरुद्ध (= प्रतिवन्धित) हो जाने पर जल से उत्पन्न होने वाले पाला, ओले, बर्फ आदि में सांसिद्धिक द्रवत्व की उत्पत्ति नहीं हो पाती ।

विशेष :- आजकल प्रशीतक (=फ्रिज़) या वर्फखानों में विद्युत् रूप तेज के संयोग द्वारा जल में हिमांक (= Freezing point - 4°C) तक उष्णता हटाकर कृत्रिमरूप से भी बर्फ (=Ice) का निर्माण किया जाता है । 0°C से अधिक ताप मिलने पर बर्फ, ओले आदि पुनः जलरूप में वदल जाते हैं ।

(द्र. - **"अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्"** - वैशे. ५/२/८)

(अव नैमित्तिक द्रवत्व का वर्णन करते हैं -) पृथिवी और तेज इन दोनों में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । (प्र.) किस प्रकार ? (उ.) - घृत, लाह (=लाख), मधूच्छिष्ट (=मोम) आदि द्रव्यों के उत्पादक परमाणुओं में वेग की अपेक्षा करने वाले अग्निसंयोग के द्वारा क्रिया की उत्पत्ति होने पर परमाणुओं में विभाग उत्पन्न होते हैं, जिनसे (परमाणुओं में रहने वाले) द्रव्य (=द्व्यणुक) के उत्पादक संयोग का विनाश होता है । इस (= संयोगविनाश) से घृतादि कार्य - द्रव्यों के (काठिन्य के) नाश हो जाने पर उष्णता की अपेक्षा वाले अग्निसंयोग से स्वतन्त्र (= परस्पर असम्वद्ध) परमाणुओं में द्रवत्व उत्पन्न होता है ।

इसके पश्चात् उन (स्वतन्त्र परमाणुओं) में भोग करने वाले प्राणियों के अदृष्ट की अपेक्षा करने वाले आत्मा और अणु (रूप मन) के संयोग से क्रिया की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया से (द्रवत्व से युक्त परमाणुओं में द्रव्योत्पादक) संयोगों से द्व्यणुकादिक्रम से कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है। इस कार्यद्रव्य में रूपादि गुणों की उत्पत्ति के साथ ही कारणगुण के क्रम से द्रवत्व उत्पन्न होता है। (इति=) इस प्रकार द्रवत्व गुण का वर्णन पूरा हुआ ॥

प्रसंग :- गतसूत्र 'स्पर्शवान् वायुः' -२/१/४ (५२) में वायु का लक्षण कहा है। किन्तु वायु का नेत्र-प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल उसके प्रत्यक्ष-स्पर्श से वायु का अनुमान होता है। अतः सूत्रकार ने पहले, अनुमान का प्रकार बताया -

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेबालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥८॥ (५६)

[विषाणी] सींगों वाला [ककुद्मान्] ठाठ (=गर्दन के पीछे उभरे मांस-पिण्ड) वाला [प्रान्तेवालधिः] पूंछ के सिरे पर बालों के गुच्छे वाला होना [सास्नावान्] गले के नीचे लटकती खाल वाला होना [इति] यह सब [गोत्वे] गौ के होने में [दृष्टम्] दीखने वाला [लिङ्गम्] चिह्न है।

सींग, ठाठ आदि विशेषताओं से गाय की पहचान या अनुमान कर सकते हैं।

इसी प्रकार विविध विशेषताओं से अदृष्ट वस्तु को भी अनुमान से जान सकते हैं।

'प्रान्तेबालधि' में ''हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्'' (अष्टा. ६/३/८) से सप्तमी का अलुक् हुआ है।

'विषाणी' आदि शब्दों में प्रशंसार्थ में 'मतुप्' तथा मत्वर्थक प्रत्यय हैं ॥ ८ ॥

प्रसंग :- वायु को जानने के लिए पूर्वसूत्रोक्त अनुमान के प्रकार को वायु में घटाते हैं -

स्पर्शश्च वायोः ॥ ९ ॥ (५७)

[स्पर्शः] स्पर्श गुण [च] और (शब्द, धृति, कम्पन आदि) [वायोः] वायु द्रव्य के साधक हेतु हैं ।

चलते-फिरते समय जो हमारे शरीर को स्पर्श का अनुभव होता है, वह किसी द्रव्य के आश्रय से है; क्योंकि स्पर्श गुण है । यदि वह द्रव्य पृथिवी, जल या तेज होता तो उसका रूप भी होता । किन्तु उस स्पर्शवान् का रूप दृष्टि में नहीं आता । अतः तब स्पर्श गुण का आश्रय इन तीनों से विलक्षण कोई भिन्न पदार्थ है । वही वायु है ।

इसके अतिरिक्त शाखाओं या पत्तों के हिलने-डुलने (=कम्पन), सां सां की ध्वनि (=शब्द), चलने या दौड़ने आदि में रुकावट (=धृति) से भी वायु का अनुमान होता है । वायु के ये लिङ्ग, सूत्र में चकार से संगृहीत होते हैं ॥ ९ ॥

प्रसंग :- गो-विषाण अथवा वह्नि-धूम में तो लिङ्ग-लिङ्गी की व्याप्ति प्रत्यक्ष देखी जाने से अनुमान ठीक है; क्योंकि प्रत्यक्ष-पूर्वक ही अनुमान होता है । परन्तु वायु-स्पर्श में प्रत्यक्ष पूर्वक न होने से अनुमान ठीक नहीं । अतः अनुभव होने वाले प्रत्यक्ष को क्यों न पृथिवी आदि दृष्ट द्रव्यों का गुण मान लें । सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥ १० ॥ (५८)

[च] और (यह) [दृष्टानाम्] दृष्ट (=पृथिवी, जल, तेज) द्रव्यों का [स्पर्शः] स्पर्श गुण [न] नहीं है, [इति] इस कारण [वायुः] वायु द्रव्य [अदृष्टलिङ्गः] न देखे हुए चिह्न (=लिङ्ग=साधक) वाला है ।

लिङ्ग दो प्रकार का होता है - दृष्ट और अदृष्ट । जिसका साध्य भी पहले

प्रत्यक्ष देखा हो, उसको 'दृष्ट' और जिसका साध्य प्रत्यक्ष न देखा हो उसे 'अदृष्ट' कहते हैं।

विलक्षण सींग आदि बैल के दृष्ट-लिङ्ग हैं; क्योंकि विलक्षण सींगों आदि सहित बैल को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

परन्तु यह अनुभूयमान स्पर्श, दीखते हुए पृथिवी, जल, तेज का गुण नहीं है; क्योंकि पृथिवी आदि में स्पर्श गुण रूपादि गुणों के साथ ही अनुभूत होता है। किन्तु यह विशेष स्पर्श ऐसा नहीं है। अतः न दीखते हुए द्रव्य का यह लिङ्ग (=चिह्न, साधक) है। ऐसे चिह्न से अनुमीयमान (=पहचाने जाने वाला) द्रव्य वायु ही है॥ १०॥

प्रसंग :- वायु को अलग तत्त्व सिद्ध करके, अब उसका द्रव्यत्व सिद्ध करते हैं -

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥ (५९)

[अद्रव्यवत्त्वेन] द्रव्यवाला (=अन्य द्रव्य के आश्रित) न होने से [द्रव्यम्] (वायु) द्रव्य है।

वायु द्रव्यवाला नहीं अर्थात् किसी अन्य द्रव्य के आश्रित नहीं अथवा इसका समवायिकारण कोई अन्य द्रव्य नहीं। इसलिए स्वयं द्रव्य है। यदि स्वयं द्रव्य न होता, तो किसी द्रव्य के आश्रित होता।

इस सूत्र पर विभिन्न भाष्यकारों की विविध क्लिष्ट कल्पनाएं हैं, जो वैशेषिक सिद्धान्त के विरुद्ध हैं॥ ११॥

प्रसंग :- वायु को द्रव्य सिद्ध करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु देते हैं :-

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥ (६०)

[क्रियावत्त्वात्] क्रियावाला होने से [च] और [गुणवत्त्वात्] गुणवाला होने से (वायु द्रव्य है)।

गति क्रिया और स्पर्शगुण वाला होने से भी वायु द्रव्य है। क्योंकि द्रव्य के लक्षण में कह चुके हैं - ''क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्'' - (१/१/१५)।

क्रिया और गुण, क्रिया और गुण के आश्रित नहीं रहते। वे द्रव्य के ही आश्रित हो सकते हैं। अर्थात् क्रिया और गुण का समवायिकारण वायु, द्रव्य है ॥ १२ ॥

प्रसंग :- अब स्थूल वायु के समवायिकारण सूक्ष्म (=परमाणुरूप) वायु की नित्यता सिद्ध करते है -

अद्रव्यवत्त्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥ (६१)

[अद्रव्यवत्त्वेन] कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से [नित्यत्वम्] (परमाणुरूप सूक्ष्म वायु का) नित्य होना [उक्तम्] कहा गया है।

न विद्यते द्रव्यम् (आश्रयः समवायित्वेन) यस्य, तदद्रव्यम्, अनवयवी। तस्य भावः, तेन अद्रव्यवत्त्वेन (बहु.स.)। सूक्ष्म वायु अनवयवी है, किसी द्रव्य में समवेत (-आश्रित) नहीं है। इससे उसकी नित्यता सिद्ध है।

इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज के मूल तत्त्वों की भी नित्यता सिद्ध है। क्योंकि सूत्र ४/१/१ में कहा है, कि - 'सदकारणवन्नित्यम्' अर्थात् जिस वस्तु का कारण नहीं होता, वह नित्य होती है ॥ १३ ॥

प्रसंग :- पृथिवा, जल, तेज की भांति वायु के अनेक खण्ड (=व्यक्ति) प्रत्यक्ष नहीं होते, तो क्या वायु आकाश के समान एक ही व्यक्ति (=इकाई) है, अथवा पृथिवी आदि के समान अनेक खण्डों (=व्यक्तियों) वाला है ? सूत्रकार समाधान करते हैं -

वायोर्वायुसम्मूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥ १४ ॥ (६२)

[वायुसम्मूर्च्छनम्] अनेक वायु-खण्डों की परस्पर टक्कर (=संयोग विशेष), [वायोः] वायु द्रव्य के [नानात्वलिङ्गम्] नाना (=अनेक) होने का चिह्न (= अनुमापक) है ।

जव दो या दो से अधिक वायुखण्ड विभिन्न दिशाओं से आकर आपस में टकराते हैं, तो वहाँ के तिनके धूलकण आदि ऊपर की ओर आकाश में उड़ जाते हैं । यद्यपि वायु की ऊर्ध्वगति को हम आँखों से नहीं देख सकते, किन्तु तिनके आदि की ऊर्ध्वगति से हम वायु की ऊर्ध्वगति का अनुमान लगा सकते हैं । क्योंकि सामान्यतया वायु की तिर्यग्गति होती है, किन्तु टकराने पर यह ऊर्ध्व हो जाती है । उनके साथ तिनके भी ऊपर उठ जाते हैं । जिस प्रकार जलधाराएं विभिन्न दिशाओं से आकर टकराती हैं, तो पानी ऊपर उछल जाते हैं । उनके साथ बहने वाले तिनके आदि भी उछल जाते हैं । इससे जल के समान वायु का नाना (=अनेक) होना सिद्ध होता है ।

यद्यपि परमाणुओं से मिलकर वना होने से वायु का नानात्व सिद्ध है, तो भी प्रत्यक्ष न होने से शंका का समाधान कर दिया है ॥ १४ ॥

प्रसंग :- जव वायु का स्पर्श स्पष्ट प्रतीत होता है, तो फिर १० वें सूत्र में उसे अदृष्टलिङ्ग क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ।। १५ ।। (६३)

[वायुसन्निकर्षे] [वायु का त्वचा से) सन्निकर्ष (=सम्बन्ध) होने पर (भी) प्रत्यक्षाभावात्] प्रत्यक्ष (=नेत्र प्रत्यक्ष) न होने से (वायु की सिद्धि में) [दृष्टं] देखा हुआ (=नेत्र प्रत्यक्ष) [लिङ्गम्] चिह्न (=व्याप्ति ज्ञान) [न] नहीं [विद्यते] है ।

प्रत्यक्ष शब्द यहाँ न्यायदर्शनोक्त लाक्षणिक अर्थ में नहीं, अपितु 'आँखों देखे' अर्थ में है, । क्योंकि त्वचा से प्रत्यक्ष तो है ही । अतः स्पर्श, वायु का अदृष्ट-लिङ्ग (=त्वक्प्रत्यक्ष) होते हुए भी दृष्टलिङ्ग (= नेत्र-प्रत्यक्ष) नहीं है । क्योंकि चक्षु-इन्द्रिय, रूप-गुण तथा रूप के आश्रय द्रव्य का ग्रहण कर सकता है । वायु-द्रव्य, रूप का आश्रय न होने से चक्षु द्वारा सर्वथा अग्राह्य है ।।१५।।

प्रसंग :- यदि वायु का ज्ञान होने में दृष्ट-लिङ्ग नहीं है, तो उसका अनुमान कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ।। १६ ।। (६४)

[च] और [सामान्यतोदृष्टात्] सामान्यतो दृष्ट (अनुमान प्रमाण) से [अविशेषः] (वायु का अनुमान कर लेने में कोई) भेद नहीं होता ।

यह सामान्य-नियम देखा जाता है, कि प्रत्येक गुण, गुणी के आश्रित रहता है, गुणी को छोड़कर नहीं ।

जब चलते-फिरते, उठते-बैठते हम त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का अनुभव करते हैं, तब उस स्पर्श गुण के साथ उसका आश्रय द्रव्य अवश्य होना चाहिए । उसके आश्रय द्रव्य के रूप में पृथिवी-जल-अग्नि द्रव्य उपस्थित नहीं, तब उस स्पर्शगुण के आश्रयभूत जिस गुणी (=द्रव्य) का अनुमान होता है, वही 'वायु' है ।

इसी प्रकार जब वस्त्र, पत्ते, शाखा आदि कम्पन (=चलन आदि क्रिया का कोई आघातकारी निमित्त पार्थिव आदि नहीं दीखता, तो भी कम्पन आदि क्रियाएँ होती हैं; तो उन कम्पन आदि क्रियाओं का प्रवर्तक (=निमित्त) होना ही चाहिए, और वह निमित्त वायु ही है। इसलिए 'सामान्यतो दृष्ट' भी वायु की सिद्धि में सामान्य हेतु है ॥ १६ ॥

प्रसंग :- अनुमान - प्रमाण से वायु की सिद्धि हो जाने पर उसके नामकरण के विषय में बताते हैं -

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥ (६५)

इस सूत्र में अगले सूत्र से 'संज्ञाकर्म तु' का उत्कर्ष (=ऊपर खिंचाव) समझना चाहिए।

[तस्माद्] (क्योंकि वायु का नेत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होकर आनुमानिक ज्ञान होता है) इसलिए वायु का नामकरण तो [आगमिकम्] आगमिक (=वेद या वैदिक साहित्य से सिद्ध अथवा उसमें उपलब्ध होता) है।

यथा - **'वायवायाहि ...'** (ऋ. १/२/१)

'इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ ...' (यजु. १/१)

'प्राणाद् वायुरजायत.' ... (यजु.३१/३)

''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' ... (तै.सं. २/१/१/१)

अर्थात् वायु वहुत शीघ्र गति वाली देवता है।

''वायुश्च सर्ववर्णोऽयं सर्वगन्धवहःशुचिः''

अर्थात् यह वायु सभी वर्णों वाला, सम्पूर्ण गन्धों को बहाने वाला और पवित्र है। और 'वायु' यह अन्वर्थक नाम रखा है - 'वाति गच्छतीति वायुः'। अर्थात् जो गति करती है, वह वायु कहाती है।

प्रसंग :- जिस आगम प्रमाण से वायु का नामकरण बताया है, उस आगम की प्रामाणिकता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ १८ ॥ (६६)

[संज्ञाकर्म] नामकरण (=किसी वस्तु का नाम रखा जाना) [तु] तो [अस्मद्विशिष्टानां] हमसे विशिष्टों का [लिङ्गम्] चिह्न (=साधक) है।

जिन पदार्थों को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते, ऐसे पदार्थों का (उन पदार्थों की विशेषताओं के अनुसार) नाम रखना उन्हीं का कार्य है, जिन्होंने उन पदार्थों को प्रत्यक्ष से जाना है। ईश्वर सभी पदार्थों के गुणधर्मों को जानता है; क्योंकि उसने इन पदार्थों की रचना की है। उसी ने सर्गादिकाल में वेदरूप से इनके नामों का संकेत किया। आगे साक्षात्-कृतधर्मा ऋषियों एवं लोककर्त्ता आचार्यों ने बहुत से नाम - संकेतों की कल्पना की है। उन ऋषियों ने भी जानकर दूसरों को जनाया। इसीलिए सूत्र में 'अस्मद्विशिष्टानाम्' यह बहुवचनान्त निर्देश है।

अस्मदादि सदृश व्यक्तियों के वाक्यों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों के कारण अप्रामाणिकता की आशंका हो सकती है। किन्तु सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमेश्वर में तथा साक्षात् कृतधर्मा, रजोगुण-तमोगुण के प्रभाव रहित, निर्मलबुद्धि वाले ऋषियों के वाक्यों में अप्रामाणिकता की आशंका नहीं रहती। अतः अप्रत्यक्षपदार्थों का भी नामकरण होना हमसे विशिष्टों (=परमेश्वर और योगियों) का ज्ञापक (=साधक=लिङ्ग) है ॥ १८ ॥

प्रसंग :- इसी बात को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार आगे कहते हैं -

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥ (६७)

[संज्ञाकर्मणः] संज्ञाकर्म (=नामकरण) के [प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्] प्रवृत्त होने पर प्रत्यक्ष होने से {विशेष (=हमारी दृष्टि से अप्रत्यक्ष) पदार्थों का नामकरण हमसे विशेषों का ज्ञापक (=साधक) है }।

लोक में यह देखा जाता है, कि व्यक्ति जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्षसदृश निश्चयात्मक अनुभव करता है; उसी का नामकरण करता है। वायु आदि हमारे दृष्टिगोचर नहीं हैं, जिनका हम नामकरण करते। अतः वेद में हमसे विशेष (=ईश्वर) ने ऐसे पदार्थों का नामकरण किया है। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने नामकरण किया है।

जैसा कि वेद में स्वयं कहा है -

"यो देवानां नामधा." - (ऋ०१०/८२/३) अर्थात् जो (ईश्वर) दिव्यगुणों वाले वायु आदि का नाम रखने वाला है ...।

तथा मनुस्मृति में भी कहा है -

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनु.१/२०)

सर्ग के आरम्भ में ब्रह्मा आदि ऋषियों ने सब वस्तुओं के नाम और उनके कर्म तथा वर्णाश्रम आदि की व्यवस्था का वेदोक्त शब्दों के आधार पर निर्माण किया। अतः वेद तथा ईश्वर की प्रामाणिकता है तथा तदनुकूल साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की भी प्रामाणिकता है ॥ १९ ॥

७ - वायु-निरूपणम्

प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होने वाले पृथिवी, जल और तेज-द्रव्य का निरूपण करने के पश्चात् अप्रत्यक्ष-द्रव्यों के निरूपण के अवसर पर नित्य और अनित्य पृथिवी आदि तीनों के समान दोनों ही प्रकार के द्रव्य का वर्णन प्रस्तुत करने के लिए 'वायु' द्रव्य का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः । स्पर्श - सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-संस्कारवान् ।

स्पर्शोऽस्यानुष्णशीतत्वे सत्यपाकजः, गुणविनिवेशात् सिद्धः । अरूपिष्वचाक्षुषवचनात् सप्त सङ्ख्यादयः । तृणकर्मवचनात् संस्कारः ।

वायुत्व-जाति के समवाय-सम्बन्ध से वायु नामक द्रव्य सिद्ध होता । इस वायु द्रव्य में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं वेग नामक संस्कार ये नौ गुण होते हैं ।

इस वायु द्रव्य का स्पर्श नामक गुण अपाकज (=तेजः संयोग से अपरिवर्तन-शील) अनुष्णशीत है । ये सभी गुण (महर्षि कणाद के) गुण-निरूपणाधिकार के (२/१/४ आदि) सूत्रों से सिद्ध समझने चाहिए । ''अरूपिष्वचाक्षुषाणि'' - (४/१/१२) (=रूपरहित द्रव्यों में संख्या आदि सात गुण आँखों से नहीं दीखते) - सूत्रकार के इस कथन से वायु में संख्या आदि सात गुण सिद्ध होते हैं । ''तृणे कर्म वायुसंयोगात्'' (५/१/१४) [=तृण (=वृक्ष आदि) में क्रिया की उत्पत्ति वायुतृणसंयोग से होती है ।] महर्षि कणाद के इस वचन से वायु में वेग नामक संस्कार की सिद्धि होती है ।

अब वायु के प्रकार बताते हैं -

(प्रश.) स चायं द्विविधोऽणुकार्यभावात् । तत्र कार्यलक्षश्चतुर्विधः - शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति ।

तत्रायोनिजमेव शरीरं मरुतां लोके, पार्थिवावयवोपष्टम्भाचोपभोगसमर्थम् ।

इन्द्रियं सर्वप्राणिनां स्पर्शोपलम्भकं पृथिव्याद्यनभिभूतैर्वाय्ववयवैरारब्धं सर्वशरीरव्यापि त्वगिन्द्रियम् ।

और वह वायु द्रव्य भी (पृथिवी आदि के समान) परमाणुरूप में नित्य एवं कार्यरूप में अनित्य के भेद से दो प्रकार का है । उन दोनों में कार्यरूप वायु चार प्रकार का है - १. शरीर, २. इन्द्रिय, ३. विषय और ४. प्राण ।

उनमें से वायु नामक द्रव्य का शरीर अयोनिज ही है, जो वायुलोक में ही (वायरस आदि के रूप में वायु में विचरण करने वाले) प्रसिद्ध है । यह शरीर पार्थिव अवयवों के विलक्षण संयोग से सुख-दुःख के अनुभव में समर्थ होता है ।

प्राणिमात्र के शीत-उष्ण आदि स्पर्श के प्रत्यक्ष का साधन - द्रव्य ही इन्द्रिय रूप वायु है । पार्थिव आदि विरोधी शक्तियों से अभिभूत (=नष्ट) न होने वाले वायवीय अवयवों से इसकी उत्पत्ति होती है, वह सम्पूर्ण शरीर में व्यापक 'त्वचा' नामक इन्द्रिय है । (द्र.-२/१/९,१०,१६)

अब विषय रूप वायु का निरूपण करते हैं -

(प्रश.) विषयस्तूपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः । स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गः -तिर्यग्गमनस्वभावो मेघादिप्रेरणधारणादिसमर्थः ।

तस्याप्रत्यक्षस्यापि नानात्वं सम्मूर्च्छनेनानुमीयते । सम्मूर्च्छनं पुनः समानजवयोर्वाय्वोर्विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः। सोऽपि सावयविनोर्वाय्वोरूर्ध्वग

मनेनानुमीयते । तदपि तृणादिगमनेनेति ।

विषयरूप वायु द्रव्य तो प्रत्यक्ष अनुभव होने वाले [शीतादि-] स्पर्श का आधारस्वरूप है । जिसके स्पर्श, शव्द, धारण तथा कम्प (=काँपना) अनुमापक हेतु हैं, तिरछे जाना जिसका स्वभाव है मेघ; रुई आदि को इधर-उदर चलाने तथा उसको गिरने न देने में वह समर्थ है ।

(चाक्षुष) प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात न होने पर भी उस वायु के अनेकत्व का अनुमान सम्मूर्च्छन (=मिश्रण) से होता है । सम्मूर्च्छन का तात्पर्य है - दो विरुद्ध दिशाओं की समानवेगवाली गतिशील दो वायुओं (=अनेक वायुओं) का मेल/टकराव/विशेष संयोग/ टकराकर ऊर्ध्वगमन । वह सम्मूर्च्छन (=सन्निपात) भी अवयवयुक्त दो/अनेक वायु द्रव्यों के ऊर्ध्वगमन (=ऊपर जाने की क्रिया) से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है । वह सावयव वायुओं का ऊर्ध्वगमन भी तृण आदि द्रव्यों के ऊपर जाने की क्रिया से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है । - (द्र. - २/१/१४, १५, ४/१/७)

अव लोक एवं योगशास्त्र में प्रसिद्ध कार्यरूप चतुर्थ प्राणनामक वायु का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने कहा-

(प्रश.) प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसञ्ज्ञां लभत इति ।।

शरीर के भीतर रहने वाला; अन्न के रस, मल (=मूत्र-पुरीष आदि) और धातु (=रक्त, मांस, अस्थि, मज्ञा आदि) की प्रेरणादि (=प्रेरण/चालन, धारण, विकार इत्यादि) क्रियाओं का कारण वायु ही 'प्राण' है । यह प्राण एक होते हुए भी निष्क्रमण, उन्नयन आदि क्रियाओं के भेद से 'अपान' आदि (=व्यान, समान, उदान, प्राण) नामों से कहा जाता है ।

यथा-१. मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमणशीलो वायुः प्राणः, २. स एव

मलादेरधोनयनादपानः, ३. समं नयनात् समानः, ४. - रसादेरूर्ध्वं नयनादुदानः, ५. विविधमनेकप्रकारेण नयनाद् व्यानः । - (यह स्वतन्त्र भाष्य है ।)

[१. हृदि प्राणो गुदेऽपानं समानः नाभिमण्डले ।

उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥ (-अमरचन्द्रः)]

॥ इति वायुवैधर्म्यम् ॥

८ - अथ सृष्टिसंहारविधिः

(प्रश.) इहेदानीं चतुर्णां महाभूतानां सृष्टिसंहारविधिरुच्यते । ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणोऽपवर्गकाले संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य सञ्जिहीर्षासमकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतादृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यस्तत्संयोगनिवृत्तौ तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः । तथा पृथिव्युदकज्वलनपवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य पूर्वस्य विनाशः । ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धा आत्मानस्तावन्तमेव कालम् ।

ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति ।

तदनन्तरं तस्मिन्नेव वायावाप्येभ्यः परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण सलिलनिधिरुत्पन्नः पोप्लूयमानस्तिष्ठति ।

तदनन्तरं तस्मिन्नेव पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्यो महापृथिवी संहताऽवतिष्ठते ।

तदनन्तरं तस्मिन्नेव महोदधौ तैजसेभ्योऽणुभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेणोत्पन्नो महाँस्तेजोराशिः केनचिदनभिभूतत्वाद् देदीप्यमानस्तिष्ठति।

एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते।

तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते। स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्माऽतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णान् अन्यानि चोच्चावचानि भूतानि च सृष्ट्वाऽऽशयानुरूपैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः संयोजयतीति॥

इति सृष्टिसंहारविधिः।

अब यहाँ पृथिवी, जल, तेज एवं वायु इन चार महाभूत द्रव्यों की सृष्टि (=उत्पत्ति) एवं उनके संहार की विधि (=प्रकार) बताते हैं -

ब्राह्म मान के अनुसार सौ वर्ष के अन्त में वर्तमान रहने वाले ब्रह्मा के अपवर्गकाल (=दुःखों से छुड़ाने के काल) में कुछ काल तक सब प्राणियों के [जन्म-मरण - जनित] सांसारिक खेद (=थकान) को मिटाने के लिए विश्राम के निमित्त ब्राह्म रात्रि (१००० चतुर्युगी) में सभी भुवनों (= सम्पूर्ण जगत्) के स्वामी परमेश्वर की संहार (= प्रलय) करने की इच्छा के साथ ही शरीर, इन्द्रिय एवं सभी महाभूतों के उत्पादक, सभी आत्माओं के सब अदृष्टों (=धर्माधर्मरूप अदृष्टों) के कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति कुण्ठित हो जाने पर [महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः - >महेश्वरस्येच्छा > महेश्वरेच्छा, महेश्वरेच्छा चात्माणुसंयोगाश्च > महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगाः, तेभ्यो जातानि कर्माणि > महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्माणि, तेभ्यो महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः=] परमेश्वर की इच्छा एवं आत्मा और

परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न कर्मों से शरीर तथा इन्द्रियों के मूलकारण परमाणुओं के परस्पर विभाग से (शरीर और इन्द्रियों के आरम्भक परमाणुओं के) संयोग का नाश हो जाता है। तब (शरीरादि) कार्य द्रव्यों का परमाणुपर्यन्त नाश (=परमाणु रूप में बदलने तक कार्यों का कारण में लय) हो जाता है। इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज और वायु - इन चार महाभूतों का इसी क्रम से अगले-अगले महाभूत के विद्यमान रहते पूर्व-पूर्व के महाभूत का विनाश (=कारणलय) हो जाता है। उसके पश्चात् उतने ही काल तक (=ब्राह्म मान से सौ वर्ष = १००० चतुर्युगी पर्यन्त) परस्पर असम्बद्ध परमाणु तथा धर्म -अधर्म एवं संस्कारों से युक्त सम्पूर्ण जीवात्मा स्थित रह जाते हैं।

द्र.- तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ - (मनु.१/७३)

अर्थात्

चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते। रात्रिरेतावती तस्य ताभ्यां पक्षादिकल्पना ॥
इसी के अनुसार यहाँ ब्राह्ममान समझाना चाहिए।

उसके पश्चात् फिर प्राणियों के भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए, परमात्मा की जगत् को उत्पन्न करने की इच्छा होने पर सभी जीवात्माओं में विद्यमान, उत्पादक व्यापार करने में समर्थ धर्माधर्मारूप अदृष्ट की अपेक्षा करने वाले जीवात्मा तथा महाभूत द्रव्यों के परमाणुओं के उत्पादक संयोगों से द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि अवयवि द्रव्य के क्रम से विशाल वायुनामक कार्य द्रव्य उत्पन्न होकर आकाश में तिर्यग्गति से अत्यन्त कम्पित होता रहता है।

इस प्रकार वायुरूप कार्यद्रव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उसी वायुद्रव्य में जलीय परमाणुओं से उसी (=वायु की उत्पत्ति के) क्रम से विशाल समुद्रादिरूप महाजलाशय उत्पन्न होकर [प्रतिबन्धक न होने से] प्रवाह रूप से सर्वत्र वहता रहता है।

इस प्रकार जलरूप महाभूत द्रव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उसी जलनिधि में पार्थिव परमाणुओं से द्व्यणुकादि क्रम से अवयवि द्रव्य विशाल पृथिवीरूप महाभूत कठिनस्वभाव (=दृढ़ अवयवों वाली) उत्पन्न होती है ।

इस प्रकार पृथिवी की उत्पत्ति के पश्चात् उसी पूर्वोक्त जलनिधि रूप आधार में तैजस परमाणुओं से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अवयाविद्रव्यों की उत्पत्ति के क्रम से उत्पन्न होकर विशाल तेजोद्रव्य का समूह, किसी दूसरे महाभूत से तिरस्कृत (=प्रतिहत) न होने के कारण अत्यन्त प्रकाशमान होता रहता है । यद्यपि जल और तेज का स्वाभाविक विरोध है, तो भी जीवों के अदृष्ट से उनमें भी आधाराधेयभाव हो जाता है ।

उक्त प्रकार से पृथिवी आदि चारों महाभूतों के उत्पन्न होने पर परमात्मा के संकल्पमात्र से [न कि कुम्भकार आदि के समान शारीरिक व्यापार से] पार्थिव परमाणुओं की सहायता से तैजस परमाणुओं से महान् (हिरण्यमय) पिण्ड उत्पन्न होता है ।

परमात्मा द्वारा उसी हिरण्यमय पिण्ड से आदि सृष्टि में चारों वेदों के प्रवक्ता अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा एवं चारों दिशाओं में सभी विद्याओं का व्याख्यान करने वाले, कमलसदृश मुखवाले ब्रह्मा आदि ऋषियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है । ये आदि-सृष्टि के ऋषि वेदज्ञान देते हुए प्रजा की उत्पत्ति के लिए प्रेरित होते हैं । परमेश्वर द्वारा प्रेरित विलक्षण ज्ञान, उत्कृष्ट वैराग्य एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न ये ब्रह्मादि ऋषि कर्मफल-सिद्धान्त आदि जानकर कर्मों के अनुरूप ज्ञान, भोग और आयु से युक्त सन्तानों एवं शिष्यरूप मानस-सन्तानों की मननशील, देव, ऋषि एवं सद्गृहस्थों की सृष्टि/निर्माण करते हैं । समाज में ब्राह्मण मुखवत्, क्षत्रिय बाहुवत्, वैश्य जंघावत/उदरवत् और शूद्र पैर के समान उपयोगी समझे जाते हैं । - (द्र. यजुर्वेद - ३१/११)।

इसी प्रकार परमेश्वर अन्य छोटे-बड़े प्राणियों को उत्पन्न करता है एवं सभी मनुष्यों को कर्मों के संस्कारों के अनुसार धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि से युक्त कर देता है । - (यह स्वतन्त्र भाष्य है ।)

इस प्रकार सृष्टि के संहार और उत्पत्ति का प्रकरण पूरा हुआ ॥

विशेष - सृष्टिसंहार के इस विवेचन से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी, दयालु परमेश्वर की भी सिद्धि होती है; क्योंकि यह सब महान् कार्य, इतना ज्ञान एवं न्यायपूर्वक कार्य जीवात्मा नहीं कर सकते, प्रकृति जड़ होने से नहीं कर सकती । अतः पारिशेष्यात् यह परमेश्वर का ही कार्य है ।

''तस्मिंश्चतुर्वदन.'' ... आदि भाष्यांश विष्णुपुराण आदि के अनुसार प्रक्षिप्त प्रतीत होता है । हमने यथासम्भव संगति लगाने का प्रयास किया है ।

प्रसंग :- वायु का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त आकाश द्रव्य का वर्णन करते हैं -

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥ २० ॥ (६८)

[निष्क्रमणम्] निकलना (=अन्दर से बाहर आना), [प्रवेशनम्] प्रवेश करना (=बाहर से भीतर आना) [इति] यह (और इसी प्रकार उत्क्षेपण - गमन आदि क्रियाओं का सम्भव होना) [आकाशस्य] आकाश (के अस्तित्व) का [लिङ्गम्] लिङ्ग (= चिह्न = साधक = लक्षण) है ।

बिना अवकाश के किसी द्रव्य का निकलना और प्रवेश करना नहीं बन सकता ।

इससे सिद्ध होता है, कि ऐसी क्रियाओं के होने में अवकाश देने वाला कोई पदार्थ है । वही द्रव्य आकाश है ॥ ६८ ॥

प्रसंग :- पूर्वोक्त पृथिवी आदि के जो गन्ध आदि लिङ्ग (=चिह्न) हैं, उनके पृथिवी आदि समवायिकारण कहे गये हैं। तो क्या निष्क्रमण-प्रवेशन आदि का भी समवायिकारण आकाश है ? सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥ २१ ॥ (६९)

[तदलिङ्गम्] उस रूप से (आकाश का निष्क्रमण आदि) लिङ्ग नहीं है [कर्मणः] कर्म के [एकद्रव्यत्त्वात्] एक द्रव्य समवायिकारणवाला होने से।

कर्म या क्रिया जिस द्रव्य में होती है, वही द्रव्य उस कर्म का समवायिकारण होता है।

विभु होने से आकाश किसी क्रिया का समवायिकारण नहीं हो सकता। न असमवायिकारण हो सकता है। वह आकाश केवल क्रिया का निमित्तकारण हो सकता है ॥ २१ ॥

प्रसंग :- यदि निष्क्रमण-प्रवेशन आदि कर्म आकाश के लिङ्ग इस आधार पर नहीं हैं, कि आकाश इनका समवायिकारण नहीं है; तो क्या असमवायिकारण होने के आधार पर इन्हें आकाश का लिङ्ग कहा गया है ? सूत्रकार इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥ २२ ॥ (७०)

गतसूत्र से 'तदलिङ्गम्' की अनुवृत्ति है।

[कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्यात्] (समवायिकारण से) अन्यकारण (=असमवायिकारण) की योग्यता से विरुद्ध धर्म बाला होने से [च] भी (निष्क्रमण आदि कर्म आकाश के लिङ्ग नहीं हो सकते)।

असमवायिकारण होने की आकाश में योग्यता ही नहीं; क्योंकि द्रव्य, गुण, कर्म के असमवायिकारण गुण और कहीं (-संयोग, विभाग, वेग के) कर्म ही होते हैं। द्रव्य कहीं किसी का असमवायिकारण नहीं होता। आकाश द्रव्य है, इसलिए असमवायिकारण की तो योग्यता से ही विरुद्ध धर्म वाला है ॥ २२ ॥

प्रसंग :- फिर किस आधार पर निष्क्रमणादि आकाश के लिङ्ग हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

संयोगादभावः कर्मणः ॥ २३ ॥ (७१)

[संयोगात्] संयोग से [कर्मणः] कर्म का [अभावः] अभाव होता है। (अतः आकाश किसी मूर्त द्रव्य की निष्क्रमणादि क्रिया का निमित्तकारण ही होता है।)।

किसी द्रव्य का एक स्थान से वियोग या विभाग होकर अन्य स्थान से संयोग हो जाना ही क्रिया है। और ये संयोग-विभाग आकाश (=अवकाश) के बिना सम्भव नहीं हो सकते, अर्थात् आकाश में ही संयोग या विभाग रूप क्रिया सम्भव है। अतः मूर्त द्रव्य, क्रिया का समवायिकारण; आघात, संयोग आदि असमवायिकारण; शेष सब साधन निमित्तकारण रहते हैं। इस प्रकार काल, आकाश, दिशा आदि कार्यमात्र के निमित्तकारण माने जाते हैं।

शंका :- यदि आकाश कार्यों का निमित्तकारण है, तो धनुष से छोड़ा हुआ बाण दीवाल या वृक्ष आदि से टकराने (=संयोग होने) पर क्यों गिर जाता है ? आकाश का तो कहीं अभाव है नहीं।

समा. :- (प्रतिप्रश्न) - जब गमन आदि क्रियाओं का समवायिकारण बाण आदि, जिसमें क्रिया समवेत है, उसके रहते हुए बाण क्यों गिर जाता है ? जब तक समवायिकारण बाण है, तब तक गति निरन्तर होती रहनी चाहिए।

वास्तविकता यह है, कि कार्य के अनेक कारण होते हैं; उनमें जब कोई कारण कार्य के प्रति अक्षम हो जाता है, तब वह कार्य नहीं होता। अन्य कारणों के बिना आकाश या अन्य कोई कारण, कार्य को न आरम्भ कर सकते हैं, न सुरक्षित रख सकते है। तब केवल आकाश को लेकर ही यह शंका क्यों उठाई जाती है ? इसी स्थिति को सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि - अवरोधक संयोग से क्रिया का अभाव हो जाता है। इससे आकाश की निमित्तकारणता में कोई बाधा नहीं आती।

अतः निष्क्रमण आदि क्रियाओं का निमित्तकारण - आकाश है। इसी रूप में निष्क्रमण आदि आकाश के लिङ्ग हैं ॥ २३ ॥

प्रसंग :- निष्क्रमण और प्रवेशन तो अवकाश ग्रहण करने से आकाश के सूचक हैं; क्योंकि आकाश उनका निमित्तकारण है। किन्तु शब्द, आकाश का गुण है। इस बात को परिशेषानुमान से सिद्ध करने के लिए सूत्रकार भूमिका बांधते हैं -

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥ (७२)

[कारणगुणपूर्वकः] कारण के गुण के अनुसार [कार्यगुणः] कार्य में गुण [दृष्टः] देखा गया है।

कार्यद्रव्य में जो गुण होता है, वह कारण के गुणों के अनुसार होता है। जैसा रूप तन्तुओं का होगा, वस्त्र का रूप भी वैसा ही होगा। वस्त्र के शुक्लरूप का समवायिकारण वस्त्र और असमवायिकारण तन्तुओं का शुक्लरूप है।

यद्यपि शब्द भी रूप आदि के समान गुण है, किन्तु ऐसा कोई कार्यद्रव्य नहीं दीखता, जिसमें शब्द गुण अपने कारण द्रव्य से आया हो ॥ २४ ॥

प्रसंग :- पूर्व-सूत्र के अनुसार शंख-ढोलक-वीणा आदि कार्यद्रव्यों में शब्द उपलब्ध होता है; उसे कारणगुणपूर्वक क्यों न मान लें ? सूत्रकार समाधान करते हैं -

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ।। २५ ।। (७३)

[च] और [कार्यान्तराप्रादुर्भावात्] कार्य से भिन्न (=कारण=अवयवों) से प्रादुर्भूत न होने के कारण [शब्दः] शब्दगुण [स्पर्शवताम्] स्पर्शगुण वाले (=पृथिवी-जल-अग्नि-वायु) द्रव्यों का [अगुणः] गुण नहीं है ।

यदि शब्द, किसी स्पर्शगुण वाले द्रव्य का गुण होता, तो जैसे वस्त्र के रूपादि गुण, उसके अवयवों में अनुभूत होते हैं; वैसे ही शंख, ढोलक, वीणा आदि में उपलब्ध होने वाला शब्द, ढोलक आदि के अवयवों में भी वैसा ही मिलता । परन्तु ऐसा होता नहीं; अपितु निःशब्द अवयवों से उत्पन्न मृदंग-ढोलक आदि में शब्द की उपलब्धि होती है । इससे सिद्ध होता है, कि शब्द स्पर्शगुण वाले पृथिवी आदि चार द्रव्यों में से किसी का गुण नहीं ।

स्पर्शवालों के विशेष गुण, जब तक वस्तु बनी रहती है, तब तक उसमें बने रहते हैं, परन्तु शब्द सदा नहीं रहता । इससे सिद्ध होता है, कि शब्द इनका गुण नहीं, किसी अन्य का ही गुण है ।। २५ ।।

प्रसंग :- शब्द को आत्मा या मन का गुण क्यों न मान लें ? सूत्रकार इस आशंका का समाधान करते हैं -

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ।। २६ ।। (७४)

[परत्र] अन्यत्र [समवायात्] समवेत होने से [च] और [प्रत्यक्षत्वात्] प्रत्यक्ष होने से (शब्द) [न] न [आत्मगुणः] आत्मा का गुण है; [न] न [मनोगुणः] मन का गुण है ।

यदि शब्द आत्मा का गुण होता तो "मैं सुखी हूँ", 'मैं दुःखी हूँ' - इत्यादि अनुभूतियों के समान 'मैं पूरा जा रहा हूँ', 'मैं बज रहा हूँ', 'मैं शब्द वाला हूँ' -

इत्यादि अनुभव होता। परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता; अपितु बाजा बज रहा है, घंटी बज रही है, शंख पूरा जा रहा है - इत्यादि अनुभव होता है। अतः 'शब्द' आत्मा से अन्य द्रव्य में समवेत रहने से आत्मा का गुण नहीं मानना चाहिए।

तथा यदि शब्द आत्मा का गुण हो तो बधिर (=जिनका श्रोत्रेन्द्रिय नष्ट हो गया है, ऐसे) व्यक्तियों को भी शब्द उपलब्ध होना चाहिए, जैसे सुखादि अनुभव होते हैं।

और यदि शब्द मन का गुण होता तो उसका प्रत्यक्ष न होता, क्योंकि मन का कोई गुण (मन के महत् परिमाण वाला न होने से) प्रत्यक्ष नहीं होता। जबकि 'शब्द' बाह्यकरण (=श्रोत्रेन्द्रिय) से गृहीत होता है।

सूत्र में 'नात्ममनसोर्गुणः' - ऐसा समासयुक्त पाठ न करके अलग-अलग पढ़ने से 'प्रत्यक्षत्वात्' इस तुल्य हेतु से 'दिशा' और 'काल' में भी शब्द गुण का निषेध समझना चाहिए ॥ २६ ॥

प्रसंग :- तो फिर शब्द, है किस द्रव्य का गुण ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥ २७ ॥ (७५)

[परिशेषात्] सबसे बचकर शेष रह जाने से (शब्द) [आकाशस्य] आकाश नामक द्रव्य का [लिङ्गम्] लिङ्ग (=चिह्न=लक्षण) है।

पृथिवी आदि आठ द्रव्यों का गुण 'शब्द' नहीं हो सकता। अतः परिशेष (=अवशिष्ट) अनुमान से बचे हुए 'आकाश' द्रव्य का ही गुण शब्द है। क्योंकि शब्द गुण है, वह द्रव्य के बिना नहीं रह सकता। अत एव शब्द का 'समवायिकारण' आकाश है ॥ २७ ॥

प्रसंग :- अब वायु के अतिदेश (=दृष्टान्त) द्वारा आकाश का द्रव्यत्व और नित्यत्व दिखाते हैं :-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २८ ॥ (७६)

[द्रव्यत्वनित्यत्वे] (आकाश का) द्रव्य होना और नित्य होना [वायुना] परमाणु रूप वायु द्रव्य के कथन से [व्याख्याते] व्याख्यात हो गये ।

अव्यवहित पूर्व वायु के द्रव्यत्व और नित्यत्व का प्रतिपादन करने से वायु के इन धर्मों से आकाश के धर्मों की तुलना की गयी है ।

जैसे वायु, गुणवाला (=गुणाधिकरण, गुण का समवायिकारण) होने से द्रव्य बताया गया है; वैसे ही शब्द-गुण का समवायिकारण होने से 'आकाश' भी द्रव्य है । तथा निष्क्रमण-प्रवेशन क्रिया का निमित्तकारण भी है (द्र.२/१/११, १२) ।

एवं जैसे वायु के परमाणु को उसका कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से (=द्रव्याश्रित न होने से) नित्य कहा है; वैसे ही आकाश का कोई समवायिकारण द्रव्य न होने से वह नित्य है । - (द्र. ...२/१/१३) ॥२८॥

प्रसंग :- क्या वायु-परमाणु आदि के समान आकाश अनेकरूप भी कहा जा सकता है ? अथवा वह एकमात्र तत्त्व है ?सूत्रकार अतिदेश के द्वारा समाधान करते हैं -

तत्त्वं भावेन ॥ २९ ॥ (७७)

[तत्त्वम्] (आकाश का) एक होना [भावेन] सत्ता से (व्याख्यात समझ लेना चाहिए)

गत सूत्र से यहाँ वचनपरिवर्तन के साथ 'व्याख्याते' पद की अनुवृत्ति आती है । अन्वय होगा - (आकाशस्य) तत्त्वं भावेन व्याख्यातम् ।

(१/२/१७) सूत्र में सत्ता का एकत्व सिद्ध किया है; उसी के समान 'आकाश' को भी एक-व्यक्तिरूप पदार्थ समझना चाहिए। उपाधिकृत घटाकाश आदि से उसका बहुत्व नहीं माना जा सकता। उसका अंश या अवयव कोई नहीं होता ॥ २९ ॥

प्रसंग :- सत्ता की एकता तो सर्वत्र - द्रव्य, गुण, कर्म में अनुगत (सत् - सन् - सत् इस प्रकार की) प्रतीति के कारण सिद्ध होती है; आकाश में सत्ता के अनुसार एकता कैसे सिद्ध होगी ? इस शंका का समाधान करते हैं -

शब्दलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च ॥ ३० ॥ (७८)

[शब्दलिङ्गाविशेषात्] शब्दलिङ्ग के समान होने से [च] और [विशेषलिङ्गाभावात्] विशेष (=भेदक = भिन्न प्रकार का) लक्षण (=प्रतीति) न होने से (सत्ता के समान आकाश एक है)।

जैसे 'सत् - सत्' यह प्रतीति सर्वत्र सत्ता के एकत्त्व की साधिका है; वैसे ही शब्द-लिंग की सर्वत्र समान प्रतीति आकाश के एकत्व की साधिका है।

तथा भेदक प्रतीति जैसे सत्ता के विषय में नहीं है, वैसे आकाश के विषय में भी नहीं है। अर्थात् देशकाल भेद से भी आकाश का शब्द से भिन्न और कोई लिङ्ग न होने से आकाश एक (= अखण्ड = केवल) और विभु है ॥ ३० ॥

प्रसंग : - एकत्व के साथ सूत्रकार आकाश के एकपृथक्त्व का निर्देश करते हैं -

तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ॥ ३१ । (७९)

[च] और [तदनुविधानात्] उस (= एकत्व) का अनुविधान (=अनुसारी अनुसरण करने वाला, पिछलग्गू) होने से [एकपृथक्त्वम्] एकपृथक्त्व गुण (भी आकाश का सिद्ध है) [इति] आह्निक समाप्त (हो गया)।

एकत्व जहाँ होगा, वहाँ एकपृथक्त्व भी अवश्य रहेगा । क्योंकि एक होना एकपृथक्त्व व्यक्ति होने का बोधक है । अतः आकाश में एकत्व और एकपृथक्त्व गुण समवेत हैं ॥ ३१ ॥

इस आह्निक में पृथिवी, जल, तेज द्रव्यों की उनके गुणों के साथ परीक्षा की गयी । चक्षु और आकाश की भी परीक्षा हुई है ।

इति वैशषिकदर्शनस्य आनन्दव्याख्यासहितस्य द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

९ - आकाशप्रकरणम्

आकाश के विषय में बताते हुए भाष्यकार भूमिका के रूप में आकाश, काल, दिशा इन तीनों का परस्पर साधर्म्य एवं पृथिवी आदि से वैधर्म्य दिखाते हुए कहते हैं -

(प्रश.) आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति - आकाशः कालो दिगिति ।

आकाश, काल और दिशा इन तीनों द्रव्यों में से प्रत्येक एक-एक व्यक्ति होने से [द्रव्यत्व से भिन्न द्रव्यत्व की व्याप्य अन्य कोई] अपर जातियाँ न होने के कारण आकाश, काल एवं दिशा नाम की इन तीनों की तीन पारिभाषिक (= शास्त्र-संकेत से सिद्ध) संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं ।

अब आकाश द्रव्य का वैधर्म्य दिखाते हैं -

(प्रश.) तत्राकाशस्य गुणाः शब्द-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाः ।

शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वक त्वादयावद्द्रव्य भावित्वादाश्रया दन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः । बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वादात्मान्तरग्राह्य त्वादात्मन्य समवायादहङ्कारेण विभक्तग्रहणाच्च नात्मगुणः ।

श्रोत्रग्राह्यत्वाद् वैशेषिकगुणभावाच्च न दिक्कालमनसाम् । परिशेषाद् गुणो भूत्वा आकाशस्याधिगमे लिङ्गम् ।

शब्दलिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम् । तदनुविधानादेकपृथक्त्वम् । विभववचनात् परममहत्परिमाणम् । शब्दकारणत्ववचनात् संयोगविभागाविति ।

अतो गुणवत्त्वाद् अनाश्रितत्वाच्च द्रव्यम् । समानासमानजातीय कारणाभावाच्च नित्यम् । सर्वप्राणिनाञ्च शब्दोपलब्धौ निमित्तं श्रोत्रभावेन ।

श्रोत्रं पुनः श्रवणविवरसञ्ज्ञको नभोदेशः, शब्दनिमित्तोपभोगप्रापक - धर्माधर्मोपनिबद्धः । तस्य च नित्यत्वे सत्युपनिबन्धकवैकल्याद् बाधिर्यमिति ।।

इन तीनों में से आकाशनामक द्रव्य के शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये छह गुण हैं । [इन गुणों में से संख्या आदि पाँच गुण सामान्य हैं और शब्द विशेष (=अन्य द्रव्यों में न रहने वाला) गुण एवं आकाश का लिंग (=अनुमापक) गुण है ।]

शब्द गुण प्रत्यक्ष का विषय होते हुए भी [पट आदि के रूप आदि गुणों के समान] अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न न होने से, अपने आधार (= समवायिकारण) के अन्तिम समय तक न रहने से तथा अपने आश्रय (=स्पर्शवाले शंखादि द्रव्यों) से अन्यत्र (= श्रोत्र में) उपलब्ध होने से स्पर्शगुण वाले (=पृथिवी, जल, तेज एवं वायु) का विशेष गुण नहीं है ।

श्रोत्ररूप बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण एवं एक ही शब्द विभिन्न आत्माओं में गृहीत होने से, शब्द का समवाय आत्मा में न होने से तथा अहंकार के साथ ['अहं जानामि' इत्यादि प्रतीतियों में ज्ञान के समान शब्द की प्रतीति न होने से शब्द आत्मा का गुण भी नहीं है ।]

श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होने से तथा विशेष गुण होने से शब्द दिशा, काल और मन इन तीन द्रव्यों का भी गुण नहीं है [क्योंकि दिक्-काल-मन का कोई गुण श्रोत्रग्राह्य नहीं होता तथा इन दिगादि में विशेष गुण नहीं होता, जब कि 'शब्द' श्रोत्रेन्द्रिय से उपलब्ध होने वाला विशेष गुण है] ।

अतः परिशेष (=अवशिष्ट) के अनुमान से शब्द नामक विशेष गुण, आकाशनामक द्रव्य के ज्ञान / सिद्धि में विशेष हेतु है ।

आकाश में शब्दरूप चिह्न सर्वत्र समान होने से आकाश में 'एकत्व' संख्या सिद्ध होती है । उस एकत्व संख्या का अनुसरण करने से, आकाश में एकपृथक्त्व गुण भी सिद्ध होता है । सूत्रकार के "विभवान्महानाकाशः०" (७/२/२२) इस वचन से आकाश में परममहत् (= सर्वोत्कृष्ट महत्) परिमाण सिद्ध होता है । "संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (वैशे. २/२/३१) इस सूत्र-वचन द्वारा संयोग और विभाग को शब्द की उत्पत्ति में [असमवायि-] कारण बताने से आकाश में संयोग और विभाग भी सिद्ध होते हैं; [क्योंकि एक आश्रय में रहने वाला (संयोग-विभागादि) पदार्थ, दूसरे (=अन्य) आश्रय में रहने वाले पदार्थ (-शब्द आदि) का 'असमवायिकारण' नहीं हो सकता ।]

इसलिए गुणों का आधार होने से तथा अन्य द्रव्य के आश्रित न होने से (परमाणु के समान) आकाश भी द्रव्य पदार्थ है - यह सिद्ध होता है । - (द्र.२/१/२८)

आकाश का कोई समानजातीय कारण (=समवायिकारण) तथा असमानजातीय कारण (=असमवायिकारण) न होने से वह (=आकाश द्रव्य) नित्य है [क्योंकि समवायि-कारण और असमवायिकारण के विना किसी सत्तात्मक कार्यपदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।] - (द्र.२/१/२८)

और यही आकाश सभी प्राणियों के शब्द का प्रत्यक्ष होने में श्रोत्र (कर्णशष्कुली में स्थित आकाश) रूप में निमित्त-कारण है। अन्यथा आकाश द्रव्य सर्वत्र व्यापक होने से सब प्राणियों को सभी शब्दों का सर्वत्र ग्रहण होने लगे।

और श्रवणविवरसंज्ञक [=श्रूयतेऽनेनेति श्रवणम्, श्रवणञ्च तद् विवरं (=छिद्रं) चेति श्रवणविवरम्, श्रवणविवरं सञ्ज्ञा यस्य] = कर्णछिद्रनामक आकाश का प्रदेश विशेष ही श्रोत्रेन्द्रिय है। यह श्रोत्र शब्द के प्रत्यक्ष से होने वाले सुख-दुःख के अनुभव को देनेवाले धर्माधर्मरूप अदृष्ट से सम्बद्ध है; अतः आकाश-प्रदेश रूप श्रोत्र के नित्य होने पर भी धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट की विकलता (=हीनता) के कारण उसमें बहरापन आता है। यह आकाश का विवेचन पूरा हुआ। - (द्र.- २/२/२१) ॥

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रसंग :- प्रथमाह्निक में पृथिवी आदि भूतों के सामान्य लक्षण बताकर इस द्वितीय आह्निक में पृथिवी आदि के गन्धादि गुणों की परीक्षा की जायेगी।

सर्वप्रथम गन्ध की परीक्षा आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं :-

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥ १ ॥ (८०)

[पुष्पवस्त्रयोः] फूल और वस्त्र का [सन्निकर्षे] सामीप्य (=संयोग=सम्बन्ध) [सति] होने पर (भी) [वस्त्रे] वस्त्र में [गुणान्तराप्रादुर्भावः] (संयुक्त, लपेटे हुए फूलों से) अन्य (गन्ध-) गुण का प्रादुर्भाव (=प्रकट) न होना [गन्धाभावलिङ्गम्] (कपड़े में वैसे) गन्ध के अभाव का चिन्ह (= साधक = ज्ञापक) है।

वस्त्र में गुलाब, चमेली आदि के जैसे फूल रखे जाएँ; उन्हीं फूलों का गन्ध वस्त्र से आएगा। यह गन्ध वस्त्र के कारणभूत, तन्तुओं से वस्त्र में नहीं आया। इससे स्पष्ट है, कि यह विलक्षण-गन्ध वस्त्र में स्वाभाविक नहीं, औपाधिक है (= अपना नहीं, फूलों का है)। फूलों के सूक्ष्म अवयव उसमें रह गये हैं, जो इस प्रकार का गन्ध देते हैं।

शंका :- सूत्र ४९(२/१/१) में सूत्रकार ने पृथिवी में गन्ध - गुण भी बताया है, किन्तु यहाँ पार्थिव-विकार वस्त्र में गन्ध का अभाव दिखाया है; क्या यह विरोध नहीं ?

समा. - वस्त्र में भी अपना स्वाभाविक गन्ध है। किन्तु वह अव्यक्त होता है, जो कि जलने पर व्यक्त हो जाता है। किन्तु पुष्प-संयोग से उपलब्ध होने वाला व्यक्त गन्ध औपाधिक है। इस प्रकार गन्ध की स्वाभाविकता और औपाधिकता (= अन्य से आया हुआ) - इन दो रूपों की सिद्धि करना ही सूत्र का तात्पर्य समझना चाहिए। गन्ध गुण का सर्वथा निषेध करना नहीं।

कुछ व्याख्याकारों का विचार है कि पृथिवी में गन्ध गुण ही अपना है। अन्य रस आदि गुण औपधिक हैं। इसी प्रकार जलादि में एक-एक गुण अपना है। किन्तु यह मान्यता इस शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है। वस्तुतः पृथिवी के परमाणु में गन्ध आदि चारों गुण इस शास्त्र में स्वीकृत हैं; फिर ये रसादि गुण औपाधिक कैसे हो सकते हैं ? [यहाँ सूत्र २/१/४ की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।] ॥ १ ॥

प्रसंग :- जैसे वस्त्र में पुष्प का गन्ध उपाधि के कारण है; वैसे ही जल में उष्ण-स्पर्श भी औपधिक बताते हुए सूत्रकार लिखते हैं :-

एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता ॥ २ ॥ (८१)

[एतेन] इस (=वस्त्र में पुष्पगन्ध के व्याख्यान) से [अप्सु] जलों में [उष्णता] गरमी [व्याख्याता] व्याख्यात समझ लेनी चाहिए ।

वस्त्र में पुष्पगन्ध के औपाधिकत्व प्रतिपादन के समान जल की उष्णता को भी औपाधिक समझना चाहिए ।

सूत्र में अप्सु पद पृथिवी और वायु का उपलक्षण है । पृथिवी एवं वायु में उष्णस्पर्श भी, वस्त्र में पुष्पगुन्ध के समान औपाधिक समझना चाहिए । वैसे ही पृथिवी एवं वायु में शीतस्पर्श भी औपाधिक है अर्थात् अपना नहीं अपितु जल के संसर्ग से है ॥ २ ॥

प्रसंग :- पृथिवी में वह कौन सा गुण है, जो औपाधिक नहीं, अपितु स्वाभाविक है ? सूत्रकार उत्तर देते हैं :-

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ ३ ॥ (८२)

[पृथिव्याम्] पृथिवी में [गन्धः] गन्ध गुण [व्यवस्थितः] व्यवस्थित (= विशेष रूप से अवस्थित) है ।

केवल पृथिवी में गन्ध गुण रहता है और अनिवार्य रूप से रहता है । वह चाहे पृथिवी-रूप में हो, चाहे उसके विकार रूप में । सुरभि और असुरभि दोनों ही प्रकार के गन्ध-गुण पृथिवी के ही हैं ।

इसलिए 'सुरभि वायु' (= सुगन्धित वायु) या 'असुरभि वायु' (=दुर्गन्धित वायु) इत्यादि रूप में जो वायु में गन्ध की प्रतीति होती है वह औपाधिक है । सुगन्धित फूलों से होकर जो वायु आता है, उसमें फूलों के सूक्ष्म अवयव मिले रहते हैं, उन्हीं का गन्ध वायु में प्रतीत होता है ।

ऐसे ही जल में भी पार्थिव अंश के सम्वन्ध से औपाधिक गन्ध प्रतीत होता है।

अतः पृथिवी का यह लक्षण किया जा सकता है - 'गन्धवती पृथिवी'। क्योंकि पृथिवी में यह गन्ध-गुण आपः आदि आठ सजातीयों तथा गुण आदि पाँच पदार्थों से व्यावृत्त (=भिन्न) है। यदि सूत्र २/१/१ (४९) के अनुसार रस व रूप के आधार पर पृथिवी का लक्षण करना हो, तो 'षड्रसवती' या 'सप्तरूपवती' पृथिवी लक्षण किया जा सकता है ॥ ३ ॥

प्रसंग :- पृथिवी में ही व्यवस्थित गन्ध गुण वताकर अव तेजस् द्रव्य में व्यवस्थित गुण बताते हैं :-

तेजस्युष्णता ॥ ४ ॥ (८३)

यहाँ गतसूत्र से लिङ्गविपर्यय के साथ 'व्यवस्थितः' की अनुवृत्ति है। अन्वय इस प्रकार होगा - 'तेजसि उष्णता व्यवस्थिता'।

[तेजसि] अग्नि में [उष्णता] उष्णता (= गर्मी) { व्यवस्थित (= विशेपरूप से अवस्थित) = स्वाभाविक है }।

पृथिवी में गन्ध-गुण के समान अग्नि में 'उष्ण-स्पर्श' व्यवस्थित (= नैसर्गिक = स्वाभाविक) है।

पृथिवी, जल और वायु में जो उष्णता प्रतीत होती है, वह अग्नि के सम्वन्ध से औपाधिक है। स्वाभाविक उष्णता तो तेज में ही है ॥ ४ ॥

प्रसंग :- अब जलों का व्यवस्थित गुण बताते हैं :-

अप्सु शीतता ॥ ५ ॥ (८४)

पूर्ववत् यहाँ भी 'व्यवस्थितः' पद की अनुवृत्ति लिङ्ग-विपर्यय के साथ आती है । अन्वय इस प्रकार होगा - 'अप्सु शीतता व्यवस्थिता' ।

[अप्सु] जलों में [शीतता] शीतता (= शीत स्पर्श) {व्यवस्थित (=स्वाभाविक = नैसर्गिक) है ।}

पृथिवी में गन्ध के समान जल में शीत-स्पर्श स्वाभाविक है । अतः अनुष्णशीत पृथिवी और वायु में शीतता की प्रतीति औपाधिक समझनी चाहिए ।

इन्हीं व्यवस्थित गुणों के आधार पर कुछ आचार्यों ने पूर्वोक्त द्रव्यों के लक्षण इस प्रकार किये हैं -

'गन्धवती पृथिवी', 'शीतस्पर्शवत्य आपः', 'उष्णस्पर्शवत्तेजः', 'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः', 'शब्दगुणमाकाशम्' - (द्र.- तर्कसंग्रहादि) ॥

प्रसंग :- विशेष गुणों की स्वाभाविक और औपाधिक प्रतीति का भेद बताकर, शब्द की परीक्षा से पूर्व काल का लक्षण बताते हैं :-

अपरस्मिन् परं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ ६ ॥ (८५)

[अपरस्मिन्] अपर (= आयु की दृष्टि से छोटे, नवीन) में [परम्] पर (= आयु की दृष्टि से बड़े, पुराने) का [युगपत्] एक साथ [चिरम्] देर [क्षिप्रम्] शीघ्रता [इति] इस प्रकार (जो ज्ञान और व्यवहार होते हैं, वे) [काललिङ्गानि] काल के साधक (= चिह्न = लक्षण) हैं ।

यह इससे बड़ा है और यह छोटा - ऐसी प्रतीति या व्यवहार, काल का अनुमापक है । यह इससे बड़ा है या यह इससे छोटा - ऐसा कहने का अभिप्राय

है, कि इसका जन्म पहले हुआ, इसका पीछे - ऐसा व्यवहार जिसके कारण होता है, वही काल है। जैसे चैत्र आठ साल का हैं और मैत्र पाँच साल का यहाँ चैत्र बड़ा मैत्र छोटा। यदि दिनेश तीन वर्ष का है, तो मैत्र बड़ा और दिनेश छोटा होगा।

ये दोनों इकट्ठे बने हैं। - इसका तात्पर्य यह है, कि घड़े तो दोनों अलग-अलग हैं, किन्तु ये दोनों एक काल में उत्पन्न हुए हैं। यह व्यवहार काल का ज्ञापक है।

इसी प्रकार नरेन्द्र मुझसे जल्दी मिला और सुरेन्द्र देर में। इस प्रकार कार्यों का शीघ्र या देर से होना काल का सूचक है।

'यह दरी चद्दर से पुरानी है' - ऐसा कहने में दरी या चद्दर (नया या पुरानापन) गुणों के समवायिकारण हैं ; सूर्यादि - संयुक्त काल का वस्तु या पिण्ड के साथ संयोग असमवायिकारण होता है। तथा दिशा आदि निमित्त-कारण हैं ॥६॥

प्रसंग :- 'काल' कोई पदार्थ है, यह तो सिद्ध हो गया, परन्तु उसे नित्य और द्रव्य कैसे मानें ? इस शंका का समाधान करते हैं :-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥ (८६)

[द्रव्यत्वनित्यत्वे] (काल का) द्रव्य होना और नित्य होना [वायुना] वायु के (विवरण) द्वारा [व्याख्याते] व्याख्यात समझने चाहिए।

पूर्व सूत्रों {२/१/११, १२ (५९, ६०)} में वायु को अन्य द्रव्य के आश्रित न रहने, क्रियावाला और गुणवाला होने से द्रव्य सिद्ध किया है; उसी प्रकार काल भी अन्य द्रव्य के आश्रित न रहने (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग इन पाँच] गुणों वाला होने तथा क्रियामात्र का निमित्तकारण होने से द्रव्य सिद्ध है।

यह विभु-परिमाण तथा 'कारणेन कालः' {५/२/२६ (२२४)} के अनुसार कर्म के प्रति निमित्तकारण है। {२/१/१३ (६१)} में वायु के परमाणु को, अन्य कोई द्रव्य उसका समवायिकारण न होने नित्य कहा है; वैसे ही काल का कोई अन्य द्रव्य समवायिकारण न होने से उसे भी नित्य समझना चाहिए।

इस प्रकार वायु के समान काल के द्रव्य होने और नित्य होने का व्याख्यान हो गया ॥ ७ ॥

प्रसंग :- क्या वायुरूप नित्य परमाणुओं के अनेकत्व के समान काल को भी अनेक मानना चाहिए ? सूत्रकार उत्तर देते हैं :-

तत्त्वं भावेन ॥ ८ ॥ (८७)

[तत्त्वम्] (काल का स्वरूप से) तत्त्व (=एकत्व = एक होना) [भावेन] भाव (= सत्ता) के (विवरण) द्वारा (व्याख्यात है)।

यहाँ पिछले सूत्र से वचनविपर्यास के साथ 'व्याख्याते' की अनुवृत्ति आती है। अन्वय होगा - 'तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्'।

जिस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म में - 'है', 'है' - इस प्रकार का एक सा ज्ञान 'सत्ता' (=जाति) की एकता को सिद्ध करता है, वैसे ही पर, अपर, युगपत्, चिर, क्षिप्र - ये एकरूप से एक काल का बोध कराते हैं।

भूत, भविष्यत्, अपर, पर आदि भेद तो वस्तुओं की स्थिति और क्रियाओं के कारण प्रतीत होते हैं। और भी कोई भेदक लिङ्ग न होने से काल एक है ॥ ८ ॥

प्रसंग :- अब सम्पूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थों का कारण काल भी है, यह बताते हैं -

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥ ९ ॥ (८८)

[नित्येषु] (आत्मा, आकाश, परमाणु आदि) नित्य पदार्थों में [अभावात्] न होने से [अनित्येषु] (मनुष्य, पशु, पक्षी, घट, पट आदि) अनित्य पदार्थों में [भावात्] (पर, अपर, युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि व्यवहार) होने से [कारणे] कारण होने में [कालाख्या] काल का नाम (लिया जाता है) [इति] इस प्रकार (यह काल का प्रकरण पूरा हुआ) ।

यह पहले उत्पन्न हुआ, यह पश्चात् उत्पन्न हुआ, ये साथ-साथ उत्पन्न हुए - इत्यादि प्रतीतियाँ, आत्मा आदि नित्य पदार्थों में नहीं होतीं, किन्तु घट, पट आदि अनित्यों (= उत्पत्तिवालों) के विषय में ही होती है । इससे स्पष्ट है, कि काल उत्पत्ति वाले सारे पदार्थों का ही निमित्तकारण है । फिर भी अपने अन्दर रहने वाले संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुणों का तो समवायिकारण ही है ।

विभिन्न ऋतुओं के अनुसार विभिन्न वनस्पति, पुष्प, फल की उत्पत्ति होना काल के अस्तित्व का लिङ्ग है; क्योंकि वसन्त, वर्षा, हेमन्त आदि ऋतुएं भी काल के ही स्वरूप हैं, इसलिए इन्हें वासन्तिक, प्रावृषेण्य, हैमन्तिक वनस्पति, पुष्प, फल आदि कहते हैं ॥ ९ ॥

१० - कालप्रकरणम्

सूत्र २/२/६ - ९ आदि के अनुसार क्रमप्राप्त काल के लक्षण और परीक्षण के लिए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) - कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । तेषां विषयेषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तावन्यनिमित्ताभावाद्यदत्र निमित्तं स कालः ।

सर्वकार्याणाञ्चोत्पत्तिस्थितिविनाशहेतुस्तद्व्यपदेशात् । क्षण - लव - निमेष - काष्ठा - कला - मुहूर्त - यामाहोरात्रार्धमास - मासर्त्वयन-संवत्सर-युग-कल्प-मन्वन्तर-प्रलय-महाप्रलय-व्यवहारहेतुः ।

तस्य गुणाः संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाः ।

काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम् । तदनुविधानात् पृथक्त्वम् । कारणे काल इति वचनात् परममहत् परिमाणम् । कारणपरत्वादिति वचनात् संयोगः । तद्विनाशकत्वाद् विभाग इति । तस्याकाशवद् द्रव्यत्वनित्यत्वे सिद्धे । काललिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिनिर्वृत्तिस्थितिनिरोधोपा -धिभेदान्मणिवत् पाचकवद्वा नानात्वोपचार इति ।।

(दैशिक परत्व-अपरत्व से भिन्न, एक ही वस्तु में) १. कालिक परत्व तथा कालिक अपरत्व का ज्ञान, २ - युगपत् (= एक काल में होने की) प्रतीति, ३ - अयुगपत् (= अनेक काल में होने का) ज्ञान, ४-चिर (=बिलम्ब से होने का) ज्ञान, एवं ५ - क्षिप्र (= शीघ्र होने का) ज्ञान - इन पाँच ज्ञान (=प्रतीति) रूप हेतुओं से काल द्रव्य का अनुमान होता है। इन पाँचों में से द्रव्यादि पदार्थों के विषय में प्रत्येक प्रतीति शेष प्रतीतियों से विलक्षण है। इन विलक्षण प्रतीतियों में (काल से भिन्न) अन्य निमित्त न होने से, इन परत्व आदि व्यवहारों में जो निमित्तकारण है, वही 'काल' नामक द्रव्य है।

यह काल प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण है; क्योंकि काल से युक्त होकर ही संसार के उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल, विनाशकाल आदि व्यवहार होते हैं। यही काल १ - क्षण (=क्रियामात्र की उत्पत्ति का आधार सूक्ष्मतम काल), २ - लव (= दो क्षण), ३ - निमेष (= पलक गिरने का समय), ४ - काष्ठा (= १८ निमेष रूप काल), ५ - कला (= ३० काष्ठा का समय) ५ - मुहूर्त (= २ घड़ी = ४८ मिनट का समय), ६ - याम (= प्रहर = ३ घंटे का

समय), ७ - अहोरात्र (= १ दिनरात = २४ घंटे), ८ - अर्धमास (= पक्ष = १५ दिन), ९ - मास (= महीना), १० - ऋतु (= २ मास, वसन्तादि रूप), ११ - अयन (= ६ महीने, उत्तरायण - दक्षिणायन), १२ - संवत्सर (= १ वर्ष), १३ - युग (= कृतादि युग), १४ - कल्प (= एक सृष्टिकाल), १५ - मन्वन्तर (= स्वायंभुव आदि १४ मनुओं का समय), १६ - प्रलय (= खण्डप्रलय जिसमें स्थूल भूतों के कार्य द्रव्य नष्ट / कारण में लीन हो जाते हैं), १७ - महाप्रलय (= कार्यमात्र का कारण में लय, जिसमें महत्तत्त्व भी सत्त्व - रजस् - तमस् में बदल जाता है) - इत्यादि व्यवहारों का कारण होता है ।

उस काल द्रव्य के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये पाँच सामान्य गुण हैं ।

कालप्रतीति के साधक युगपदादि विषयक प्रतीतियाँ सर्वत्र समान होने से काल में एकत्व है । एकत्व संख्या के अनुसरण से काल में एकपृथक्त्व गुण भी सिद्ध होता है । {द्र. ''तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति'' (२/१/३१)} । ''कारणे कालः'' (वैशे. ७/१/२५) इस सूत्र के कथन से काल में परम महत्परिमाण भी सिद्ध होता है । ''कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च (परमपरं च)'' - (वैशे.७/२/२२) इस सूत्रवचन से काल में संयोग गुण की सिद्धि होती है । उस (=संयोग) का विनाशक होने से काल में विभाग गुण भी है । इस प्रकार काल में ये पाँच सामान्य गुण हैं ।

उस काल के आकाश के समान [गुणाधार एवं अनाश्रित होने से] द्रव्यत्व और [समवायि एवं असमवायिकारण न होने से] नित्यत्व सिद्ध हैं ।

काल के साधक पूर्वोक्त युगपदादि हेतु सर्वत्र समान होने से वास्तव में काल एक होने पर भी, सभी क्रियाओं के आरम्भ (=उपक्रम), क्रिया की परिसमाप्ति, स्थिति (=स्वरूपावस्थान) तथा निरोध (=समाप्ति) आदि उपाधियों के भेद से काल में अनेकता का व्यवहार होता है । जैसे कि जपाकुसुम आदि में सन्निहित स्फटिक

आदि एक मणि में अनेक प्रकार की प्रतीति होती है, अथवा पढ़ाने के कारण पाठक, पकाने के कारण पाचक का एक ही व्यक्ति में व्यवहार होता है । - यह काल का विवेचन पूरा हुआ ॥

प्रसंग :- अब काल के वर्णन के अनन्तर सूत्रकार क्रम-प्राप्त 'दिक्' (=दिशा) का लक्षण बताते हैं :-

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम् ॥ १० ॥ (८९)

[इतः] इधर से, यहाँ से [इदम्] यह (दूर है, समीप है) [इति] इस प्रकार (का व्यवहार) [यतः] जिस (निमित्त) से (होता है), [तद्] वह [दिश्यम्] दिशा का द्योतक [लिङ्गम्] लक्षण (=चिह्न) है ।

इससे यह दूर-समीप, ऊपर-नीचे आदि है, इस व्यवहार के निमित्त पदार्थ को 'दिक्' (=दिशा) कहते हैं । 'दिश इदम् (-अनुमापकं = द्योतकम्) = दिश्यम् = दिशा का द्योतक । जैसे - देहरादून से दिल्ली दूर है, हरिद्वार निकट है । हरिद्वार से देहरादून उत्तर में तथा दिल्ली दक्षिण में है । यहाँ दूरत्व, समीपत्व, उत्तर में होना या दक्षिण में होने का समवायिकारण ये नगर हैं । 'असमवायिकारण' पूर्व-पश्चिम आदि (दिशा) का इन नगरों से संयोग-सम्बन्ध है । तथा ये पूर्व-पश्चिम आदि व्यवहार जिसके निमित्त से नियमित हैं, वह 'दिशा' है, जो कि विविध सम्बन्धों का निमित्तकारण है ।

यह दिशा एक और अखण्ड है । किन्तु व्यवहार के लिए इसके अनेक भेद कर लिए गये हैं ॥ १० ॥

प्रसङ्ग :- अब दिशा का काल के समान द्रव्यत्व और नित्यत्व सिद्ध करते हैं :-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥ (९०)

[द्रव्यत्वनित्यत्वे] (दिशा का) द्रव्य होना और नित्य होना [वायुना] वायु के (विवरण) द्वारा [व्याख्याते] व्याख्यात समझने चाहिए ।

जिस प्रकार पूर्वसूत्रों (२/१/११, १२) में वायु को अन्य द्रव्य के आश्रित न रहने, क्रियावाला और गुणवाला होने से द्रव्य सिद्ध किया है, उसी प्रकार दिक् (=दिशा) भी अन्य द्रव्य के आश्रित न रहने, [संख्या, परिमाण (=विभु), पृथक्त्व, संयोग, विभाग इन पाँच] गुणों वाली (-इन पाँच गुणों का समवायिकारण) होने तथा क्रियामात्र का निमित्तकारण होने से द्रव्य सिद्ध होती है ।

एवं वायु के परमाणु के समान ही दिशा को उसका अन्य द्रव्य समवायिकारण न होने से नित्य समझना चाहिए ।

इस प्रकार वायु के समान 'दिशा' के द्रव्य होने और नित्य होने का व्याख्यान हो गया ॥ ११ ॥

प्रसंग :- अब सूत्र ८ (८७) के समान दिशा के भी एक होने का अतिदेश करते हैं :-

तत्त्वं भावेन ॥ १२ ॥ (९१)

यहाँ गतसूत्र से वचन-विपर्यास के साथ 'व्याख्याते' की अनुवृत्ति आती है । सूत्र का अन्वय होगा -

'तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्' ।

[तत्त्वम्] तत्त्व (=तत्स्वरूप=एकत्व=एक होना) [भावेन] भाव (= सत्ता) के विवरण द्वारा (व्याख्यात समझ लेना चाहिए) ।

जिस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म में 'है, है' - इस प्रकार का एकसा ज्ञान सत्ता की एकता को सिद्ध करता है; वैसे ही 'दूर, समीप, पूर्व, पश्चिम' आदि एक रूप से एक दिशा का बोध कराते हैं।

समीप, दूर, पूर्व, पश्चिम आदि भेद वस्तुओं की स्थिति के कारण प्रतीत होते हैं। सर्वत्र दिशा शब्द समान रूप से अनुगत रहता है। अन्य भी कोई भेदक लिङ्ग न होने से दिशा एक है और वह विभु है ॥ १२ ॥

प्रसंगः- किन्तु लोक में तो पूर्व-पश्चिम आदि अनेक दिशाएं व्यवहार में आती हैं, फिर उसे एक कैसे मान लें ? सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥ (९२)

[कार्यविशेषेण] कार्यभेद से [नानात्वम्] (दिशा का) अनेक होना (प्रतीत होता है)।

व्यवहार की सुगमता के लिए हम दिशा के नाना भेदों की कल्पना कर लेते हैं। वस्तुतः अखण्ड दिशा एक ही है। उसका स्पष्टीकरण आगे के सूत्रों में है ॥१३॥

प्रसंगः- उसी कार्यभेद को सूत्रकार स्पष्ट करते हैं :-

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥ (९३)

[भूतपूर्वात्] पहले हो चुके [भूतात्] (अब) वर्तमान में होते हुए [च] और [भविष्यतः] आगे होने वाले [आदित्यसंयोगात्] सूर्योदय के संयोग से [प्राची] प्राची (=पूर्व) दिशा (कहलाती है)।

जिस दिशा में सृष्टि के आरम्भ से सूर्य का उदय (=प्रथम दर्शन) होता आया

है, अब उदय होता है और आगे होगा; उस दिग्विभाग को पूर्व दिशा कहते हैं।

सूत्र में 'भूतात्' पद का 'भूत' शब्द उदित = उदय होकर वर्तमान अर्थ में है; क्योंकि भूतकालार्थक एक अन्य शब्द 'भूतपूर्वात्' पढ़ा है ।

यह आवश्यक नहीं, कि सूर्य हर समय उसी ओर दिखाई देता रहे; तभी यह व्यवहार हो । सर्वप्रथम दिखाई देना ही यहाँ अपेक्षित है । इसीलिए 'प्राची' पद का निर्वचन इस प्रकार करते हैं - 'प्राक् सविता यस्याम् अञ्चतीति प्राची' अर्थात् सूर्य जिस ओर सबसे पहले प्राप्त या दृष्टिगोचर होता है, वह 'प्राची' दिशा है ॥१४॥

प्रसंग :- व्यवहार में आनेवाली अन्य दिशाओं के विषय में भी सूत्रकार इसी प्रक्रिया का निर्देश करते हैं :-

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥ १५ ॥ (९४)

[तथा] उसी प्रकार [दक्षिणा] दक्षिण दिशा [प्रतीची] पश्चिम दिशा [च] और [उदीची] उत्तर दिशा (समझनी चाहिए) ।

जिस प्रकार सूर्य के उदयकाल की दिशा का नाम पूर्व (=प्राची) है, उसी प्रकार उदय की अपेक्षा ठीक विपरीत दिशा (=जहाँ सूर्य अस्त होता दीखता है) को पश्चिम (=प्रतीची) दिशा कहते हैं । उदय होते हुए सूर्य के सम्मुख खड़े होकर जिधर दक्षिण हाथ है, वह दक्षिण दिशा और जिधर वाम हाथ है, वह उदीची दिशा कहलाती है । यहाँ भी भूत, भविष्यत् सूर्य-संयोग को लेकर प्राची के समान व्यवहार समझना चाहिए ॥ १५ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अवान्तर दिशाओं को समझाने के लिए भी इसी प्रक्रिया का निर्देश करते हैं -

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥ (९५)

[एतेन] इस (प्राची आदि मुख्य चार दिशाओं के वर्णन) से [दिगन्तरालानि] उन दिशाओं के मध्यवर्ती अवान्तर दिशाओं के (विवरण भी) [व्याख्यातानि] व्याख्यात (समझ लेने चाहिए)।

प्राची, दक्षिणा आदि दिशाओं के विवरण से इनकी मध्यवर्ती दिशाओं को भी समझ सकते हैं। जैसे -

पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा = आग्नेयी।
दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा = नैर्ऋति।
पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा = वायवी।
उत्तर और पूर्व के बीच की दिशा = ऐशानी।

ये चार मुख्य दिशाएँ हैं। इनके अतिरिक्त ऊपर और नीचे की ओर 'ऊर्ध्व' और 'अधः' दिशाएँ हैं।

ये सब एकमात्र दिशा के औपचारिक भेद हैं, जो कि व्यवहार की सुविधा के लिए कल्पित हैं। इनके और भी असीमित अवान्तर विभाग हो सकते हैं ॥ १६ ॥
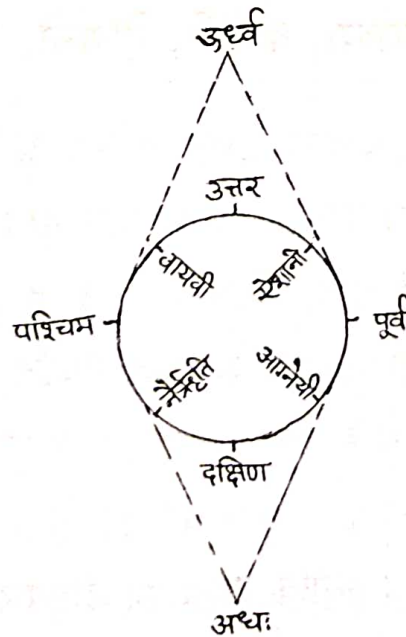
१० दिशाएँ

११ - दिक्प्रकरणम्

वैशे. २/२/१०-१६ आदि सूत्रों के अनुसार क्रमप्राप्त 'दिशा' के लक्षण और परीक्षण के लिए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा । मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्त्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण, दक्षिणेन, पश्चिमेनोत्तरेण, पूर्वदक्षिणेन, दक्षिणापरेण, अपरोत्तरेण, उत्तरपूर्वेण, चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दशप्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासम्भवात् ।

तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोग-विभागाः कालवदेव सिद्धाः ।

दिग्लिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि दिशः, परममहर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोक-संव्यवहारार्थं मेरुं प्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगविशेषाः [तेषां] लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादि भेदेने दशविधाः सञ्ज्ञाः कृताः, अतो भक्त्या दश दिशः सिद्धाः ।

तासामेव देवतापरिग्रहात् पुनर्दश सञ्ज्ञा भवन्ति-माहेन्द्री, वैश्वानरी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ऐशानी, ब्राह्मी, नागी चेति ॥

दिशा नामक द्रव्य पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि प्रतीतियों से अनुमित होने वाला है । किसी मूर्त्त द्रव्य को अवधि मानकर मूर्ति वाले ही दूसरे द्रव्यों में, इससे यह पूर्व में है, यह दक्षिण में है, पश्चिम है, उत्तर है, पूर्व और दक्षिण के मध्य 'आग्नेय' कोण में है, दक्षिण और पश्चिम के मध्य 'नैर्ऋति' कोण में है, पश्चिम और उत्तर के मध्य 'वायव्य' कोण में है, उत्तर और पूर्व के 'ईशान्य' कोण में है, इससे 'नीचे' है, इससे 'ऊपर' है - ये दस प्रकार की प्रतीतियाँ जिस द्रव्य के निमित्त से हैं, वही 'दिशा' नामक द्रव्य है । क्योंकि दिशा को छोड़कर उक्त विलक्षण प्रतीतियों का अन्य कोई द्रव्य निमित्त नहीं हो सकता ।

उस दिशा नामक द्रव्य के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण हैं। काल के समान ये सामान्य गुण दिशा में भी सिद्ध हैं। यथा पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार सर्वत्र समान होने से दिशा में 'एकत्व' है, एकत्व - संख्यानुसारी होने से दिशा में 'एकपृथक्त्व' गुण है, व्यापक होने से परममहत्परिमाण है, (द्र.-७/१/२४) आदित्यसंयोग के निमित्त वाले होने से इसमें 'संयोग' गुण है, तथा संयोग का विरोधी होने से 'विभाग' गुण भी है।

पूर्व, पश्चिम आदि दिशा की साधक प्रतीतियाँ सर्वत्र एक समान होने से वस्तुतः दिशा के एक होने पर भी आर्ष-दृष्टि सम्पन्न बड़े-बड़े महर्षियों ने विशेष केन्द्र की दैनिक परिक्रम करते हुए से प्रतीत होने वाले भगवान् सूर्य के जो संयोगविशेष पूर्वादि दिशाओं के स्वामियों से अधिकृत पूर्व आदि दिशाओं के प्रदेशों से होते हैं, उनके अन्वर्थक (=योग/सम्बन्ध के अनुसार) प्राची आदि दस नाम रखे; जिससे दिशाओं पर आधारित श्रौत (= वैदिक), स्मार्त (=स्मृतियों के अनुसार) एवं लौकिक व्यवहार अच्छी तरह चल सकें। जैसे (श्रौत-) 'न प्रतीचीशिराः शयीत'' (=पश्चिम की ओर शिर करके नहीं सोना चाहिए)। ''वायव्यं पशुमालभेत'' (तै.सं.२/१/१) (=पश्चिमोत्तर दिशा के पशु का स्पर्श करे), (स्मार्त) - ''आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते'' (=पूर्वाभिमुख भोजन से आयु की वृद्धि होती है); (लौकिक) - पूर्वं गच्छ, दक्षिणमवलोकय'' (=पूर्व दिशा में जा, दक्षिण की ओर देख) इत्यादि। इस प्रकार दिशाओं के ये दस नाम द्रव्यों के भेद से औपाधिक / गौण हैं। दिशा तो एक ही है। उन्हीं दस दिशाओं की दैवी शक्तियों को लेकर निमित्तान्तर से फिर दस संज्ञाएं हैं - १. माहेन्द्री (= इन्द्र की, पूर्व की), २ - वैश्वानरी (=अग्नि की, आग्नेयी = पूर्व-दक्षिण के मध्य की), ३ - याम्या (= यम की, पश्चिम की), ४ - नैर्ऋती (= नैर्ऋत राक्षसों की, दक्षिण-पश्चिम की), ५ - वारुणी (=वरुण की, उत्तर की), ६ - वायव्या (= वायु की, पश्चिमोत्तर की), ७ - कौबेरी (= कुबेर की, दक्षिण की), ८ - ऐशानी (= ईशान की, पूर्वोत्तर की), ९ - ब्राह्मी (= ब्रह्मा की,

ऊपर की), १० - नागी (= नागों की, नीचे की) इस प्रकार दिशा के ये दस यौगिक नामान्तर हैं ॥

प्रसंगः - अब आत्मा का प्रकरण आरम्भ करने से पहले आकाश के विशेष गुण शब्द की परीक्षा करना चाहते हुए सूत्रकार परीक्षा के अंगभूत संशय के कारण दिखलाते हैं :-

सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥ (९६)

[सामान्यप्रत्यक्षात्] (किसी वस्तु के) सामान्य (= साधारण) धर्मों (=गुणों) के प्रत्यक्ष से [विशेषाप्रत्यक्षात्] विशेष (धर्मों = गुणों) के प्रत्यक्ष न होने से [च] और [विशेषस्मृतेः] विशेष (धर्मों) की स्मृति से (जो द्विधायुक्त प्रत्यक्ष होता है, वह) [संशयः] संशय कहाता है ।

जैसे सायंकाल के झुटपुटे (= अल्पप्रकाश) में सामने थोड़ी दूर खड़ी कोई आकृति दीखने पर किसी व्यक्ति को जब यह निश्चय नहीं हो पाता, कि यह स्थाणु (=टूटे हुए पेड़ का केवल तना = ठूंठ) है अथवा मनुष्य; तब ऐसे प्रत्यक्ष को 'संशय' कहते हैं । क्योंकि उस समय उस व्यक्ति को उनके समान धर्म लम्बाई-चौड़ाई आदि दीख रहे हैं, किन्तु विशेष-धर्म पुरुष के शिर, हाथ, पैर आदि और वृक्ष के तने के शाखा, टेड़ापन, खोखलापन आदि नहीं दीख रहे । परन्तु व्यक्ति को उन दोनों के विशेषधर्म स्मरण हैं; क्योंकि उसने पहले दोनों अच्छी तरह देखे हैं ।

इसी प्रकार शास्त्रीय विषयों में भी संशय उत्पन्न होता है । संशय की न्यायदर्शन में परिभाषा की है -

"समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" - **(न्याय. १/१/२३)** ।

और बौद्धदर्शन में भी :-

''साधर्म्यदर्शनाद्विशेषोपलिप्सोर्विमर्शः संशयः'' ॥ १७ ॥

प्रसंगः - साधारण धर्म अनेक धर्मियों में अथवा एक धर्मी में देखा हुआ संशय को उत्पन्न कर देता है। उनमें से प्रथम अनेकाधिकरणविषयक (= अनेक धर्मियों वाले) संशय को स्पष्ट करते हैं :-

दृष्टं च दृष्टवत् ॥ १८ ॥ (९७)

[च] और [दृष्टम्] एक दृष्ट (वस्तु) [दृष्टवत्] (पहले) देखी हुई (वस्तुओं) के समान होने पर (संशय को उत्पन्न कर देती है)।

जैसे सामने दीखने वाली आकृति पहले देखे हुए स्थाणु और पुरुष दोनों के समान धर्म वाली है। उससे निश्चय नहीं हो रहा कि - यह पुरुष है अथवा स्थाणु।

अथवा जैसे - झाड़ियों के अन्दर चरते हुए पशु के केवल सींग दीखने पर यह संशय हो रहा है, कि ये गाय के सींग है या गवय (=नील गाय) के; क्योंकि इस प्रकार के सींग द्रष्टा ने दोनों के देखे हैं ॥ १८ ॥

प्रसंग :- अब एक धर्मी के विषय में संशय दिखाते हैं :-

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥ (९८)

[यथादृष्टम्] जैसा देखा था, (उसे) [अयथादृष्टत्वात्] वैसा न देखे जाने से [च] भी (संशय होता है)।

हमने पहले चैत्र नामक व्यक्ति को जटाधारी देखा था, अब कालान्तर में अल्पप्रकाश में उसी को मुंडा हुआ देख रहे हैं। आकार-प्रकार वैसा ही होते हुए भी संशय हो रहा है, कि यह व्यक्ति चैत्र ही है, या अन्य कोई है।

अथवा एक बार चैत्र को जटाधारी देखा था, दूसरी बार मुंडा हुआ। किन्तु अब शिर पर कपड़ा लपेटे हुए देख रहे हैं। उसमें संशय है, कि यह चैत्र बालों वाला है, या मुंडा हुआ। क्योंकि इस बार उसका शिर पहले के समान खुला हुआ नहीं, अपितु वस्त्र से ढका हुआ है।

इस प्रकार यह एक ही व्यक्ति में संशय का उदाहरण है ॥१९॥

प्रसंग :- अब आन्तर (= स्वयं के) संशय को सूत्रकार स्पष्ट करते हैं :-

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥ २० ॥ (९९)

[विद्याऽविद्यातः] विद्या (= यथार्थज्ञान = उपलब्धि) और अविद्या (= अयथार्थज्ञान = अनुपलब्धि) से [संशयः] संशय हो जाता है।

व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह कभी यथार्थ (= सत्य) भी निकलता है और कभी अयथार्थ (= असत्य) भी। अतः व्यक्ति को केवल सामान्य ज्ञान होने से अपने ही ज्ञान पर यह संशय हो जाता है, कि मेरा यह ज्ञान सत्य है या असत्य।

जैसे - १ :- बादलों के होने पर वृष्टि होती है, यह ज्ञान है और कभी बादलों के होने पर भी वृष्टि नहीं होती। यह उसके विपरीत अनुभूति है। पुनः बादल घिरने पर यह संशय स्वयं के ज्ञान पर होता है, कि वृष्टि होगी अथवा नहीं।

२ :- अग्नि से धुआँ उत्पन्न होता है, यह ज्ञान है; किन्तु इससे विपरीत जलाशय से भी भापरूप में धूम सा उठता है। पुनः कभी अचानक धुआँ देखकर अपने पूर्वज्ञान पर संशय होता है, कि यह अग्नि का धुआँ है, या जलाशय की भाप।

३ :- नदी में जल उपलब्ध होता है; मृगमरीचिका में नहीं होता। पुनः दूर से दीखते हुए प्रवाह में संशय होता है, कि यह जल से पूर्ण नदी का प्रवाह है, अथवा मृगमरीचिका प्रवाह।

४ :- किसी ज्योतिर्विद् (= ज्योतिषी) ने यह निर्धारित किया कि अमुक दिन, अमुक समय ग्रहण लगेगा । वह यथार्थ निकला । फिर दूसरी बार अयथार्थ निकला । पुनः कभी ग्रहण का समय निर्धारित करने पर ज्योतिषी को स्वयं भी अपने ज्ञान पर संशय होता है, कि मेरी गणना शुद्ध है या अशुद्ध ।

यह आन्तरिक संशय भी 'सामान्य-धर्म के प्रत्यक्ष और विशेषधर्म के अप्रत्यक्ष से होता है' - इसी हेतु की दृढ़ता दिखाने के लिए सूत्र में पुनः 'संशय' पद पढ़ा है । अथवा संशय-प्रसंग की समाप्ति दिखाने के लिए 'संशय' पद का पुनः पाठ हो सकता है ।। २० ।।

प्रसंग :- परीक्षा के मुख्य अंग संशय का स्वरूप बताकर, अब परीक्षणीय 'शब्द' की परीक्षा आरम्भ करते हुए; पहले तो शब्द का स्वरूप बताते हैं -

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ।। २१ ।। (१००)

[यः] जो [अर्थः] विषय (= धर्मिरूप पदार्थ) [श्रोत्रग्रहणः] श्रवणेन्द्रिय (= कान) से ग्रहण किया जाए [सः] वह [शब्दः] शब्द है ।

श्रोत्रं ग्रहणं (= ग्रहकरणं) यस्य स श्रोत्रग्रहणः । वर्णोच्चारण शिक्षा में भी कहा है - "श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः" - (महा. १/१/२/२) ।

सूत्र में 'अर्थ' पद का ग्रहण करने से अर्थप्रत्यायक वर्ण-समूह ही शब्द कहलाते हैं, श्रोत्रग्राह्य होते हुए भेरी, शंख, ढोल आदि की ध्वनि में 'शब्दत्व' की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।।२१।।

प्रसंगः - श्रोत्रग्राह्य शब्द को गुण सिद्ध करने के लिए पहले उसमें संशय दिखाते हैं :-

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथाऽदृष्टत्वात् ॥ २२ ॥ (१०१)

यहाँ सूत्र २० से 'संशय' की तथा २१ से 'शब्द' की सप्तम्यन्तविभक्तिपरिवर्तन के साथ अनुवृत्ति आती है ।

[तुल्यजातीयेषु] समान जाति वाले (= गुणपदार्थों) में (और) [अर्थान्तरभूतेषु] अन्य पदार्थों (= द्रव्यों और कर्मों) में से [विशेषस्य] विशेष (=श्रोत्रग्राह्यत्व) के [उभयथा] दोनों प्रकार के पदार्थों में [अदृष्टत्वात्] न देखे जाने से (शब्द के विषय में संशय होता है, कि - 'शब्द' द्रव्य है, गुण है, या कर्म है) ।

शब्द का विशेष धर्म 'श्रोत्रग्राह्यत्व' है । यदि 'शब्द' को द्रव्य मानें, तो तुल्यजातीय (=द्रव्यों) और अर्थान्तरभूत (=अतुल्यजातीय) गुण, कर्म दोनों ही स्थलों में कहीं भी श्रोत्रग्राह्यत्व नहीं देखा जाता । न कोई द्रव्य श्रोत्रग्राह्य है, न गुण, न कर्म ।

यदि 'शब्द' को गुण माना जाए, तो समानजातीय (= गुणों) और अर्थान्तरभूत (=असमानजातीय) = द्रव्य - कर्म दोनों ही स्थलों में कोई श्रोत्रग्राह्य नहीं ।

यदि 'शब्द' को कर्म कहा जाय, तो समानजातीय (= कर्मों) और अर्थान्तरभूत (=अतुल्यजातीय) - द्रव्य - गुण दोनों ही स्थलों में कोई श्रोत्रग्राह्य नहीं ।

इस प्रकार शब्द के विशेषधर्म (= असाधारणधर्म) श्रोत्र-ग्राह्यत्व के समान और असमान दोनों प्रकार के पदार्थों में अदृष्ट होने से संशय होता है; कि शब्द को द्रव्य, गुण, कर्म में से क्या मानें ॥ २२ ॥

प्रसंग :- इस प्रकार त्रिकोटिक (=त्रिकोणात्मक) संशय दिखाकर, सूत्रकार द्रव्यकोटि के खण्डन के लिए कहते हैं :-

एकद्रव्यवत्त्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥ (१०३)

यहाँ सूत्र २१ से 'शब्दः' की अनुवृत्ति है।

[एकद्रव्यवत्त्वात्] एक द्रव्य (-समवायिकारण) वाला होने से [द्रव्यम्] (शब्द) द्रव्य [न] नहीं है।

'शब्द' आकाश का लक्षण है। अर्थात् आकाश शब्द का समवायिकारण है; यह सूत्र-(२/१/२७) में बता चुके हैं। और (२/१/२९, ३० में) आकाश का एकत्व सिद्ध कर चुके हैं। इस प्रकार 'शब्द' का एकमात्र समवायिकारण द्रव्य आकाश है।

किसी भी कार्यद्रव्य का समवायिकारण एकद्रव्य नहीं होता, अपितु अनेक द्रव्य मिलकर किसी कार्यद्रव्य को उत्पन्न करते हैं। यथा - एक तन्तु से वस्त्र नहीं बनता, न मिट्टी के एक कण से घड़ा बन सकता है। अपितु अनेक तन्तुओं से वस्त्र तथा बहुत से मृत्कणों से घट बनता है। द्व्यणुक भी दो परमाणुओं के मेल से बनता है। अतः द्रव्य से विरुद्ध-धर्मवाला होने के कारण 'शब्द' द्रव्य नहीं ॥ २३ ॥

प्रसंगः- क्यों जी ! एक द्रव्य के आश्रित तो कर्म होता है, इसलिए शब्द को कर्म मानना चाहिए। सूत्रकार इस आशंका का समाधान करते हैं -

नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य ॥ २४ ॥ (१०३)

यहाँ सूत्र २१ से 'शब्द' पद की अनुवृत्ति है।

[कर्म] (शब्द) कर्म [अपि] भी [न] नहीं हो सकता [प्रत्ययस्य] (शब्द-) ज्ञान के [अचाक्षुषत्वात्] चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा गृहीत न होने से।

उत्क्षेपण - अवक्षेपण आदि कर्मों का चक्षु-इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है। परन्तु शब्द का ज्ञान चक्षु-इन्द्रिय से न होकर श्रोत्र द्वारा होता है। अर्थात् शब्द अचाक्षुष है और कर्म चाक्षुष। यह शब्द का कर्म के साथ वैधर्म्य है।

यहाँ 'अपि' शब्द हेतु के समुच्चयार्थ भी माना जा सकता है। अर्थात् शब्द के कर्म से अन्य भी वैधम्य हैं। जैसे : १ कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं होता - 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' (१/१/११), परन्तु शब्द की उत्पत्ति शब्द से हो सकती है - "संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (२/२/३१)।

२ - इसी सूत्र के अनुसार संयोग और विभाग से भी शब्द उत्पन्न होता है, किन्तु इनसे कर्म उत्पन्न नहीं होता। अपितु कर्म से संयोग-विभाग उत्पन्न होते हैं।

अतः 'शब्द' कर्म भी नहीं हो सकता। इस प्रकार परिशेष न्याय से 'शब्द' गुण ही हो सकता है॥ २४॥

प्रसंगः - क्यों जी ! उत्क्षेपणादि कर्मों के समान आशुविनाशी होने से शब्द को भी कर्म क्यों न मान लिया जाय ? सूत्रकार समाधान करते हैं :-

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्॥ २५॥ (१०४)

[गुणस्य] गुण [सतः] होते हुए (शब्द) का [अपवर्गः] (आशु=शीघ्र) विनाश होना [कर्मभिः] कर्मों के साथ [साधर्म्यम्] साधर्म्य (= समानधर्मत्व) सम्भव है।

शब्द को गुण मानने पर भी आशुविनाशी रूप में उसका कर्म के साथ साधर्म्य सम्भव है। जैसे द्वित्वादि संख्या तथा आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख इत्यादि भी गुण होते हुए आशुविनाशी होते हैं। वैसा ही गुण 'शब्द' है; क्योंकि आशुविनाशित्व धर्म में कर्मों की व्याप्ति नहीं है; कि जहाँ-जहाँ आशुविनाशित्व हो, वहाँ कर्म ही हो।

अतः आशुविनाशी रूप में कर्मों से साधर्म्य होने पर भी 'शब्द' कर्म नहीं, अपितु गुण ही है ॥ २५ ॥

प्रसंगः - पूर्वोक्त साधर्म्य तब माना जा सकता है, जब शब्द का विनाश होता हो; परन्तु शब्द तो उत्पत्ति और विनाश दोनों से रहित है। वह सदा विद्यमान रहता है। उच्चारण से उसकी उत्पत्ति नहीं, अपितु पूर्वविद्यमान की ही अभिव्यक्ति होती है। जैसे अन्धेरे में विद्यमान घट की दीपक से अभिव्यक्ति होती है। इस आशंका का समाधान करते हैं -

सतो लिङ्गाभावात् ॥ २६ ॥ १०५)

यहाँ सूत्र २४ से 'न' की अनुवृत्ति है।

[सतः] विद्यमान रहते हुए (=नित्य) (शब्द) का [लिङ्गाभावात्] लिङ्ग (=चिह्न= बोधकप्रमाण) न होने से (शब्द नित्य नहीं माना जा सकता)।

क्योंकि उच्चारण से पूर्व और पश्चात् शब्द के विद्यमान रहने में कोई लिङ्ग = प्रमाण नहीं है, जो अनुच्चारणकाल में उसके अस्तित्व को सिद्ध कर सके। अतः शब्द कार्य होने से अनित्य है। आकाश उसका आश्रय और समवायिकारण है ॥ २६ ॥

प्रसंगः - शब्द के नित्यत्व में साधक का अभाव दिखाकर अब नित्यत्व में वाधक हेतु वताते हैं :-

नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥ (१०६)

[नित्यवैधर्म्यात्] नित्य के साथ विरुद्धधर्म वाला होने से (शब्द नित्य नहीं है)।

जैसे :- १. नित्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं होते, परन्तु शब्द की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इस प्रकार नित्य के साथ विरुद्ध धर्मवाला होने से शब्द नित्य नहीं है।

२. एक ही शब्द की उत्पत्ति चैत्र से विशेष प्रकार की होती है और मैत्र से भिन्न प्रकार की। इसीलिए अन्धेरे में भी उनके अपने अपने शब्द से ही चैत्र और मैत्र का ज्ञान हो जाता है। अभिव्यक्ति में यह बात नहीं पाई जाती। ऐसा नहीं होता कि अन्धेरे में स्थित घड़ा एक दीपक से जिस प्रकार का दीखे, दूसरे दीपक से उससे भिन्न प्रकार का। इसलिए घड़े की अभिव्यक्ति से दीपक के भेद का अनुमान नहीं होता। परन्तु शब्द के उच्चारण से वक्ता के भेद का अनुमान होता है। यह शब्द का नित्य पदार्थ से दूसरा वैधर्म्य है ॥ २७ ॥

प्रसंग :- शब्द के अनित्यत्व में अन्य हेतु देते हैं :-

अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥ (१०७)

[अयम्] यह शब्द [कारणतः] कारण से (=उत्पत्तिवाला देखे जाने से) [च] भी [अनित्यः] अनित्य है।

जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण हो उसे कारणवत् कहते हैं।

शब्द (=ध्वनिरूप शब्द) की मुख से, ढोलक पर थाप से, नगाड़े पर दण्ड की चोट से, सारंगी पर गज फिराने से, घण्टे में हथौड़ा लगाने, किबाड़ खटखटाने, शंख पूरने इत्यादि कारणों से शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है। और जिसका कारण होता है, वह अनित्य होता है। जैसे घट, पट इत्यादि। जबकि नित्य पदार्थ कारण वाले नहीं होते। जैसे - आत्मा, परमाणु (= सत्त्वादि)।

अतः कारणवाला होने से घट, पट आदि के समान शब्द अनित्य है ॥ २८ ॥

प्रसंग :- भेरी-दण्ड के संयोग आदि से तो शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। अतः भेरी-दण्ड के संयोग द्वारा शब्द की उपलब्धि होने से शब्द को कारण से उत्पत्ति वाला नहीं कह सकते। अर्थात् शब्द का कारणवत्त्व सिद्ध नहीं है। इस शंका का समाधान करते हैं :-

न चासिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥ (१०८)

[च] और [असिद्धम्] {शब्द का कारणवत्त्व (= कारण वाला होना)} असिद्ध [न] नहीं है [विकारात्] विकारधर्म वाला होने से।

शब्द विकार वाला है, क्योंकि १. भेरी - दण्ड - संयोग के तीव्र या मन्द होने से शब्द (= ध्वनि) भी तीव्र या मन्द हो जाता है। २. एक ही शब्द को विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से (= परस्पर विलक्षण) बोलते हैं; जिससे उनकी अन्धेरे में भी पहचान हो जाती है। ३. जैसे घट, पट आदि कार्य पदार्थ शनैः शनैः निर्बलता को प्राप्त हुए विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शब्द भी क्रमशः तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम विकारों को प्राप्त होता हुआ अन्त में नष्ट हो जाता है।

अतः शब्द में विकृति देखे जाने से उसका 'कारणवाला होना' असिद्ध नहीं है ॥ २९ ॥

प्रसंगः - शब्द तो नित्य ही है। सदा विद्यमान रहने वाले शब्द के जो उत्पत्ति के कारण बताए गए हैं, वे वास्तव में शब्द की अभिव्यक्ति के निमित्त हैं। जब उसकी अभिव्यक्ति (=प्रकट होने) के निमित्त उपस्थित हो जाते हैं, तब वह सुनाई दे जाता है। इस आशंका का समाधान करते हैं :-

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥ (१०९)

यहाँ गत सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति है ।

[अभिव्यक्तौ] (शब्द की) अभिव्यक्ति मानने पर [दोषात्] दोष होने से {(अभिव्यक्ति मानना ठीक) नहीं है} ।

'पहले से ही विद्यमान शब्द, अभिव्यक्त (=प्रकट) होता है' - ऐसा मानने पर अनेक दोष आते हैं । जैसे -

१ - जिस प्रकार किसी भवन में प्रकाश हो जाने पर वहाँ विद्यमान वस्त्र, पात्र, फल, पुस्तक आदि सभी वस्तुएँ समान रूप से समानेन्द्रिय (-नेत्रेन्दिय) से गृहीत हो जाती हैं । उसी प्रकार दण्ड और भेरी (=नगाड़ा) के संयोग से वहाँ पर विद्यमान तन्त्री (=तुरही, मुखवाद्य), मुरज (=ढोलक), तबला, चिमटा, गिटार, हारमोनियम, खञ्जरी (=ढपली) आदि सभी का शब्द अभिव्यक्त होता हुआ समानेन्द्रिय (-श्रोत्रेन्द्रिय, कान) से सुनाई पड़ता । परन्तु ऐसा नहीं होता ।

२. इसी प्रकार किसी मनुष्य के द्वारा एक वर्ण के उच्चारण का प्रयत्न करने पर सभी वर्ण अभिव्यक्त (=प्रकट) होते, किन्तु ऐसा नहीं होता ।

३. - प्रकाश आदि व्यञ्जक के होने पर अभिव्यक्त हुई वस्तुएँ (-घट, पट, पुस्तक आदि) एक दूसरे का अभिभव नहीं करतीं (=नहीं दबातीं) । परन्तु शब्द के विपय में ऐसी स्थिति नहीं है । भेरी का शब्द तन्त्री के शब्द को दबा देता (= अभिभव कर देता) है । दोनों शब्दों (= ध्वनियों) के होते हुए भेरी का शब्द सुनाई देता है, तन्त्री आदि का मन्द स्वर नहीं ।

४ - जहाँ व्यङ्ग्य (= प्रकट होने वाला) - व्यञ्जक (=प्रकट करने वाला) भाव है, वहाँ व्यञ्जक (=प्रकाशादि) के समान देशकाल में ही घट, पट आदि

(=व्यङ्ग्य वस्तुओं) का दर्शन होता है। वैसे ही तथा कथित व्यञ्जक के होने पर, समान देश काल में ही शब्द सुनाई देता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अपितु लकड़ी फाड़ने या वस्त्र धोने के स्थान से दूर स्थान पर भी उसका शब्द सुनाई देता है। तथा लकड़ी और कुल्हाड़े एवं वस्त्र और पट का संयोग न रहने पर भी शब्द सुनाई देता है, जबकि उनके पुनः आघात की तैयारी होती है।

इस प्रकार के अनेक दोष होने से शब्द की अभिव्यक्ति मानना ठीक नहीं। शब्द का कार्यत्व (= अनित्यत्व) सिद्ध है ॥ ३० ॥

विशेष - शब्द के नित्यत्व - अनित्यत्व के विषय में विवेचन इस प्रकरण के अन्त में (=अध्यायान्त में) देखें।

प्रसंग :- यदि शब्द उत्पन्न होने वाला है, तो उसकी उत्पत्ति के कारण क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :-

संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥ (११०)

[संयोगात्] संयोग से [विभागात्] विभाग से [च] और [शब्दात्] शब्द से [शब्दनिष्पत्तिः] शब्द की उत्पत्ति होती है।

शब्द की उत्पत्ति के तीन कारण हैं - संयोग, विभाग और शब्द।

१ :- भेरी-दण्ड आदि के अभिघातरूप संयोग से तथा दोनों हाथों (=ताली) को पीटने रूप संयोग और वायु ताडनपूर्वक जिह्वा के कण्ठ आदि में आघातरूप संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है।

२ :- बांस, कपड़ा, कागज आदि के फाड़ने पर उसके अवयवों के विभाग से शब्द उत्पन्न होता है।

३ :- 'वीचीतरंग-न्याय' एवं 'कदम्वमुकुल-न्याय' से दूर से आने वाले शब्द में संयोग-विभाग का अनुमान न होने पर शब्द से ('शब्द शब्दक्रियायाम्' =शब्दोच्चारण क्रिया से) उत्पन्न शब्द मानते हैं। अथवा कूप, अरण्य आदि से उत्पन्न शब्द की प्रतिध्वनि को शब्द से उत्पन्न कह सकते हैं।

किसी एक देश में उत्पन्न हुआ शब्द 'कदम्वमुकुल-न्याय' (कदम्वगोलक-न्याय) एवं 'वीचीतरंग न्याय' से दश दिशाओं में फैल जाता है। अर्थात् जैसे कदम्ब (एवं गेंदा, गुलाब आदि) के पुष्पविकाश के समय उसकी मुकुल (= कली) के पत्र सब दिशाओं में एक बार ही विकसित हो जाते हैं, वैसे ही भेरी आदि से उत्पन्न हुआ शब्द कदम्बमुकुलन्याय/कदम्बगोलकन्याय से एक काल में ही सव दिशाओं की ओर फैल जाता है; तत्पश्चात् 'वीचीतरङ्गन्याय' से सव दिशाओं में पूर्व-पूर्व शब्द से उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति होती है।

[**वीचीतरङ्गन्यायः-** तालाब आदि में डाले कंकड़ से एक के पश्चात् दूसरी, दूसरी के पश्चात् तीसरी इस क्रम से बराबर आने वाली तरङ्गों के समान ही ककारादिवर्णों की उत्पत्ति नैयायिक लोग 'वीचीतरङ्गन्याय से मानते है।]

शब्द की अपनी गति नहीं होती, वह किसी वाहन (= सवारी, वायु, विद्युत्तरंग आदि) पर चलता है; किन्तु सवारी की गति का शब्द की गति के रूप में औपचारिक प्रयोग होता है। दूरदर्शन, रेडियो आदि द्वारा विद्युत्-तरंगों पर सवार हुआ शब्द उपलब्ध होता है, तथा साधारण वार्तालाप या संयोग-विभाग का शब्द, वायुमाध्यम से।

विविध - शब्दों की उत्पत्ति में आकाश समवायिकारण, संयोगादि असमवायिकारण। तथा शेष भेरी, ढोलक, जीव आदि निमित्तकारण होते हैं॥ ३१॥

प्रसंग - शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि में सूत्रकार अन्य हेतु देते हैं :-

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥ (१११)

[लिङ्गात्] अनुमान प्रमाण से [च] भी [शब्दः] शब्द [अनित्यः] अनित्य है।

जिस भाव वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी निश्चित रूप से होता है - 'सर्वमुत्पादि भंगुरम्' । यह नियम (=व्याप्ति) है। गत सूत्र में शब्द को उत्पन्न होने वाला समझाया है । अतः ध्वनिरूप व वर्णरूप शब्द अनित्य है ।

२ बाह्येन्द्रियग्राह्य सभी पदार्थ अनित्य होते हैं। शब्द भी श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है । अतः अनित्य है ।

३ इसके अतिरिक्त शब्द को लोक में उत्पन्न होने वाला (= अनित्य) समझकर व्यवहार में लाया जाता है । महर्षि गौतम ने भी कहा है :-

'आदिमत्त्वात्, ऐन्द्रियकत्वात्, कृतकवदुपचाराच्च (अनित्यःशब्दः) - (न्याय. २/२/१३) ॥ ३२ ॥ (१११)

प्रसंगः ध्वन्यात्मक (=शंख, घंटा, भेरी आदि का) शब्द भले ही अनित्य हो, किन्तु वर्णात्मक शब्द तो नित्य ही है; क्योंकि -

(पू.) - द्वयोस्तु प्रवृत्योरभावात् ॥ ३३ ॥ (११२)

[द्वयोः] (गुरु-शिष्य आदि) दोनों की [प्रवृत्योः] प्रवृत्तियों का [अभावात्] अभाव प्राप्त हो जाने से [तु] तो (वर्णात्मक शब्द को नित्य समझना चाहिए)।

सूत्र में 'तु' शब्द पूर्वोक्त पक्ष के निषेध के लिए है। गुरु-शिष्य को मन्त्रादि पढ़ाता (=देता) है। शिष्य उसे ग्रहण करता है। यह दान और ग्रहण तभी हो सकते हैं, जब शब्द उतनी देर तक स्थिर रहे । अन्यथा देना, लेना नहीं बन सकता। और जब उतनी देर बना रहा, तो 'तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति' - इस युक्ति के अनुसार शब्द की नित्यता सिद्ध होती है ॥ ३३ ॥

प्रसंग :- शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए और हेतु देते हैं :-

(पू.) प्रथमादिशब्दात् ॥ ३४ ॥ (११३)

[प्रथमादिशब्दात्] प्रथमा, उत्तमा आदि शब्द होने से (शब्द नित्य है)।

ऋग्वेद - ३/२७/१-११ - ये ग्यारह ऋचाएँ सामिधेनी कहलाती हैं; क्योंकि इनसे अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। इनके विषय में कहा है - 'तासां त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' - (ऐ.ब्रा.३/३)। अर्थात् उन ग्यारह में से 'प्रथमा' (=पहली ऋचा) को तीन बार बोले और 'उत्तमा' (=अन्तिम ऋचा) को भी तीन बार बोले। इस प्रकार सामिधेनी ऋचाओं से पन्द्रह आहुतियाँ पूरी करे।

अब यदि ऋचा उसी समय नष्ट हो जाए, तो उसका तीन बार उच्चारण कैसे हो ? अतः तीन बार उच्चारण की आज्ञा देने से सिद्ध होता है, कि ऋचा स्थिर बनी रहती है।

"प्रवो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।
देवाञ्जिगाति सुम्नयुः ॥" - इत्यादि - (ऋ.३/२७/१-११) ॥३४॥

प्रसंग :- शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु देते हैं :-

(पू.) सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥ (११४)

[सम्प्रतिपत्तिभावात्] प्रत्यभिज्ञा के होने से [च] भी (शब्द नित्य है)।

पहले अनुभव किये हुए की पहचान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। उसी को कहने के लिए सूत्र में 'सम्प्रतिपत्ति' शब्द पढ़ा है; जिसका अर्थ है - सम्मिलिता (पूर्वतनीया वर्तमाना च)प्रतिपत्तिः (= ज्ञानं) यस्यां सा सम्प्रतिपत्तिः (= प्रत्यभिज्ञा)। यह प्रत्यभिज्ञा शब्द के विषय में भी होती है। जैसे :- 'देवदत्त वही कथा सुना रहा है, जो यज्ञदत्त ने सुनाई थी।' 'देवेन्द्र वही श्लोक गा रहा है,

जो मैंने कल कण्ठस्थ किया था' । 'जो वाक्य तुमने कल और परसों बोला था, उसी को आज कह रहे हो' 'यह वही च-कार है ।' - इस अवाधित प्रत्यभिज्ञा के बल से शब्द नित्य सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

प्रसंगः - शब्द की नित्यता के रूप में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके अब सूत्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं :-

(उ.) सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥ (११५)

[सन्दिग्धाः] (पूर्वोक्त तीनों हेतु) सन्दिग्ध (=अनैकान्तिक = अतिव्याप्ति दोषयुक्त) हैं [बहुत्वे] अनेकों (अस्थिरों) में [सति] (घटित) होने पर ।

पूर्वोक्त 'द्वयोः प्रवृत्तिः', 'प्रथमादिशब्द', 'सम्प्रतिपत्ति.' (सूत्र - ३३, ३४, ३५) ये शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए दिये गये तीनों हेतु सन्दिग्ध (= व्यभिचारी = अनैकान्तिक = अतिव्याप्तिदोषयुक्त) हैं । जिस प्रकार ये हेतु एक ही स्थिर शब्द मानने में घट जाते हैं, वैसे ही अनेक अस्थिरों में भी घट सकते हैं ।

जैसे :- १ - गुरु के द्वारा व्यायाम का प्रशिक्षण दिया जाता है, शिष्यों द्वारा लिया जाता है ।

२ - पहले सीखे हुए दस व्यायामों में से पहले और अन्तिम व्यायाम की आवृत्ति करो, क्योंकि वे उपयोगी हैं ।

३ - धर्मेन्द्र ने आज वही व्यायाम दिखाया, जो कल दिखाया था ।

व्यायाम कर्म है, कर्म स्थिर नहीं होता, अपितु नश्वर होता है । जैसा कि पहले कहा है :- 'गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्' - (वैशे.२/२/२५) ।

अतः पूर्वोक्त हेतु शब्द का अनित्य मानने पर भी घट सकते हैं । जैसे व्यायाम आदि क्रिया कोई ऐसी वस्तु नहीं जो दी जाती हो या ली जाती हो । शिष्य यहाँ केवल अनुकरण (=सदृश अनुष्ठान) ही करता है । वैसे ही गुरु मन्त्र, श्लोक आदि बोलता है, शिष्य उसका अनुकरण मात्र करता है ।

उसी प्रकार अनित्य व्यायाम की जैसे तीन वार आवृत्ति होती है, वैसे ही अनित्य शब्द की वार-वार सदृश आवृत्ति हो सकती है।

और जिस प्रकार अनित्य व्यायाम की प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही अनित्य शब्द, श्लोक आदि की प्रत्यभिज्ञा हो सकती है।

क्रियाओं के समान अनेक अनित्य शब्दों में भी यह व्यवहार सम्भव होने से ये हेतु सन्दिग्ध (=अनैकान्तिक /व्यभिचारी /अतिव्याप्तियुक्त /असाधक) हैं ॥ ३६ ॥

प्रसंगः- यदि वर्ण अनित्य हैं, तव तो वे अनगिनत हो जाएंगे। तव वर्ण ४२ हैं, ५० हैं, या ६३ हैं - इत्यादि कथन कैसे हो सकते हैं। इसी प्रकार यह छन्द आठ अक्षर का है, यह वारह का है - इत्यादि व्यवहार कैसे होंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं :-

संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥ (११६)

[सङ्ख्याभावः] (वर्णों की) संख्या का होना [सामान्यतः] जाति से होता है (अतः वर्णात्मक शब्द भी अनित्य है)।

वर्णों की संख्या उनके सामान्यधर्म (=जाति) को लेकर कही जाती है। जितने 'क' हैं, उनमें कत्व (क-पन) समान है; इसलिए 'क' एक गिना गया।

इसी अभिप्राय से वर्णों की संख्या नियत की जाती है। जैसे द्रव्य असंख्य हैं, तो पृथिवीत्व आदि सामान्य धर्म को लेकर नौ द्रव्य कहे जाते हैं।

यह वही 'ग' है; इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी इसी जाति के सहारे होती है। जैसे कटे हुए वाल फिर वड़े होने पर 'ये वे ही वाल हैं - ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

मन्त्रों व छन्दों आदि में वर्णों की संख्या का निर्देश भी उनकी समानता व

वर्गीकरण के आधार पर समझना चाहिए। क्योंकि वर्ण गुण हैं और संख्या भी गुण है; फिर गुण में गुण कैसे रह सकते है ? अतः शब्द को अनित्य ही मानना चाहिए ॥ ३७ ॥

४३ (५६) - शब्दप्रकरणम् (= शब्दवैधर्म्यम्)

अव क्रमप्राप्त अन्तिम 'शब्द' गुण का निरूपण करते हुए आचार्य प्रशस्तदेव वैशे. सू. २/१/२७; २/२/२१; २५ - ३२ के अनुसार कहते हैं -

(प्रश.)- शब्दोऽम्बरगुणः, श्रोत्रग्राह्यः, क्षणिकः, कार्यकारणोभय-विरोधी, संयोगविभागशब्दजः, प्रदेशवृत्तिः, समानासमानजातीयकारणः । स द्विविधः - वर्णलक्षणो ध्वनिलक्षणश्च । तत्र अकारादिर्वर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तो ध्वनिलक्षणश्च । तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्तिः - आत्ममनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षात् वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद् वायौ कर्म जायते । स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगाद् वर्णोत्पत्तिः ।

अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगापेक्षाद् भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते । वेणुपर्वविभागाद् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्च संयोगविभागनिष्पन्नाद् वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहणम् । श्रोत्रशब्दयोर्गमनागमनाभावाप्राप्तस्य ग्रहणं नास्ति, परिशेषात् सन्तानसिद्धि - रिति ॥

इति प्रशस्तपादभाष्ये गुणपदार्थः समाप्तः ॥

शब्द आकाश का ही गुण है ।

[शंका - आकाश के गुण तो संख्या, आदि भी हैं ?

समा. - इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ आगे कहते हैं -]

उस गुण का प्रत्यक्ष श्रोत्र से होता है, वह क्षणिक है। उस (=शब्द) के कार्य (=उत्तरशब्द) एवं कारण (=संयोग, अव्यवहित पूर्व शब्द) दोनों ही विनाशक हैं। संयोग, विभाग अथवा शब्द (इन तीनों में से किसी) से उसकी उत्पत्ति होती है। (वह शब्द अपने) आश्रयद्रव्य के किसी एकदेश में ही रहता है। वह अपने समानजातीय (=शब्द) और विजातीय (=संयोग एवं विभाग इन दोनों) से उत्पन्न होता है।

वह (=शब्द) दो प्रकार का है - १. वर्णस्वरूप और २. ध्वनिस्वरूप। उन दोनों में से १. अकारादि शब्द वर्ण स्वरूप हैं और शंखादि वाद्यरूप निमित्त से उत्पन्न शब्द ध्वनिस्वरूप है। उनमें से १. अकारादि वर्णस्वरूप शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार होती है आत्मा और मन के संयोग से एवं (पूर्वानुभूत वर्णों की) स्मृति की अपेक्षा से वर्णों के उच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् (वह वर्णों के उच्चारण का) प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न की अपेक्षा से अपनी (जाठराग्नि) एवं कौष्ठ्य वायु के संयोग से (उस शरीरगत) वायु में क्रिया उत्पन्न होती है। और वह कोष्ठस्थ सक्रिय वायु ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि स्थानों को (अभिघात नामक शब्दजनक संयोग से) अभिघात (=ताडन) करता है। इसके पश्चात् (कण्ठादि) स्थान तथा उक्त वायु के संयोग-रूप (निमित्तकारण) की अपेक्षा करने वाले (कण्ठादि) स्थान और (जिह्वा आदि के माध्यम से (मुखस्थ) आकाश के संयोग (रूप असमवायिकारण) से (आकाशरूप समवायिकारण में) (अकारादि) वर्णों की उत्पत्ति होता है।

भेरी (आदि) एवं दण्ड (आदि) के संयोग की अपेक्षा करने वाले भेरी (नगाड़ा) तथा आकाश के संयोग से भेर्याकाश में वर्णरूप शब्द से भिन्न ध्वनिरूप शब्द उत्पन्न होता है।

[संयोगजन्य शब्द का निरूपण करके अव विभागजन्य शब्द का वर्णन करते हैं -]

बाँस और उसकी सन्धि (=गाँठ) के विभाग एवं बाँस - आकाश का विभाग (इन दोनों विभागों से शब्द की उत्पत्ति होती है) ।

(अव शब्दजन्य शब्द का निरूपण करते हैं -)

संयोग और विभाग से निष्पन्न जलतरङ्ग के समूह के समान शब्द से भी शब्द के तरङ्गसमूह (=एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथे आदि शब्द) की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार शब्द के (उक्त समूहों के द्वारा) श्रोत्रप्रदेश में पहुँचने के पश्चात् श्रोत्र के द्वारा उस शब्द का प्रत्यक्ष होता है ।

(प्र. -) - आपने शब्दसन्तान की कल्पना क्यों की ? (उ.) क्योंकि आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रिय में तथा शब्दगुण में गमन-आगमनरूप क्रिया का अभाव है, श्रोत्र से असम्बद्ध शब्द का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, अतः परिशेषानुमान से (जल की तरङ्गों के समान, शब्दजनित) शब्दसन्तान (=समूह) की (कल्पना) सिद्ध होती है ।

इस प्रकार अन्तिम गुण 'शब्द' के निरूपण के साथ ही द्वितीय पदार्थ 'गुण' का महाप्रकरण 'प्रशस्तपादभाष्य में समाप्त हुआ, जिसमें ४३ आवान्तर प्रकरण हैं ॥
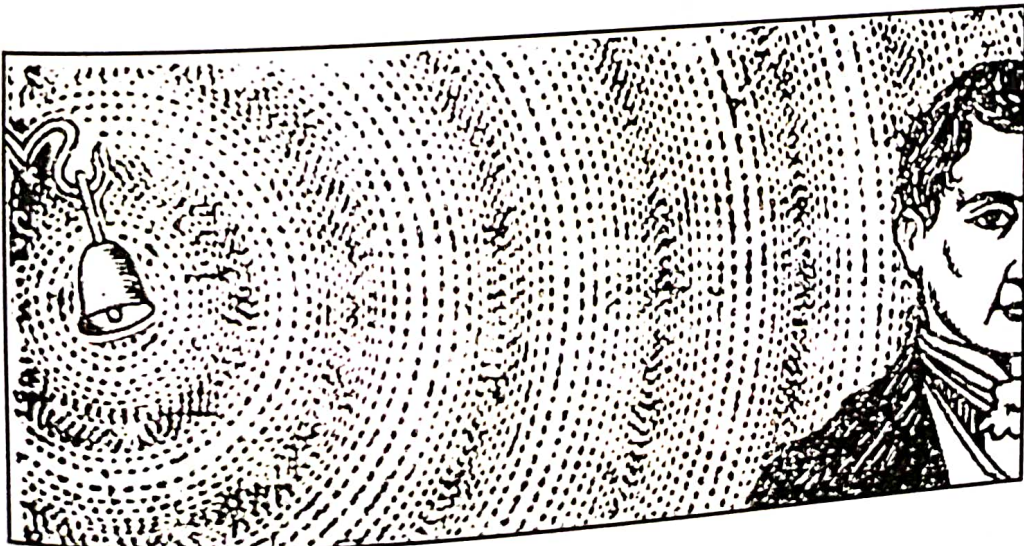
विशेष : नैयायिकों (=न्याय-वैशेषिक के ज्ञाताओं) ने ध्वनि को ही शब्द मानकर शब्दानित्यत्व पक्ष को स्थापित किया है। किन्तु मीमांसक और वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं। इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर-ज्ञानस्थ वैदिक शब्दों को नित्य माना है और लौकिक शब्दों को अनित्य। किन्तु साथ ही वैदिक शब्द वेदज्ञान के साथ आदिभाषा के रूप में लोक में भी व्यवहृत हुए और आज तक व्यवहृत हैं; उन्हें भी वे नित्य मानते हैं।

स्वामी जी ने उन लौकिक शब्दों को अनित्य माना है, जो पुरुषों द्वारा पदार्थ-विशेष के लिए संकेतित किए गये अथवा किए जाते हैं। ऐसे शब्द अर्थविशेष में रूढ होते हैं। इन्हें यदृच्छा शब्द जानना चाहिए। (इनमें संस्कृत के समान प्रकृति - प्रत्यय ढूँढना कठिन होता है) -

- (द्रष्टव्य - ऋग्वेदादिभा.भू.वेदनित्यत्वविचार के आरम्भ में)

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने - 'त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः' - पक्ष में 'न सन्ति यदृच्छा-शब्दाः' - ('ऋलृक्' सूत्रभाष्यम्) कहकर उन्हें मूल संस्कृतभाग अथवा आदिभाषा से बाहर रखा है। **स्फोटरूप शब्द को नित्य मानकर ध्वनिरूप शब्दगुण को अनित्य बताया है;** जिसे न्याय-वैशेषिक में भी अनित्य कहा जा रहा है।

अतः वैयाकरण - मीमांसक और नैयायिकों में शब्दनित्यत्व और शब्दानित्यत्व का विरोध नहीं है; क्योंकि दोनों मान्यताओं का क्षेत्र अलग-अलग है। न्याय-वैशेषिक का उद्देश्य यथासम्भव संसार के स्थूल स्वरूप का ही वर्णन करना है। सांख्य के समान सूक्ष्मता से जानना नहीं ॥ २७ ॥

इति वैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपादभाष्यसहितस्याऽऽनन्दव्याख्योपेतस्य द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग :- द्वितीय अध्याय में बाह्य द्रव्यों की परीक्षा करके उद्देश क्रम से आन्तर द्रव्य आत्मा की परीक्षा के लिए सूत्रकार अपेक्षित भूमिका दिखाते हुए कहते हैं :-

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ।। १ ।। (११७)

[इन्द्रियार्थाः] इन्द्रियों के अर्थ (= विषय = ग्राह्य) [प्रसिद्धाः] प्रसिद्ध (= निश्चयपूर्वक जाने हुए) हैं।

बाह्येन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियों घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक् और श्रोत्र के क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द - ये पाँच विषय प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्षसिद्ध हैं; क्योंकि घ्राण के बिना गन्ध का, रसना के बिना रस का, चक्षु के बिना रूप का, त्वक् के बिना स्पर्श का और श्रोत्र के बिना शब्द का ज्ञान या ग्रहण नहीं होता ।।१।।

प्रसंगः - अब इस प्रत्यक्षसिद्ध का आत्मा की परीक्षा में उपयोग दिखाते हैं -

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ।। २ ।। (११८)

[इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः] इन्द्रियों के अर्थों की प्रसिद्धि (= अनुभूति = ज्ञान) [इन्द्रियार्थेभ्यः] इन्द्रियों और उनके अर्थों (= विषयों) से [अर्थान्तरस्य] भिन्न (आत्मरूप) अर्थ की [हेतुः] साधक है (= सिद्धि करती है) ।

शरीर जड़ (= अचेतन , ज्ञानरहित) है, उसे ज्ञान नहीं हो सकता । इन्द्रियाँ भी जड़ साधन (= करण) हैं । वे गन्धादि ज्ञान का साधन हो सकती हैं, कर्ता नहीं । मन भी आन्तरिक साधन है । वह किसी एक बाह्येन्द्रिय के साथ मिलकर विषयों के ग्रहण में साधन बनता है । इसी कारण एक समय में अनेक ज्ञान नहीं हो पाते ।

यद्यपि एक इन्द्रिय एक ही विषय का ग्रहण कराती है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है, कि मैंने जिस आम को देखा, सूँघा और छुआ था; उसी के मधुर रस का स्वाद ले रहा हूँ। इससे सिद्ध होता है, कि शरीर, इन्द्रिय और मन से अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व है, जो सभी अर्थों का ग्रहण करता तथा स्मरण (= प्रत्यभिज्ञा) करता है। और वह तत्त्व है 'आत्मा'।

प्रसंग - ज्ञान तो शरीर के आश्रय से है; क्योंकि वह शरीर का कार्य है, जैसे रूपादि हैं। इसलिए जब ज्ञान का आश्रय शरीर सिद्ध हो गया; तो उससे भिन्न ज्ञानाश्रय आत्मा की कल्पना करना व्यर्थ है। इस आशंका का समाधान करते हैं :-

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥ (११९)

[सः] वह [अनपदेशः] अहेतु (हेत्वाभास) है।

अपदेशः = हेतुः। अपदेशभिन्नः > अपदेशसदृशः > अनपदेशः = हेत्वाभासः। अर्थात् हेतु से भिन्न हेतु के सदृश प्रतीत होने वाला दुष्ट हेतु अनपदेश या हेत्वाभास कहाता है।

शरीर को ज्ञान का आश्रय सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया है, कि 'ज्ञान शरीर का कार्य है' - यह हेतु नहीं है; क्योंकि ज्ञान (= चैतन्य) शरीर का कार्य है - यही बात सिद्ध नहीं हो सकती। और जो स्वयं (घोड़े के सींग या बन्ध्या के पुत्र के समान) असिद्ध है, वह किसी का साधक हेतु कैसे हो सकता है ?

प्रसंग :- 'ज्ञान शरीर का कार्य है' अर्थात् 'शरीर ज्ञान का समवायिकारण है' - इस कथन की हेतुहीनता (= हेत्वाभासत्व) दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं :-

कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥ (१२०)

यहाँ 'अनपदेशः' की सूत्र ३ से अनुवृत्ति है ।

[कारणाज्ञानात्] कारणों (= शरीरावयवों) में ज्ञान न होने से {ज्ञान का कारण (-समवायिवारण) शरीर नहीं है }।

कारणेषु (=शरीरावयवेषु) अज्ञानं > कारणाज्ञानम् । तस्मात् कारणाज्ञानात्।

स्थूलशरीर भौतिक रचना है । भूतों के कार्यों में यह नियम है, कि कारण के गुणों के अनुसार कार्य में गुण होते हैं - (२/१/२४) । यदि ज्ञान (= चेतनता) शरीर का गुण होता, तो उसके कारण (= अवयवों, भूतकणों) में अवश्य पाया जाता । जो कि नहीं पाया जाता । किन्तु रूप आदि पाये जाते हैं, जो कि उनके निजधर्म हैं ।

अतः जब मूल कारण में ही ज्ञान गुण नहीं, तो उसके कार्य देहादि में कैसे माना जा सकता है ? यह ज्ञान (= चैतन्य) तो वस्त्र में पुष्पगन्ध की भांति किसी अन्य का धर्म प्रतीत होता है । अतः देहादि को ज्ञान का आश्रय कहने में कोई हेतु नहीं है ॥ ४ ॥

प्रसंगः यदि शरीर के कारण अणुओं में ज्ञान (= चैतन्य) मानकर, शरीर में उसकी अभिव्यक्ति होना मान लें, तो क्या हानि है ? इस शंका को समाधान करते हैं -

कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥ (१२१)

यहाँ भी सूत्र ३ से 'अनपदेश' की अनुवृत्ति है ।

[कार्येषु] (कारण अणुओं में सूक्ष्म रूप से ज्ञान मानने पर) सब कार्य द्रव्यों में [ज्ञानात्] ज्ञान की प्रसक्ति (=प्राप्ति का प्रसंग) होने से (शरीर का गुण चेतनता नही) ।

यदि शरीरादि के कारणरूप अणुओं में सूक्ष्म ज्ञान होता, तो उन भूतों के शरीर के समान घट, पट आदि में भी उपलब्ध होता। किन्तु ऐसा न होना भूतों में चेतनता के अभाव को सूचित करता है ॥ ५ ॥

प्रसंगः - घट, पट आदि में भी सूक्ष्मरूप से ज्ञान (=चैतन्य) क्यों न मान लें ? इस शंका का समाधान करते हैं :-

अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥ (१२२)

यहाँ भी सूत्र ३ से 'अनपदेशः' की अनुवृत्ति है।

[अज्ञानात्] उपलब्धि (= अनुभूति) न होने से [च] भी (शरीरचैतन्य अहेतुक है)।

घट, पट आदि में प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से चैतन्य (=ज्ञान) की उपलब्धि न होने से उनमें सूक्ष्म रूप से भी चैतन्य मानना असंगत है।

यदि सभी प्रमाणों से अनुपलब्ध घटादि में चैतन्य मानेंगे, तो खरगोश के सींग या बन्ध्या के पुत्र को मानने का भी प्रसंग प्राप्त होगा। अतः घट, पट आदि के समान शरीर का गुण ज्ञान नहीं है।

इसलिए विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान से उस (=ज्ञान) के आश्रय 'आत्मा' का अनुमान होता है। तथा जैसे लेखनी, बसूला आदि करणों से उनके अधिष्ठाता लेखक, बढ़ई आदि का बोध होता है; वैसे ही घ्राण आदि करणों से उनके अधिष्ठाता 'आत्मा' का अनुमान हो जाता है; यह समझना चाहिए ॥ ६ ॥

प्रसंगः- ज्ञान अथवा इन्द्रियाँ आत्मा के साधक (=सिद्ध करने वाले) तब होते, जब आत्मा का श्रोत्र आदि इन्द्रियों से तादात्म्य (=अभेद-) सम्बन्ध होता। अतः इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न होने के कारण आत्मा के साधक नहीं हैं; इस आक्षेप का समाधान करते हैं -

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥ (१२३)

[हेतुः] हेतु [अन्यत्] (साध्य से) भिन्न [एव] ही (होता है) [इति] इसलिए [अनपदेशः] {तादात्म्य (=आप ही अपना)} हेतु नहीं ।

किसी साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु, उस साध्य से भिन्न वस्तु ही हो सकती है; न कि साध्य-स्वरूप । क्योंकि समानता (= अभिन्नता) होने पर अविशेषता (= साध्यसमता) की आपत्ति आ जाने से वह हेतु नहीं रहता । इसलिए सूत्र २ में हेतु और साध्य अर्थान्तर कहे हैं ।

नए हेतु का खण्डन करने के लिए यहाँ पुनः 'अनपदेशः' पद पढ़ा है ॥ ७ ॥

प्रसंगः- यदि साध्य से भिन्न होना ही हेतु की विशेषता है, तो जिस किसी भिन्न वस्तु से साध्य को सिद्ध कर लो । गधे से अग्नि का अनुमान हो जाए, गन्ध से जल का, रूप से वायु का और रस से आकाश का अनुमान हो जाया करे । हेतु और साध्य का तो कोई नियम नहीं रहेगा । इस शंका का समाधान करते हैं :-

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥ ८ ॥ (१२४)

[हि] केवल [अर्थान्तरम्] भिन्न वस्तु होना [अर्थान्तरस्य] (प्रत्येक) भिन्न साध्य वस्तु का [अनपदेशः] अपदेश (= हेतु) नहीं होता ।

साध्य से केवल भिन्न होने मात्र से कोई वस्तु किसी का हेतु (=साधक) नहीं होती, अपितु व्याप्ति (= स्वभाव-विशेष से सदैव युक्त होना) ही साध्य को सिद्ध करती है । इसीलिए केवल भिन्नता से ही गधा अग्नि का, गन्ध जल आदि का हेतु नहीं होता ।

द्वितीय सूत्र में जो इन्द्रियों और उनके अर्थों को आत्मा की सिद्धि में हेतु बताया है, वह केवल अर्थान्तर (= भिन्न वस्तु) होने से ही नहीं; अपितु इन्द्रियार्थ

की प्रसिद्धि (=प्रत्यक्षत्व) को आत्मा का हेतु (साधक) बताया है । इसलिए वह अनपदेश नहीं ।

पूर्वसूत्र से 'अनपदेशः' पद की अनुवृत्ति सम्भव होते हुए भी पुनः पाठ प्रसंग की समाप्ति का द्योतक है ॥ ८ ॥

प्रसंगः- पूर्वसूत्र के अनुसार किसी नियत साहचर्य के कारण ही कोई वस्तु, किसी अन्य वस्तु का लिंग (=साधन = हेतु) बनती है । उसी साहचर्य के विषय में सूत्रकार कहते हैं -

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥ ९ ॥ (१२५)

[संयोगि] संयोग-सम्बन्ध वाला [समवायि] समवाय-सम्बन्ध वाला [एकार्थसमवायि] एक अर्थ में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाला [च] और [विरोधि] विरोधवाला (=परस्पर प्रतिकूल) {लिङ्ग (= हेतु = साधन) होता है} ।

साध्य की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के सम्बन्ध दिखाने से स्पष्ट है, कि कोई एक सम्बन्ध (तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति) साध्य की सिद्धि के लिए नियत नहीं है । परस्पर साहचर्य-नियम ही आवश्यक है । अर्थात् जिस वस्तु का दूसरी भिन्न वस्तु के साथ संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय या विरोध हो; वही उस दूसरे का साथी हेतु होता है । जैसे -

१ - संयोगी - धूम से अग्नि का, त्वचा से शरीर का, ठीक मार्ग पर चलते हुए रथ, मोटर आदि से संचालक का अनुमान होता है । यहाँ धूम, त्वचा आदि लिंग (=हेतु) का अग्नि, शरीर आदि साध्य के साथ संयोग-सम्बन्ध है ।

२ - समवायी - स्पर्श से वायु का, शब्द से आकाश का और ज्ञान से आत्मा का अनुमान होता है । यहाँ स्पर्श, शब्द और ज्ञान आदि हेतु; वायु आदि साध्यों के साथ समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं ।

एकार्थसमवायी और विरोधी के उदाहरण अगले सूत्रों में देंगे ॥ ९ ॥

प्रसंग :- अब एकार्थसमवायि - सम्बन्ध का सूत्रकार स्वयं उदाहरण देते हैं :-

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥ (१२६)

[कार्यम्] एक कार्य [कार्यान्तरस्य] अपने से भिन्न कार्य का लिंग (= साधक = हेतु) होता है ।

किसी द्रव्य का एक कार्य उसी द्रव्य के दूसरे कार्य का लिंग होता है । जैसे

१ - वस्त्र का रूप उसी वस्त्र के स्पर्श का । यहाँ समवायिकारण वस्त्र का एक कार्य (= गुण) दूसरे कार्य (= गुण) का अनुमान कराता है; क्योंकि जहाँ-जहाँ रूप है, वहाँ - वहाँ स्पर्श अवश्य होगा । अर्थात् रूप और स्पर्श दोनों एक ही तत्त्व में समवेत रहते हैं । अतः साध्य स्पर्श और साधन-रूप का सम्बन्ध एकार्थसमवायित्व है ।

२ - इसी प्रकार गन्ध रस का लिंग है । यदि आम्र का गन्ध प्रत्यक्ष है, तो उससे उसी के रस का भी अनुमान हो जाता है । इसी प्रकार यह गन्ध उस आम्र के रूप और स्पर्श का भी लिंग होगा ।

यहाँ गन्ध और रस आदि में न तो तादात्म्य (= अभेद) ही है और न तदुत्पन्नत्व । फिर भी साधन है । अतः बौद्ध मत का खण्डन हो जाता है, जो तादात्म्य या तदुत्पन्नत्व सम्बन्ध को ही लिंग मानते हैं ॥ १० ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार 'विरोधि' लिंग का उदाहरण उपस्थित करते हैं :-

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥ (१२७)

[अभूतम्] (किसी कार्य का) न होना [भूतस्य] (अपने विरोधी के) विद्यमान

होने का [विरोधि] विरोधी लिंग (= अनुमापक = ज्ञापक) होता है।

जैसे बादलों के घिर जाने पर भी वृष्टि का न होना, वर्षा के विरोधी {= विधारक वायु और अभ्र (= बादलों) के संयोग} का अनुमान कराता है॥ ११॥

प्रसंग :- अब विरोधी लिंग के दूसरे प्रकार का उदाहरण दिखाते हैं :-

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥ (१२८)

[भूतम्]हुआ कार्य [अभूतस्य] न हुए (विरोधी) का (अनुमान करा देता है)।

जैसे - बादलों के होने पर वर्षा का हो जाना, विरोधी (= प्रतिबन्धक) वायु का बादलों के साथ संयोग की अविद्यमानता का बोधक होता है।

इसी प्रकार समाज में भ्रष्टाचार का फैलना, न्याय प्रशासन की अविद्यमानता का बोध कराता है। रोग का होना, स्वास्थ्य के नियमों का पालन न किये जाने का अनुमान करा देता है॥ १२॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार विरोधी लिंग के तीसरे प्रकार का उदाहरण देते हैं :-

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥ (१२९)

[भूतः] विद्यमान (हेतु) [भूतस्य] विद्यमान विरोधी साध्य का (अनुमान करा देता है)।

जैसे - विलक्षण फुंकार करते हुए साँप को देखकर या सुनकर झाड़ी में छिपे नेवले का अनुमान हो जाता है। यहाँ साँप साधन (= हेतु) और नेवला साध्य है।

कभी विपरीत भी होता है। अर्थात् नेवले की उछल-कूद को देखकर साँप का अनुमान हो जाता है। तब नेवला साधन (=हेतु) और साँप साध्य हो जाता है।

इसी प्रकार विरोधी लिंग के यथासम्भव अन्य भी उदाहरण हो सकते हैं ॥ १३ ॥

प्रसंगः- अब सूत्रकार 'संयोगी' आदि हेतुओं की यथार्थता दिखलाते हैं -

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४ ॥ (१३०)

[अपदेशस्य] अपदेश (= हेतुनिर्देश) के [प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्] प्रसिद्धिपूर्वक (=व्याप्तिज्ञानपूर्वक अथवा साधन के नियतसाहचर्य की यथार्थ जानकारी पूर्वक) होने से (वह व्याप्तिविशिष्ट ही होता है) ।

आत्मा की सिद्धि में श्रोत्रादि करणों का आत्मा को (कुल्हाड़ी आदि करणों के समान) अधिष्ठाता (=प्रेरयिता) तथा (गन्धादि गुणों के पृथिवी आदि आश्रय के समान) ज्ञान गुण का आश्रय बताया था । ये हेतु प्रसिद्धिपूर्वक (= व्याप्तिज्ञानपूर्वक) होने से आत्मा की सिद्धि में निर्दोष हैं ।

परन्तु कार्यत्व हेतु से ज्ञानाश्रय के रूप में शरीर के अनुमान में कोई व्याप्ति नहीं है । अतः आत्मा शरीरादि से भिन्न ही है ॥ १४ ॥

प्रसंग - अब हेत्वाभाष का स्वरूप बताते हैं :-

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥ १५ ॥ (१३१)

[अप्रसिद्धः] अप्रसिद्ध (=प्रसिद्धि से रहित) [अनपदेशः] अहेतु (= हेत्वाभास) होता है, [अनपदेशः] (वह) अनपदेश (= अहेतु = हेत्वाभास) [असन्] (साध्य में) न रहता हुआ [च] और [सन्दिग्धः] सन्देह से युक्त (दो प्रकार का) होता है ।

गत सूत्र में अपदेश (= हेतु) प्रसिद्धिपूर्वक होना कहा था, उसी की अर्थापत्ति के अनुसार इस सूत्र में अनपदेश की परिभाषा की है - 'अप्रसिद्धोऽनपदेशः' । आगे

उस अनपदेश के दो विभाग किये गये है - 'असन्' (= साध्याधिकरण में न रहता हुआ) तथा 'सन्दिग्ध' (= जो साध्य और साध्यभिन्न दोनों में रहे) अर्थात् अनैकान्तिक या अतिव्याप्ति-दोष से युक्त। इसीलिए सूत्र में पुनः 'अनपदेशः' पद पढ़ा है ॥ १५ ॥

प्रसंग :- दो प्रकार के अनपदेश में से सूत्रकार प्रथम 'असन्' अनपदेश (=हेत्वाभास) का उदाहरण देते हैं -

यस्माद् विषाणी तस्मादश्वः ॥ १६ ॥ (१३२)

[यस्मात्] क्योंकि [विषाणी] (यह पशु) सींगों वाला है, [तस्माद्] इसलिए [अश्वः] घोड़ा है ।

घोड़ा तथा सींग के नियत साहचर्य (=व्याप्ति) की प्रसिद्धि नहीं है, इसलिए यह 'असन्' (= असिद्ध) हेत्वाभास का उदाहरण है; क्योंकि जिस-जिस के सींग हों, वह घोड़ा कभी नहीं होता । यह विषाणित्व तो साध्य (= अश्व) से भिन्न/विरुद्ध अधिकरण में जहाँ अश्वत्व का अभाव है, वहाँ (= गौ, अजा, महिषी आदि) में रहता है । अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण भी है ॥ १६ ॥

प्रसंगः - अब सूत्रकार सन्दिग्ध अनपदेश का उदाहरण देते हैं -

यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १७ ॥ (१३३)

[च] और [यस्माद्] जिस कारण [विषाणी] (यह) सींगों वाला है [तस्माद्] इसलिए [गौः] गाय है, [इति] यह [अनैकान्तिकस्य] अनैकान्तिक (= सन्दिग्ध अनपदेश) का [उदाहरणम्] उदाहरण है ।

किसी ने सींग सहित गाय को देखा, कालान्तर में किसी सींग वाले पशु को देखकर वह कहने लगा, कि सींगों वाला होने से यह पशु भी गौ है । किन्तु यह

हेतु सन्दिग्ध (= अनैकान्तिक = व्यभिचारयुक्त) है; क्योंकि भैंस, वकरी, हिरन आदि के भी सींग पाये जाते हैं, और कहीं गाय के भी सींग नहीं पाये जाते। इसलिए विषाणित्व हेतु अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से युक्त हैं।

विशेष :- सूत्र का अन्तिम भाग 'इति चानैकान्तिकस्योदाहरणम्' अनावश्यक तथा सूत्रकार की रचना न होकर व्याख्या जैसा प्रतीत होता है; क्योंकि मूल लक्षणसूत्र-१५ में इस हेत्वाभास के लिए 'सन्दिग्धः' पद दिया है ॥ १७ ॥

प्रसंग :- अव सूत्रकार हेत्वाभास के विवेचन का फल दिखाते हैं :-

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १८ ॥ (१३४)

[आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्] आत्मा, (बाह्य व आन्तर) इन्द्रिय और अर्थ (= विषय) के सन्निकर्ष (= सम्बन्ध) से [यत्] जो (ज्ञान) [निष्पद्यते] उत्पन्न होता है [तद्] वह [अन्यत्] (पूर्वोक्त हेत्वाभासों से) भिन्न है (अतःनिर्दोष हेतु है)।

यह आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान अप्रसिद्ध (= असत् और सन्दिग्ध) नहीं; क्योंकि ज्ञान गुण है और गुण, गुणी (=द्रव्य) के आश्रय से ही रह सकता है। यह ज्ञान (-गुण) शरीर व इन्द्रियों के आश्रय से तो रह नहीं सकता; क्योंकि इनके कारण (=अवयवों) में यह नहीं पाया जाता तथा मृत और सुप्तावस्था में भी नहीं रहता। अतः ज्ञान के आश्रय के रूप में आत्मा द्रव्य ही शेष रहता है। और ज्ञान का द्रव्य के आश्रय से रहना सन्दिग्ध भी नहीं है। तथा ज्ञान का होना प्रत्येक के अनुभव से सिद्ध है, अतः असत् भी नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा से भी आत्मा की सिद्धि होती है; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय एक-एक पदार्थ का ही ज्ञान कराती है, जवकि प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है, कि मैंने जिस आम को देखा था, छुआ, सूँघा उसे ही चूस रहा हूँ (= रस ग्रहण कर रहा हूँ)। देखना, छूना आदि तो एक-एक इन्द्रिय के आश्रय से हैं; किन्तु यह जो

प्रत्यभिज्ञा है, वह इन्द्रियों से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का बोध कराती है।

इस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान का आत्मा 'समवायिकारण', आत्म-मनःसन्निकर्ष 'असमवायिकारण' तथा अन्य समस्त साधन 'निमित्तकारण' रहते हैं ॥ १८ ॥

प्रसंग :- ज्ञान गुण के द्वारा अपने शरीर में वर्तमान आत्मा की सिद्धि तो कर दी, परन्तु दूसरे शरीरों में भी आत्मा है, इसकी सिद्धि कैसे हो ? क्योंकि दूसरों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष नहीं होता, और प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं होता। इस शंका का समाधान करते हैं -

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥ १९ ॥
(१३५)

[प्रवृत्तिनिवृत्ती] प्रवृत्ति और निवृत्ति [प्रत्यगात्मनि] अपने आत्मा में [दृष्टे] देखे हुए [च] तथा (=वैसे ही) [परत्र] अन्य (आत्मा के अस्तित्व) में [लिङ्गम्] लिङ्ग (=साधन=हेतु) है।

जिस प्रकार प्रवृत्ति (=राग से उत्पन्न प्रयत्न) और निवृत्ति (=द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न) अपने आत्मा में देखे जाते हैं; उसी प्रकार हितकारक कार्यों में प्रवृत्ति और अहितकारक कार्यों से निवृत्ति देखकर पर शरीर में भी आत्मा के अस्तित्व का अनुमान होता है, कि मेरे समान इसमें भी एक पृथक् आत्मा है; क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के बिना सम्भव नहीं ॥ १९ ॥

॥ इति तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रसंगः- प्रथमाह्निक में आत्मा की सिद्धि के लिए हेतु और हेत्वाभासों का संक्षिप्त विचार किया। अब आत्मविषयक शेष-परीक्षा को पूरा करने के उद्देशक्रम को छोड़कर मन के अस्तित्व में हेतु (=साधन) प्रस्तुत करते हैं :-

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥ (१३६)

[आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे] आत्मा, इन्द्रियों और अर्थों (= विषयों) का सन्निकर्ष (= सम्बन्ध) होने पर [ज्ञानस्य] ज्ञान का [भावः] होना [च] और [अभावः] न होना [मनसः] मन (के अस्तित्व) का [लिङ्गम्] लिङ्ग (साधक) है।

आत्मा, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ (=विषय) का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी कभी ज्ञान का होना और कभी न होना; इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि आत्मा और इन्द्रियों के मध्य कोई ऐसा साधन है, जिसके सम्बद्ध होने पर ज्ञान होता है और सम्बद्ध न होने पर ज्ञान नहीं होता। वह मन जिस इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, उसी के ग्राह्यविषय का ज्ञान होता है, अन्य का नहीं; क्योंकि मन अणुपरिमाण है।

इस प्रकार जैसे नेत्र आदि ज्ञान-प्राप्ति के लिए आत्मा के बाह्यकरण हैं, वैसे ही मन आन्तरिक करण (=अन्तःकरण) है। अन्तःकरणों के प्रयोक्ता (=अधिष्ठाता) के रूप में आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती है। मन के बिना आत्मा के भोग या ज्ञान सम्पन्न नहीं होते। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है - ''**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**' - (कठोप.१/३/४) अर्थात् इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता कहलाता है ॥ १ ॥

प्रसंग - मन आत्मा का करण होने पर भी 'वह द्रव्य तथा नित्य है' - यह कैसे जानें ? इस शंका का समाधान करते हैं :-

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥ (१३७)

[तस्य] उस (=मन) के [द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्यत्व और नित्यत्व [वायुना] वायु (के विवरण) से [व्याख्याते] व्याख्यात (समझने चाहिए)।

जिस प्रकार पिछले सूत्रों (२/१/११, १२) में वायु को द्रव्य सिद्ध किया है, वैसे ही मन का अन्य द्रव्य समवायिकारण न होने, (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक संस्कार - इन आठ) गुणों वाला होने तथा वेग-संस्कार के कारण गति-क्रिया वाला होने से उसका द्रव्य होना निश्चित है। गीता में भी कहा है -

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद् दृढम् ॥' - (गी.६/३४)

मन का चंचल होना उसकी गतिशीलता का और गतिमत्ता द्रव्यत्व का द्योतक है। और जैसे वायु के परमाणु का (सूत्र २/१/१३ के अनुसार) अन्य कोई द्रव्य उपदान या समवायिकारण न होने से वह नित्य है, वैसे ही मन का भी कोई आश्रय द्रव्य (उपादान या समवायिकारण) ज्ञात नहीं होता। अतः वह भी नित्य है। क्योंकि नित्य द्रव्यों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ (कार्यद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय) किसी द्रव्य के आश्रय से रहते हैं; वैसा मन नहीं है।

विशेषः- वैशेषिक का लक्ष्य सांख्य के समान सूक्ष्मता की चरमसीमा तक जाना नहीं, अपितु सामान्य व्यक्ति को ध्यान में रखते हुए व्यावहारिक सूक्ष्मता तक ही विचारना है। अतः वह वायु आदि के परमाणुओं अथवा मन आदि अणुरूप सूक्ष्म पदार्थों के उपादान नहीं खोजता। यही उसके वर्णन की सीमा है। उन्हीं को नित्य मानता है।

इसी आशय से महाभाष्य के आरम्भ में कहा है, कि जो पदार्थ चिरस्थायी होता है, उसे भी नित्य कहा जाता है। जैसे ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोक-लोकान्तर।

तदनुसार सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक रहने के कारण मन अथवा पृथिवी, वायु आदि के परमाणुओं को भी नित्य माना गया है ॥ २ ॥

प्रसंग :- प्रत्येक शरीर में इन्द्रियों के समान मन अनेक हैं, अथवा एक ? इस शंका का समाधान करते हैं -

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥ ३ ॥ (१३८)

[प्रयत्नायौगपद्यात्] (एक काल में) एक साथ अनेक प्रयत्न न होने से [च] और [ज्ञानायौगपद्यात्] (एक काल में) एक साथ अनेक ज्ञान न होने से [एकम्] (एक शरीर में) एक (मन सिद्ध होता) है ।

सभी कर्मेन्द्रियों से कर्म एक साथ नहीं होते और न सभी ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान एक साथ होते हैं । इससे मन का एकत्व सिद्ध होता है; जो क्रमशः विभिन्न इन्द्रियों से संयुक्त होकर ज्ञान और कर्म का निमित्त होता है । और वह अणु है ।

यदि मन अनेक होते, तो प्रत्येक इन्द्रिय के साथ युक्त होकर एक साथ अनेक प्रयत्न और ज्ञान हो जाते ।

प्रश्न :- लम्बे पापड़े के खाने में एक ही काल में रसना से उसका रस, त्वचा से स्पर्श, कानों से मुरक-मुरक शब्द, नेत्रों से रूप, घ्राण से गन्ध अनुभव होता है । इस प्रकार पाँचों अनुभव इकट्ठे होते हैं; फिर यह कैसे कह सकते हैं, कि अनेक अनुभव एक साथ नहीं होते ?

उत्तर :- वस्तुतः यहाँ भी जब रस आदि के अनुभव अलग-अलग हो रहे हैं; तो यह निश्चित है, कि वे अलग-अलग क्रम से ही हो रहे हैं, एक साथ नहीं । परन्तु काल का भेद अतीव सूक्ष्म होने से वह प्रतीत नहीं होता । जैसे पान के सौ पत्तों की तह जमाकर बलपूर्वक एक तीक्ष्ण सूआ चुभो दें, तो ऐसा प्रतीत होगा, कि सारे

पत्ते एक काल में विंध गये हैं। परन्तु वस्तुतः एक के विंध जाने के पश्चात् ही दूसरा विंधा है, और निन्यानवे विंध जाने के पश्चात् सौ वाँ विंधा है।

अथवा विद्युत् के तार से हजारों बल्व सम्बद्ध करके उनमें विद्युत् प्रवाहित की जाए, तो सब एक साथ प्रदीप्त होते दीखेंगे। जबकि सब क्रम से ही प्रज्वलित हुए हैं। एवं चलचित्र के चित्र, स्थिर होते हुए भी तीव्र गति से (-एक सैकेंण्ड में दस से अधिक) दिखाने के कारण चलते प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय पापड़ में अतिसूक्ष्म काल में सारे अनुभव हो रहे हैं, परन्तु वस्तुतः एक के पीछे ही दूसरा हो रहा है; क्योंकि अनुभव अलग-अलग हो रहे हैं। इससे यह निश्चित है, कि सभी इन्द्रियों के ज्ञान एक साथ न होकर सूक्ष्म कालभेद से हो रहे हैं जो कि विद्युत् से भी हजारों गुने आशुगामी मन के एक तथा अणु होने के कारण होते हैं।

सांख्यदर्शन में भी कहा है - 'क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः (सां.२/३२) अर्थात् इन्द्रियों का व्यापार क्रम से होता है और अक्रम से भी प्रतीत होता है ॥३॥

१३. मनःप्रकरणम्

यद्यपि सूत्रकार महर्षि कणाद ने द्रव्यों के परिगणन के उद्देशक्रम से हटकर आत्मा से पूर्व मन का निरूपण किया है, किन्तु भाष्यकार आचार्य प्रशस्तदेव ने उद्देश्य क्रम के अनुसार ही आत्मा और मन इन दोनों में से प्रधान आत्मा का निरूपण करके अन्त में (सूत्र - ३/२/१-३; २/२/३१; ५/२/१७; ७/१/२३ आदि के अनुसार मन द्रव्य की सिद्धि करते हुए कहा है -

(प्रश.) - **मनस्त्वयोगान्मनः। सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनाम -भूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते।**

श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनाद् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम् ।

तस्य गुणाः संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-संस्काराः। प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम् । पृथक्त्वमप्यत एव । तदभाववचनादणुपरिमाणम् । अपसर्पणोपसर्पणवचनात् संयोगविभागौ । मूर्तत्वात् परत्वापरत्वे संस्कारश्च ।

अस्पर्शवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम् । क्रियावत्त्वान्मूर्तत्वम् । साधारणविग्रहवत्त्वप्रसङ्गादज्ञत्वम् । करणभावात् परार्थम् । गुणवत्त्वाद् द्रव्यम् । प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशाद् आशुसञ्चारि चेति ।।

मनस्त्व जाति के साथ समवाय-सम्बन्ध से मन नामक द्रव्य का व्यवहार होता है। आत्मा और इन्द्रियों का संयोग एवं विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर भी कभी ज्ञान, सुख आदि की उत्पत्ति होती है; कभी नहीं होती । इससे आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन सबसे भिन्न [ज्ञानादि के] आन्तरिक करण का अनुमान होता है ।

कर्ण, चक्षु आदि इन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी स्मृति की उत्पत्ति देखी जाती है । तथा बाह्येन्द्रियों से गृहीत न होने वाले, दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष होने वाले सुखादि की भी अनुभूति होती है; इन दोनों से भी अन्तःकरण (=मन) का अनुमान होता है । - (द्र. - ३/२/१)

उस मन के १ - संख्या, २ - परिमाण, ३ - पृथक्त्व, ४ - संयोग, ५ - विभाग, ६ - परत्व, ७ - अपरत्व और ८ - (वेग नामक) संस्कार - ये आठ गुण हैं ।

"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्" (३/२/३) इस सूत्र के वचन से

एक काल में एक साथ अनेक प्रयत्न न होने से तथा एक काल में एक साथ अनेक ज्ञान न होने से एक शरीर में मन का एकत्व सिद्ध होता है।

संख्या का अनुसारी होने से मन में एकपृथक्त्व भी सिद्ध होता है। - (द्र. २/२/३१)।

सूत्रकार की **"तदभावादणु मनः"** (७/१/२३) इस उक्ति से मन में अणु-परिमाण सिद्ध होता है।

"अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगवत् कार्यान्तरसंयोगाश्चादृष्टकारितानि" (५/२/१७) इस सूत्र में मन के हटने तथा समीप आने के वचन से मन में संयोग-विभाग गुण सिद्ध होते हैं।

परमाणुओं से उत्पन्न मन अणु-परिमाण होने से मूर्त्त द्रव्य है। मन के मूर्तद्रव्य होने से घटादि मूर्त द्रव्यों के समान मन में परत्व, अपरत्व एवं (वेग नामक) संस्कार भी सिद्ध होते हैं।

मन स्पर्शरहित होने से वह किसी द्रव्य का समवायिकारण नहीं है (=किसी सजातीय द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकता); क्योंकि मन आत्मा के समान शरीर से भिन्न होता हुआ सभी विषयों के ज्ञान का ही साधन होने से अस्पर्श (=स्पर्शानधिकरण) है।

परमाणुओं से उत्पन्न एवं घटादि के समान क्रिया का आधार होने से मन में मूर्त्तता सिद्ध होती है।

मन अज्ञ = अचेतन (=ज्ञानानधिकरण) है; क्योंकि, मन को चेतन मान लेने पर मन को भी आत्मा के समान शरीर का अधिष्ठाता / उपभोक्ता मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, वह मन तो आत्मा की इच्छा के अनुसार काम करने वाला साधन मात्र है।

[मन, चक्षुरादि इन्द्रियों के समान] करण होने से दूसरे (=आत्मा) के उपभोग का साधनरूप पदार्थ है ।

[संख्या, परिमाण, ज्ञानसाधनता आदि] गुणों का आधार होने से मन, पृथिवी आदि के समान द्रव्य है ।

आत्मा के प्रयत्न और अदृष्ट के कारण मन तीव्र गति वाला भी है । अर्थात् जिस प्रकार इच्छा, द्वेष एवं जीवनयोनिनामक (जीवन धारण के लिए) प्रयत्न से सम्बद्ध मन तीव्र गति से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, वैसे ही अदृष्ट से प्रेरित होकर मरने के पश्चात् दूसरे शरीर में शीघ्र चला जाता है ।

इति = इस प्रकार मन का प्रकरण पूरा हुआ । इसी के साथ पृथिवी से लेकर मन पर्यन्त नौ द्रव्यों का निरूपण समाप्त होने से, प्रशस्तपाद भाष्य का द्रव्य पदार्थ वाला प्रमुख, प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ; जिसमें तेरह अवान्तर प्रकरण हैं ।।

प्रसंग :- आत्मा की परीक्षा के मध्य में मनविषयक विवेचना करके अवशिष्ट आत्म-परीक्षा का प्रसंग आरम्भ करते हुए सूत्रकार पहले, आत्मा का लक्षण (=स्वरूप) बताते हैं -

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।। ४ ।। (१३९)

[प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः] प्राण, अपान, निमेष (= नेत्र बन्द करना), उन्मेष (= नेत्र खोलना), जीवन (= प्राणधारण करना), मनोगति (=मन की गति), दूसरे इन्द्रिय का विकार [च] और [सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः] सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न (- ये) [आत्मनः] आत्मा के [लिङ्गानि] लिंग (= चिह्न = साधक = हेतु) हैं ।

पिछले प्रकरण में ज्ञान गुण के आश्रय के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया था, जो कि आत्मा का स्वरूप-लिंग है। परन्तु यहाँ प्राणादि ऐसे विशेष - लिंग दिखाए हैं, जिनसे यह परीक्षण हो सके, कि इस पिण्ड में आत्मा है अथवा नहीं।

किन्तु आत्मा से अधिष्ठित पिण्ड में ये प्राणादि सभी लिंग हों, यह आवश्यक नहीं है। किसी शरीर में ये सब लिंग होते हैं; जैसे मानव देह में। किसी में कम; जैसे - पशुओं में। किसी में दो-चार; जैसे सरीसृप, कीड़े-मकोड़े आदि में। किसी में एक ही प्रतीत होता है; जैसे-वृक्ष, वनस्पति आदि में। अर्थात् जहाँ जीव है, वहाँ जीवन है; जहाँ जीवन है, वहाँ जीव है।

प्राण-अपान :- जड़ वायु का स्वभाव तिरछा चलना है। परन्तु शरीर में वायु नीचे और ऊपर चलता है। इससे सिद्ध होता है, कि इस वायु का चालक कोई और है। वही आत्मा है, जो प्रयत्न से उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि के समान वायु को भरता और छोड़ता है।

निमेष-उन्मेष :- बाहर से कोई प्रयत्न न होने पर भी आँख का बन्द होना या खुलना अथवा एक टक देखते रहना; शरीर में आत्मा के अस्तित्व का लिंग है।

जीवन :- शरीर में प्राण-शक्ति धारण किए रहना, आहार-ग्रहण, आहार से पुष्टि की प्राप्ति, विविध अंगों का विकास, स्वजातीय बीज से स्वजातीय पिण्ड की सन्तति, क्षत-संरोहण (= खाल आदि के छिलने या घाव हो जाने पर फिर भर जाना) आदि क्रियाएँ जड़ देह, इन्द्रियों से अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व के लिंग हैं।

मनोगति :- इन्द्रिय-विशेष के साथ मन का सान्निध्य ज्ञानोत्पत्ति का निमित्त है, वह मन की गतिविशेष से होता है। इससे भी मन्ता आत्मा का अनुमान होता है।

इन्द्रियान्तरविकार - कभी कभी जीभ से सन्तरे, नींबू या आम का स्वाद लेने पर, कालान्तर में उसी फल को आँख से देखते ही उसके रस की स्मृति हो जाती है और मुँह में पानी भर आता है। इससे इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करने वाले आत्मा का अनुमान होता है; जो उन इन्द्रियों से भिन्न है।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न :- सुख आदि गुण हैं। गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहते हैं। पृथिवी आदि आठ द्रव्यों अथवा शरीर के कारण-अवयवों में से ये किसी के गुण नहीं हैं। अतः गत प्रसंग में कहे गये 'ज्ञान' के समान ये गुण भी चेतन आत्मा के समझने चाहिए, अचेतन के नहीं। अतः इनका आश्रय द्रव्य आत्मा ही सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

प्रसंग :- क्योंजी ! आत्मा का अस्तित्व तो प्राणापानादि लिंगों से सिद्ध हो गया, परन्तु उसका द्रव्यत्व और नित्यत्व कैसे सिद्ध हो ? इस शंका का समाधान करते हैं -

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥ (१४०)

[तस्य] उस (=आत्मा) के [द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्यत्व और नित्यत्व [वायुना] वायु - परमाणु विषयक विवरण से [व्याख्याते]व्याख्यात (समझने चाहिए)।

जिस प्रकार गत सूत्र (२/१/११, १२) में अन्य द्रव्य के आश्रित न होने, क्रियावान् और गुणवान् होने से वायु को द्रव्य कहा था, उसी प्रकार किसी द्रव्य के आश्रित न रहने; इन्द्रियों और मन से कार्य करने के प्रयत्नवाला होने तथा ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों का आश्रय या समवायिकारण होने से आत्मा भी द्रव्य है।

तथा जैसे गतसूत्र (२ /१/१३) में वायुपरमाणु को उसका कोई समवायिकारण न होने से नित्य कहा है, वैसे ही आत्मा का कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से उसे नित्य मानना चाहिए ॥ ५ ॥

प्रसंग :- अनुमान प्रमाण के आधार पर आत्मा की असिद्धि दिखाता हुआ पूर्वपक्षी कहता है -

(पू.) यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ ६ ॥ (१४१)

[यज्ञदत्तः] '(यह) यज्ञदत्त है' [इति] ऐसा [सन्निकर्षे] (चक्षु आदि इन्द्रिय से शरीर का) सन्निकर्ष (=सामीप्य) होने पर [प्रत्यक्षाभावात्] (आत्मा का) प्रत्यक्ष न होने से [दृष्टम्] (आत्मा की सिद्धि में) दृष्ट (=प्रत्यक्ष) [लिङ्गम्] लिंग (=साधक = हेतु) [न] नहीं [विद्यते] है ।

जिस प्रकार रसोई आदि में 'धूम के सहित अग्नि का प्रत्यक्ष होने से धूम अग्नि का दृष्ट लिंग है; जो अन्यत्र पर्वत आदि में प्रत्यक्ष होता हुआ अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान करा देता है । उस प्रकार धूम के समान यज्ञदत्त के शरीर से उसके आत्मा का अनुमान नहीं होता; क्योंकि शरीर के साथ कभी आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हुआ ।

अतः साध्य (आत्मा) और साधक (= हेतु शरीरादि) के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न होने से अनुमान प्रमाण के आधार पर आत्मा की सिद्धि युक्त प्रतीत नहीं होती ॥ ६ ॥

प्रसंग :- क्यों जी ! प्रत्यक्षदृष्ट व्याप्ति वाले दृष्ट लिंग के अभाव में भी सामान्यतो दृष्ट लिंग से आत्मा का अनुमान हो जाएगा ; पूर्वपक्षी इस शंका का उत्तर देता है -

(पू.) सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥ (१४२)

[सामान्यतोदृष्टात्] सामान्यतोदृष्ट हेतु से [च] भी [अविशेषः] विशेष नहीं है ।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान से केवल यही सिद्ध हो सकता है; कि ज्ञान, प्रयत्न आदि गुणों का आश्रय कोई द्रव्य है। किन्तु वह द्रव्य आत्मा ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

अतः आत्मा की सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण युक्त नहीं हैं ॥ ७ ॥

प्रसंग :- अन्त में पिछले दो सूत्रों में उठो गए पूर्वपक्ष का निष्कर्ष दिखाते हैं -

(पू.) तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥ (१४३)

[तस्माद्] इसलिए [आगमिकः] (आत्मा) आगम (=शास्त्र-) प्रमाण से ही साध्य है।

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से असिद्ध आत्मा केवल शास्त्र (= आगम = शब्दप्रमाण) द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है; क्योंकि शास्त्रों में अनेकत्र आत्मा की चर्चा आयी है। यथा **'आत्मैवाभूद्विजानतः'** (यजु.४०/७)। **'मा त्वा तपत् प्रिय आत्मापियन्तम्'** (ऋ. १/१६२/२०)। **'आत्मानं ते मनसा.'** (ऋ१/१६३/६)। **'आत्मा क्व स्वित्.'** (ऋ. १/१६४/४)। **'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः'** (बृहदा.४/४/१२)। **'अविनाशी वा अरे अयमात्मा.'** (बृहदा. ४/५/१४)। **'आत्मानं रथिनं विद्धि.'** (कठो.१/३/३)। **'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं सम्प्रज्ञानीते.'** (योग.१/३६ व्यास.)। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृहदा.२/४/५)।

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः ।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥ ८ ॥ (महा.वन.१८१/२२)

प्रसंग - अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं :-

(उ.) अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥ (१४४)

[अहम्] मैं हूँ [इति] ऐसी (प्रतीति में) [शब्दस्य] शब्द प्रमाण के [व्यतिरेकात्] भिन्न (=विलक्षण) होने से [आगमिकम्] (आत्मा केवल) आगम से ही बोध्य (=साध्य) [न] नहीं है ।

लोक व्यवहार में शब्दप्रमाण सुने बिना भी प्रत्येक व्यक्ति 'अहम्' (= मैं हूँ) की अनुभूति करता है । और प्रत्यक्ष हो जाने पर किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती । अतः प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले आत्मा की सिद्धि में, भले ही शब्दप्रमाण भी हो; परन्तु उसकी सिद्धि में केवल शब्द को ही प्रमाण मानना उचित नहीं ।

इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में 'अहम्' (= मैं पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ इत्यादि) का व्यवहार नहीं पाया जाता । अतः पृथिवी आदि आठों में से किसी द्रव्य को आत्मा मानना शास्त्रानुकूल नहीं है ॥ ९ ॥

प्रसंग :- पूर्व सूत्र के अनुसार आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष-प्रमाण से सुनकर पूर्वपक्षी शंका करता है :-

(पू.) यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥ १० ॥ (१४५)

[यदि] यदि [अहम्] मैं [देवदत्तः] देवदत्त हूँ, [अहम्] मैं [यज्ञदत्तः] यज्ञदत्त हूँ [इति] इस प्रकार से [दृष्टम्] (आत्मा का) दर्शन (=ज्ञान) [अन्वक्षम्] प्रत्यक्ष हो जाता है (तो उसकी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण अनावश्यक है) ।

कहते हैं, कि **'प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्'** अर्थात् जब किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया, तो उसके ज्ञान के लिए अन्य प्रमाणों की क्या आवश्यकता है ? **''नहि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमतेऽनुमातारः''** - (न्या.वा.) अर्थात् जब

हाथी प्रत्यक्ष खड़ा हो, तो फिर लोग उसकी चिंघाड़ से उसका अनुमान नहीं करते ॥ १० ॥

प्रसंगः - पूर्वोक्त पर्वपक्ष पर सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं -

(उ.) दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥ (१४६)

[दृष्टे] प्रत्यक्ष किये हुए [आत्मनि] आत्मा के विषय में [लिङ्गे] (अनुमान के साधक लिंग (=हेतु) के उपस्थित होने पर [दृढत्वात्] दृढ़ होने से [प्रत्यक्षवत्] प्रत्यक्ष के समान [एकः] एक [एव] ही [प्रत्ययः] निश्चित ज्ञान होता है।

'अहम्' (= मैं हूँ) इस प्रतीति में आत्मा के प्रत्यक्ष होने पर भी, वह शरीर से अलग तत्त्व है - इसमें सन्देह या शंका बनी रहती है। किन्तु जब ज्ञान आदि लिंग द्वारा शरीर से अलग आत्मा का अनुमान होता है, तब उन प्रमाणों के परस्पर सहयोग से निश्चित ज्ञान होता है और प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता की शंका दूर हो जाती है; क्योंकि अनेक प्रमाणों से सिद्ध वस्तु के विषय में कोई शंका नहीं होती।

जैसे - दूर से जलाशय या प्रवाहित जल को प्रत्यक्ष देखकर भी यह शंका उठ सकती है, कि यह जलाशय की प्रतीति कहीं 'मृगमरीचिका' तो नहीं। परन्तु जब उसके आस पास बगुले, बतख आदि जलप्रिय पक्षियों को उड़ते - बैठते और तैरते देखता है, तब उन लिंगों से अनुमान के भी पक्का हो जाने पर, जलाशय का निश्चित ज्ञान हो जाने पर उसकी प्रामाणिकता की शंका मिट जाती है।

इसी प्रकार आत्मप्रत्यक्ष में भी उलटी सम्भावना (=कि कहीं शरीर ही आत्मा न हो) से उस ज्ञान में अप्राणिकता की शंका हो जाती है। परन्तु अनुमान से उसी का ज्ञान हो जाने पर, शंका मिट जाती है।

अतः ऐसे स्थल में कि जहाँ प्रत्यक्ष भी दृढ़ निश्चय न कराए, वहाँ अनुमान की आवश्यकता होती है। इसीलिए वाचस्पतिमिश्र आदि लिखते हैं - ''प्रत्यक्षपरिकलित -मप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः'' अर्थात् प्रत्यक्ष से जाने हुए को भी तर्क के रसिक अनुमान से जानना चाहते हैं ।। ११ ।।

प्रसंगः - पूर्वपक्षी शंका करता है -

(पू.) देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः।।१२ ।।(१४७)

[देवदत्तः] देवदत्त [गच्छति] जाता है [यज्ञदत्तः] यज्ञदत्त [गच्छति] जाता है [इति] इस प्रकार के [उपचारात्] व्यवहार से [शरीरे] शरीर में [प्रत्ययः] (यह) प्रतीति है (ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है) ।

दसवें सूत्र में 'अहम्' प्रतीति से आत्मा का प्रत्यक्ष होना कहा है। परन्तु 'अहं गच्छामि' की अनुभूति और व्यवहार में स्पष्ट रूप से गति का आश्रय शरीर है; क्योंकि शरीर ही गतिमान् दीखता है । अतः 'अहम्' की प्रतीति का आश्रय देह मानना चाहिए ।। १२ ।।

प्रसंग :- पूर्वपक्षी 'अहम्' की प्रतीति में पुनः दोष दिखाता है -

(पू.) सन्दिग्धस्तूपचारः ।। १३ ।। (१४८)

[उपचारः] लोक-व्यवहार [तु] तो [सन्दिग्धः] सन्देहजनक है ।

'अहं गच्छामि' आदि में जहाँ 'अहम्' पद शरीर का बोध कराता है, वहीं दूसरी ओर 'अहं जाने, अहं सुखी' - आदि में आत्मा का बोधक होता है। अतः दोनों में प्रयोग होने से यह सन्देह उत्पन्न होता है, कि 'अहम्' पद से आत्मा का प्रत्यक्ष समझा जाय अथवा शरीर का ।। १३ ।।

प्रसंगः- सूत्रकार शंका का समाधान करते हैं :-

(उ.) अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः
॥ १४ ॥ (१४९)

[अहम्] मैं हूँ [इति] इस प्रकार (की प्रतीति) [प्रत्यगात्मनि] (देह से भिन्न) अन्तरात्मा के विषय में [भावात्] होने से [परत्र] उससे भिन्न में [अभावात्] न होने से [अर्थान्तरप्रत्यक्षः] (उक्त प्रतीति के द्वारा) देहादि से अतिरिक्त अर्थ (=आत्मा) का प्रत्यक्ष होता है।

'अहम्' इस अनुभूति की जड़ शरीर आदि पदार्थों में योग्यता नहीं। ऐसे ज्ञान का आश्रय केवल चेतन ही हो सकता है। इसलिए आत्मा के निकल जाने पर 'मैं देवदत्त हूँ' - ऐसी अनुभूति नहीं होती और न वह उठकर चलता है। यदि ज्ञान शरीर का गुण होता; तो रूप, गन्ध आदि के समान वह भी बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता। अतः ज्ञान, सुख आदि का आश्रय आत्मा को ही समझना चाहिए ॥ १४ ॥

प्रसंगः- पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है :-

(पू.) देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः
॥ १५ ॥ (१५०)

[देवदत्तः] देवदत्त [गच्छति] जाता है [इति] इस [उपचारात्] व्यवहार से (गतिक्रिया शरीर में दीखती है) [तावत्] तो (=वैसे ही) [अभिमानात्] अभिमान हेतु से [अहङ्कारः] मैं का व्यवहार [शरीरप्रत्यक्षः] शरीर का प्रत्यक्ष समझना चाहिए।

जैसे - 'देवदत्तो गच्छति' (=देवदत्त जाता है) - इस व्यवहार से गति क्रिया शरीर में दीखती है; वैसे ही अभिमानमूलक 'अहं गौरः, अहं कृशः, अहं स्थूलः' (=मैं गोरा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ) इत्यादि में 'अहं' - पूर्वक व्यवहार भी शरीर

को लक्ष्य करके होता है । इसलिए 'अहम्' की प्रतीति का आश्रय भी शरीर ही समझना चाहिए। शरीर से भिन्न चौदहवें सूत्र के अनुसार आत्मा नहीं ॥ १५ ॥

प्रसंग :- पूर्वपक्ष की आशंका को ही दृढ़ करते हुए सूत्रकार ने पुनः कहा:

(पू.) सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥ (१५१)

[उपचारः] लोक व्यवहार [तु] तो [सन्दिग्धः] सन्देहजनक है ।

जैसे 'अहम्' की प्रतीति 'मैं हूँ, मैं जानता हूँ' - इत्यादि प्रयोगों में आत्मा को लक्षित करके होती है; वैसे ही 'मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं दुवला हूँ, मैं मोटा हूँ - इत्यादि प्रयोगों में शरीर को लक्षित करके भी होती है । अतः चौदहवें सूत्र के अनुसार 'अहम्' की प्रतीति को देहातिरिक्त आत्म-तत्त्व का निश्चायक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह अतिव्याप्ति - दोष से दूषित है ॥ १६ ॥

प्रसंग :- सूत्रकार पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हैं :-

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥ १७ ॥ (१५२)

[यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः] यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के [शरीरविशेषात्] भिन्न शरीर को प्राप्त (=प्रत्यक्ष) करके (भी) [ज्ञानम्] ज्ञान गुण [तु] तो [विषयः] (प्रत्यक्ष का) विषय [न] नहीं होता । {अतः शरीर में 'अहं' - भाव का प्रयोग गौण (=औपचारिक) है }।

सूत्र के 'शरीरविशेपात्' पद में ल्यब्लोप में पञ्चमी है । अतः अर्थ होगा - शरीरभेदं प्राप्य (-अपि) ।

सूत्र में 'ज्ञानम्' पद आत्मा के मानसप्रत्यक्षयोग्य सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष,

प्रयत्न आदि सम्पूर्ण विशेषगुणों का सूचक है। अर्थात् शरीरभेद के प्रत्यक्ष होने पर भी ये गुण शरीर में प्रत्यक्ष नहीं होते।

यदि 'अहं' की भावना शरीरविषयक हो, तो ज्ञान सुख आदि गुण भी शरीर में रूप आदि के समान स्थित होंगे। तब जैसे शरीर के प्रत्यक्ष होने पर रूप आदि गुण भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञान आदि गुण भी नेत्र आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो जाते।

और जैसे शरीर के रूप आदि गुण स्थिर होते हैं, वैसे ही ज्ञान, सुख, दुःख आदि भी स्थिर होते; अदल-बदल कर प्रतीत न होते, किन्तु होते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि 'अहं' - भावना शरीरविषयक अयथार्थ (=औपचारिक=औपाधिक) है। किन्तु आत्मा के साथ यथार्थ है।

जब आत्मा मोह या अज्ञान में होता है, तब अपनी साधन-सामग्री को ही अपना स्वरूप समझ लेता है। और जब अविद्या हट जाती है, तब देह के धर्मों में 'अहं' की प्रतीति नहीं होती ॥ १७ ॥

प्रसंग :- अब आत्मा की सिद्धि का उपसंहार करते हैं :-

(उ.) अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥ १८ ॥ (१५३)

[अहम्] मैं हूँ [इति] यह (ज्ञान) [मुख्ययोग्याभ्याम्] (आत्मा में) मुख्य और योग्य होने से [शब्दवत्] शब्द के समान [व्यतिरेकाव्यभिचारात्] (अन्य द्रव्यों में) अभाव के नियत होने से [विशेषसिद्धेः] विशेष (=देहादिभिन्न तत्त्व) की सिद्धि हो जाने से [आगमिकम्] (वह आगम-तत्त्व) केवल आगम - (=शब्द-) प्रमाण द्वारा ही साध्य [न] नहीं है।

'अहम्' की प्रतीति का आश्रय मुख्य रूप से आत्मा ही है । शरीर में वैसा अनुभव तो उपाधि (= अन्य = आत्मा) के कारण से होता है; जिसके निकल जाने पर वह नहीं होता ।

आत्मा में ही ज्ञान, सुख, दुःख आदि के आश्रय होने की योग्यता है । अन्य किसी जड़ पदार्थ में नहीं ।

जिस प्रकार आकाश से भिन्न सभी द्रव्यों में शब्द गुण का अभाव रहता है; वैसे ही आत्मा से अतिरिक्त देहरूप पृथिवी आदि द्रव्यों में नियमित रूप से अभाव देखे जाने से ज्ञानादि का आश्रय आत्मा ही सिद्ध होता है ।

अतः आत्मा को केवल शब्द-प्रमाण से ही साध्य नहीं कहा जा सकता । वह तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी जाना जाता है ।। १८ ।।

प्रसंग :- शरीर आदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि करके अब आत्मा के अनेकत्व को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं :-

(पू.) सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यविशेषादैकात्म्यम् ।। १९ ।। (१५४)

[सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यविशेषात्] सुख, दुःख, ज्ञान (आदि आत्मगुणों) की उत्पत्ति सर्वत्र समान होने से [ऐकात्म्यम्] (सब शरीरों में) एक आत्मा का होना (सिद्ध होता है) ।

जैसे 'शब्दलिंग' के अविशेष (= सर्वत्र समान) होने से आकाश एक है । 'युगपत्' आदि प्रतीतियों के अविशेष (=समान) होने से काल एक है और 'पूर्व, पर' आदि प्रतीतियों के समान होने से दिशा एक समझी जाती है । वैसे ही सुख, दुःख, ज्ञान आदि की उत्पत्ति देवदत्त, यज्ञदत्त आदि सभी में अविशेष (=समान) होने से आत्मा भी एक ही सिद्ध होता है ।। १९ ।।

प्रसंग :- पूर्वोक्त शंका का सूत्रकार समाधान करते हैं :-

(उ.) - व्यवस्थातो नाना ॥ २० ॥ (१५५)

[व्यवस्थातः] (जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि की) व्यवस्था के होने से [नाना] (प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्मा) अनेक हैं।

लोक में प्रत्येक शरीर के साथ एक विशेष अवस्था पाई जाती है। एक ही काल व देश में कोई जन्म लेता है, कोई मरता है; कोई सुखी है, कोई दुःखी है; कोई धनी है, कोई निर्धन; कोई मूर्ख है, कोई विद्वान्; कोई सर्वाङ्ग है, कोई विकलांग; कोई धार्मिक एवं विद्वान् माता - पिता के घर में जन्मता है, तो कोई अधार्मिक एवं अनपढ़ माता-पिता के घर में जन्मता है। इससे सिद्ध होता है, कि सभी शरीरों में एक ही आत्मा नहीं, अपितु प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्मा है। क्योंकि एक ही काल में एक वस्तु में दो परस्पर विरुद्ध गुण उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि आत्मा एक ही होता, तो दूसरे शरीर में होने वाले सुख, दुःख आदि का प्रत्येक को अनुभव होता। अतः आत्मा का अनेकत्व (=अनन्तत्व) सिद्ध है ॥ २० ॥

प्रसंग :- आत्मा के नानात्व को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु देते हैं :-

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥ (१५६)

यहाँ गत सूत्र से 'नाना' की अनुवृत्ति है।

[शास्त्रसामर्थ्यात्] शास्त्र के सामर्थ्य (=प्रमाण) से [च] भी (जीवात्मा नाना) हैं।

युक्तियों के अतिरिक्त शास्त्रीय प्रमाणों से आत्मा (= जीवात्मा) बहुत सिद्ध होते है। जैसे -

ये समानाः समनसो जीवाः। (यजु. १९/४६)।

जीवा ज्योतिरशीमहि । - (ऋ. ७/३२/२६) ।

इमे जीवा वि मृतैः । (ऋ. १०/१८/३) ।

वयं जीवा जीवपुत्राः । (ऋ. १०/३६/९) ।

वयं जीवाः प्रतिपश्येम । (ऋ. १०/३७/८) ।

य इत्तद्विदुस्त इमे समासते । - (ऋ. १०/१६४/३९)

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः । - (यजु. ११/५; श्वेता.२/१५) ।

चेतनश्चेतनानाम् । - (कठोप. - २/२/१३) ।

शाश्वतीभ्य : समाभ्यः । - (यजु. ४०/८) ।

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः । - (सांख्य. ६/४५) ।

१२ - आत्मप्रकरणम्

वैशे. ३/२/४ - २१ सूत्रों तथा इनसे सम्बद्ध अन्य सूत्रों के अनुसार क्रमप्राप्त 'आत्मा' द्रव्य के लक्षण और परीक्षण के लिए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.):- आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा । तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिःसमधिगमः क्रियते । वास्यादीनां [इव] करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्, शब्दादिषु प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते ।

न शरीरेन्द्रियमनसां [चैतन्यं]अज्ञत्वात् । न शरीरस्य चैतन्यम् घटादिवद् भूतकार्यत्वात्, मृते चासम्भवात् । नेन्द्रियाणाम् करणत्वाद्, उपहतेषु विषयसान्निध्ये चानुस्मृतिदर्शनात् । नापि मनसः । करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृतिप्रसङ्गात्, स्वयं करणभावाच्च । परिशेषादात्मकार्यत्वात्, तेनात्मा समधिगम्यते ।

शरीरसमवायिनीभ्याञ्च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृतिनिवृत्तिभ्यां रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते, प्राणादिभिश्चेति ।

कथम् ? शरीरपरिगृहीते वायौ विकृतकर्मदर्शनाद् भस्त्राध्मापयितेव । निमेषोन्मेषकर्मणा नियतेन दारुयन्त्रप्रयोक्तेव । देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादिनिमित्तत्वाद्गृहपतिरिव । अभिमतविषयग्राहककरणसम्बन्धनिमित्तेन मनःकर्मणा गृहकोणेषु पेलकप्रेरक इव दारकः । नयनविषयालोचनानन्तरं रसानुस्मृतिक्रमेण रसविक्रियादर्शनाद् अनेकगवाक्षान्तर्गतप्रेक्षकवद् उभयदर्शी कश्चिदेको विज्ञायते ।

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते । ते च न शरीरेन्द्रियगुणाः । कस्मात् ? अहङ्कारेणैकवाक्यताऽभावात्, प्रदेशवृत्तित्वादयावद्द्रव्यभावित्वाद् बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वाच्च । तथाहंशब्देनापि पृथिव्यादिशब्दव्यतिरेकादिति ।

तस्य गुणा बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाः । आत्मलिङ्गाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धाः । धर्माधर्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनात् । संस्कारः स्मृत्युत्पत्तौ कारणवचनात् । व्यवस्थावचनात् सङ्ख्या । पृथक्त्वमप्यत एव । तथा चात्मेति वचनात् परममहत् परिमाणम् । सन्निकर्षजत्वात् सुखादीनां संयोगः । तद्विनाशकत्वाद् विभाग इति ।।

आत्मत्व जाति के समवाय सम्बन्ध से युक्त होने से आत्मा नामक द्रव्य सिद्ध होता है । उस आत्मा के इन्द्रियों की ग्रहणशक्ति से परे होने के कारण अप्रत्यक्ष (=इन्द्रियातीत) होने से शब्दादि के प्रत्यक्ष से अनुमित होने वाले श्रोत्रादि करणों (=इन्द्रियों) के द्वारा आत्मा का अनुमान किया जाता है ।[द्र.:- 'सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः' (सां १/१०९), 'तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे' (वैशे. ८/१/२)] (कैसे ?) वसूला (=कुल्हाड़ी) इत्यादि विशेष करणों के वढ़ई आदि कर्ता द्वारा प्रेरित देखे जाने से; इसी

प्रकार शब्द, रूप इत्यादि विषयों में ज्ञान होने से भी ज्ञाता (=ज्ञानधिकरण आत्मा) का अनुमान किया जाता है। शरीर, इन्द्रिय अथवा मन ज्ञान के आश्रय (=आधार) नहीं हो सकते, अज्ञ (=ज्ञान के समवायिकारण न) होने से ।

इन तीनों में से शरीर का चैतन्य (= ज्ञानाधाररूप चेतनता) धर्म नहीं है। क्योंकि वह (=शरीर) घट, पट आदि के समान पृथिवी आदि रूप भूत द्रव्य से उत्पन्न होता है, तथा मृत (शरीर) में ज्ञान सम्भव भी नहीं है । वह (=चैतन्य) इन्द्रियों का धर्म भी नहीं हो सकता; [ज्ञानक्रिया में इन्द्रियों के] करण होने से, इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर अथवा विषय एवं इन्द्रियों का परस्पर सन्निकर्ष न रहते पर भी पश्चात् स्मरणात्मक ज्ञान देखे जाने से। चेतनता (= ज्ञान) मन का भी धर्म नहीं है, मन को चक्षुरादि अन्य करणों से निरपेक्ष होकर ज्ञान का समवायिकारण मानने पर, एक ही समय में एक ही व्यक्ति को अनेक आलोचनज्ञान (=अनुभव) तथा स्मृतियाँ होने की आपत्ति आने से। स्वयं करण होने से भी मन ज्ञान का आधार (= समवायिकारण) नहीं हो सकता। परिशेषानुमान से [ज्ञान के समवायिकारण] आत्मा का कार्य ज्ञान होने से आत्मारूप द्रव्य अनुमित होता है । - (यह स्वतन्त्र भाष्य है) ।

शरीर में समवायसम्बन्ध से रहने वाली, हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार करने योग्य प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के द्वारा प्रयत्न से युक्त, आत्मारूप शरीर के अधिष्ठाता (=चलाने वाले) का अनुमान से बोध होता है; जैसे कि रथ की गतिरूप क्रिया से सारथि का अनुमान होता है [अथवा कार आदि की नियमित गति से कार के ड्राइवर वा चालक का अनुमान होता है] ।

“प्राणापान.” (३/२/४) इस सूत्र में कहे हुए प्राणापानादि लिङ्गों से भी [पृथिवी आदि द्रव्यों से भिन्न ‘प्रयत्न’ से युक्त अधिष्ठाता आत्मा नामक द्रव्य का अनुमान होता है ।]

(प्र.) - कैसे ? [प्राणापानादि लिङ्गों से आत्मा की सिद्धि (=अनुमिति) कैसे होती है?]

(उ.) - शरीर में वर्तमानि प्राणापान नामक वायु में [वायु की स्वाभाविक कुटिल/तिरछी गति के स्थान पर प्राणापान नाम के वायु में] जो ऊर्ध्व - अधोगमन रूप विकृत कर्म दिखाई देता है, उससे धौंकनी को धौंकने वाले के समान, श्वासप्रश्वास के प्रेरक प्रयत्नवान्, भोक्ता अधिष्ठाता आत्मा का अनुमान होता है।

सूत्रोक्त निमेषोन्मेष (=आँख बन्द करना, खोलना इत्यादि क्रिया से, जो सदा हुआ करती है, उस) से प्रेरक प्रयत्नवान्, शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का अनुमान होता है; जो कठपुतली को नचाने वाले के समान चक्षुरूप अवयव में निमेषोन्मेष कर्म का प्रयत्न करता है।

[सूत्रोक्त 'जीवन' हेतु से अर्थात्] शरीर की वृद्धि, घाव एवं टूटे हुए अंगों का पुनः भर जाना या ठीक हो जाना इन दोनों से भी प्रयत्नविशिष्ट, शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का अनुमान होता है। जैसे कि घर के बढ़ने एवं टूट-फूट की मरम्मत से घर के स्वामी की अनुमान से सिद्धि होती है।

[सूत्रोक्त 'मनोगति' भी आत्मा की साधक है, अर्थात्] प्रियविषय को ग्रहण करने के कारण चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय तथा मन के सम्बन्ध से उत्पन्न मन की क्रिया से आत्मा का अनुमान होता है, जैसे कि घर के कोने में अथवा भूमि पर पड़ी हुई लाख की, कांच की या मिट्टी की गोली पर जब दूसरी गोली के टकराने की क्रिया होता है, तब न दीखते हुए भी गोली के प्रेरक (= चलाने वाले) बालक के अस्तित्व का अनुमान हो जाता है।

[इन्द्रियान्तरविकार भी आत्मा का साधक है, अर्थात्] चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष हुए रूपविषयक ज्ञान के पश्चात् [आम आदि के] रस की स्मृति के क्रम से रसनेन्द्रिय में विकार देखा जाता है (=मुँह में पानी भर आता है)। इस भिन्न इन्द्रिय

में विकार से भी, अनेक गवाक्षों से देखने वाले एक ही व्यक्ति के समान रूप और रस दोनों के एक ज्ञातारूप आत्मा का अनुमान होता है।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नामक विशेष गुणों से भी गुणी आत्मा का अनुमान होता है। वे सुखादि गुण शरीर तथा इन्द्रियों के नहीं हो सकते; क्योंकि (१) - 'अहं' इस बुद्धिविशेष के साथ शरीरेन्द्रियों की एकवाक्यता (समानाधिकरणता) नहीं होती। जैसे कि शरीर एवं इन्द्रियों के रूपादि गुणों की एकवाक्यता नहीं होती। (शंका) क्योंजी ! 'रूपवानहम्' (= मैं रूपवान् हूँ) इस प्रयोग में शरीर के गुण 'रूप' की 'अहम्' के साथ एकवाक्यता दीख रही है, (समाधान-) यह गौण (तात्स्थ्योपाधि से) प्रयोग है; 'अहं स्मर्ता', 'अहं ज्ञाता' (=मैं स्मरण करता हूँ, मैं जानता हूँ) इत्यादि मुख्य प्रयोगों से उसका बाध देखा जाता है। क्योंकि स्मरण करना या जानना शरीर वा इन्द्रियों के धर्म नहीं हैं।

२ - वे सुखादि अपने आश्रय के किसी एक देश में रहते हैं, जैसे - 'पादे मे सुखम् शिरसि मे दुःखम्' (=मेरे पैर में आराम है, मेरे शिर में वेदना है)। जब कि शरीर एवं इन्द्रियों के विशेष गुण 'रूप' आदि अपने आश्रय के सभी अंशों में रहने वाले होते हैं। इस व्यतिरेकव्याप्तिजनित अनुमान से भी सुख-दुःख आदि शरीरेन्द्रियों के गुण नहीं हैं।

३. वे सुखादि अपने आश्रयरूप (=शरीरादि) द्रव्य के विद्यमान रहने तक निरन्तर नहीं रहते। जबकि शरीरादि के विशेष गुण 'रूप' आदि यावद्द्रव्यभावी (अपने आश्रय के विद्यमान रहने तक रहते) हैं। यहाँ भी व्यतिरेकव्याप्तिजनित अनुमान से सुख-दुःख आदि शरीरेन्द्रिय के गुण नहीं हैं।

४. - बाह्येन्द्रियों से इन सुखादि का प्रत्यक्ष नहीं होता। जबकि शरीर आदि के विशेषगुण रूप आदि का बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। सुखादि का प्रत्यक्ष तो अन्तःकरण से ही होता है। इस प्रकार यहाँ भी व्यतिरेकव्याप्तिजनित अनुमान से सुख-दुःख आदि शरीरेन्द्रिय के गुण नहीं हैं।

पृथिवी आदि द्रव्यों का 'अहम्' शब्द के साथ व्यतिरेक (= असामानाधिकरण्य) होने से भी, 'अहम्' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य रखने वाला आत्मा द्रव्य भिन्नरूप में सिद्ध होता है। अर्थात् लौकिक एवं वैदिक व्यवहार में 'अहं पृथिवी', 'अहमुदकम्' आदि की प्रतीति नहीं होती। अतः 'अहम्' शब्द पृथिव्यादि का वाचक नहीं, अपितु आत्मा का वाचक है।

उस आत्मा के १ - बुद्धि, २ सुख, ३ - दुःख, ४ - इच्छा, ५ - द्वेष, ६ - प्रयत्न, ७ - धर्म, ८ - अधर्म, ९ - संस्कार, १० - संख्या, ११ - परिमाण, १२ - पृथक्त्व, १३ - संयोग और १४ - विभाग - ये चौदह गुण हैं।

[स्वयं सूत्रकार महर्षि कणाद द्वारा इन गुणों का प्रतिपादन किया गया है; यह बताते हुए भाष्यकार कहते हैं-] आत्मा के साधक हेतुओं का वर्णन करने वाले 'प्राणापानादि.' (३/२/४) सूत्र के द्वारा बुद्धि से लेकर प्रयत्नपर्यन्त आत्मा के छह गुण कह दिए हैं।

''**आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्**'' (६/१/५) इस सूत्र से एक आत्मा के गुणों को दूसरे आत्मा के गुणों का कारण न होना कहा है, इससे सिद्ध होता है, कि सुख-दुःख के निमित्तभूत धर्म और अधर्म आत्मा के गुण हैं, किन्तु वे दूसरे आत्मा के धर्माधर्म का कारण नहीं बनते।

''**आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः**'' (९/२/६) इस सूत्र के द्वारा स्मृति (= स्मरण) की उत्पत्ति में संस्कार को कारण कहा है, अतः आत्मा में भावना नामक संस्कार है, यह भी सिद्ध होता है।

''**व्यवस्थातो नाना**'' (३/२/२०) एवं ''**शास्त्रसामर्थ्याच्च**'' (३/२/२१) इन सूत्रों के द्वारा सुखी, दुःखी, जीवन-मरण, विकलांग - सर्वांग आदि की व्यवस्था कहने से आत्मा में बहुत्व (= अनेकत्व) संख्या गुण की सिद्धि होती है।

संख्यानुसारी होने से आत्मा में 'अनेकपृथक्त्व' गुण भी सिद्ध है।

''विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा'' (७/१/२२), ''तदभावादणु मनः'' [तथा चात्मा] (७/१/२३) इन सूत्रों में पूर्व सूत्र का 'तथा चात्मा' अंश देहली-दीपक न्याय से उत्तर सूत्र से भी सम्बद्ध है। तदनुसार ही हमने दोनों सूत्रों का व्याख्या कर दिया है। अतः यहां कह सकते हैं, कि - विभु होने से आत्मा (= परमात्मा) आकाश के समान परममहत्परिमाण गुण वाला है और दूसरा आत्मा (=जीवात्मा) विभुत्व के अभाव में अणु परिमाण वाला है। जैसा कि वैदिक-साहित्य में भी आत्मा (= जीवात्मा) को अणुपरिमाण वाला कहा है -

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।

ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ - (अथर्व. १०/८/२५)

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ - (श्वेता.५/९)

''एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'' - (मुण्ड.३/१/९)

''स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो !'' - (छान्दो. ६/८/१५)

''तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते'' - (योग. व्या.भा.१/३६)

पुनरपि, जीवात्मा के गुणों की चर्चा में भाष्यकार द्वारा परमात्मा के ही परिमाण को बताना जीवात्मा के परिमाण को न बताना विचारणीय है।

सुख, दुःख इत्यादि विशेष गुणों के संयोग सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण आत्मा में 'संयोग' गुण भी है। क्योंकि विभाग, संयोग का विनाशक है, अतः आत्मा में 'विभाग' गुण भी है।

इति - इस प्रकार प्रशस्तपाद भाष्य में आत्मा-विषयक विवेचन पूरा हुआ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम्।

॥ तृतीयोऽध्यायश्च समाप्तः ॥

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंगः - पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के उद्देश, लक्षण और परीक्षा के पश्चात् उनके विषय में कुछ विशेष बताने के लिए, सूत्रकार पहले नित्यता का लक्षण (=स्वरूप) बताते हैं -

सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥ (१५७)

[सत्] (जो पदार्थ) विद्यमान (=भावरूप) हो (और) [अकारणवत्] जिसका कोई कारण न हो, (वह) [नित्यम्] नित्य होता है ।

पृथिवी आदि के परमाणु (=अति छोटा अवयव) तथा आत्मा आदि पदार्थों का कोई (-समवायि, असमवायि, और निमित्त) कारण न होने से, ये नित्य माने जाते हैं। इसके विपरीत 'सत् कारणवदनित्यम्' अर्थात् जो विद्यमान पदार्थ कारण वाले हैं; वे घट, पट, भवन आदि अनित्य होते हैं ॥ १ ॥

प्रसंगः- नित्यता की सामान्य परिभाषा बताकर अब नित्य परमाणु के विषय में सूत्रकार कहते हैं :-

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥ २ ॥ (१५८)

[तस्य] उस (=पृथिवी के परमाणु आदि नित्य द्रव्य) का [कार्यम्] (घट, पट, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि) कार्य [लिङ्गम्] (उसके अस्तित्व में) लिङ्ग (= साधक = ज्ञापक = प्रमाण) है ।

दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक, अनेक द्व्यणुकों के संयोग से त्रसरेणु आदि की पद्धति से उपलभ्यमान घट, पट आदि स्थूल कार्य इन्द्रियगोचर होते हैं, जो कि अपने कारणभूत नित्य परमाणु आदि का अनुमान कराते हैं ॥ २ ॥

प्रसंगः - अब सूत्रकार कार्य से कारण के अनुमान की पुष्टि में हेतु देते हैं -

कारणभावात् कार्यभावः ।। ३ ।। (१५९)

[कारणभावात्] कारण के होने से [कार्यभावः] कार्य होता है ।

यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि कोई कार्य कारण के विना नहीं होता । इसलिए यह जगद् रूप कार्य भी अपने कारण का अनुमापक है । और प्रत्येक स्थूल द्रव्य अनेक सूक्ष्म अवयवों से बनता है । इस प्रकार इस स्थूल जगत् के वे सूक्ष्म अवयव, जो सूक्ष्म कारण हैं; वे सत् हैं और कारण वाले नहीं, इसलिए नित्य हैं । और परमसूक्ष्म हैं, इसलिए परमाणु कहलाते हैं । सो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु तो स्थूल भी हैं । इसलिए इनके तो परमाणु ही नित्य हैं । परन्तु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन नित्य ही हैं, यह पहले दिखा चुके हैं । यही बात पीछे प्रकारान्तर से कही है । -

'कारणाभावात् कार्याभावः' (वै.१/२/१)

विशेषः- यहाँ आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का चिरस्थायित्व या व्यावहारिक नित्यत्व ही समझना चाहिए; न कि सांख्य के समान शाश्वत नित्यता ।। ३ ।।

प्रसंगः- जिस प्रकार सब कार्य अनित्य हैं, वैसे ही उनके मूलकारण को भी अनित्य समझना चाहिए अर्थात् नित्य कुछ भी नहीं । - इस आशंका का समाधान करते हैं :-

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ।। ४ ।। (१६०)

[अनित्यः] अनित्य है [इति] ऐसा [प्रतिषेधभावः] प्रतिषेध होना [विशेषतः] विशेषरूप से है (सामान्यरूप से नहीं) ।

जो नित्यता का निषेध है, वह विशेषरूप से है, कि 'घट अनित्य है', 'पट

अनित्य है', 'शरीर अनित्य है', 'पृथिवी अनित्य है' - इत्यादि । किन्तु यह निषेध सामान्य रूप से नहीं हो सकता, कि 'सब अनित्य हैं' । क्योंकि 'अनित्य' पद 'नित्य' के 'नञ्' (= निषेध) के साथ समास होने से बना है । अतः यदि 'अनित्य' का प्रतियोगी 'नित्य' सिद्ध है, तो उस (= नित्य) का अपलाप (= झुठलाना) नहीं हो सकता और यदि असिद्ध है; तो किसी को अनित्य भी नहीं कह सकते ; क्योंकि प्रतिषेध करने के लिए पहले, प्रतियोगी (= विरुद्ध) का मानना आवश्यक है ।

वस्तुतः 'अनित्य' का प्रादुर्भाव 'नित्य' से होता है । अतः मूलकारण को 'नित्य' और कार्य को 'अनित्य' समझना चाहिए । इसी प्रकार सूत्रकार ने आगे 'विद्या' की सिद्धि की है - 'अविद्या च विद्यालिङ्गम्' (वै.७/१/२१) ॥ ४ ॥

प्रसंग :- हम लोक में जितनी वस्तुएँ आकार वाली, रूपवाली, रसवाली या स्पर्शवाली देखते हैं, वे सब अनित्य हैं, पृथिवी आदि के परमाणु भी इन धर्मों वाले हैं; अतः उनको अनित्य समझना चाहिए । इस शंका का समाधान करते हैं -

अविद्या ॥ ५ ॥ (१६१)

[अविद्या] (परमाणु के अनित्य होने का सभी प्रकार का अनुमान) अविद्या (=अज्ञान=भ्रम) है ।

मूल उपादानकारण को अनित्य समझना अविद्या है ; क्योंकि किसी भी कार्य के मूलकारण को पहले से ही विद्यमान होना अनिवार्य है ।

और जो आकार वाला होना - इत्यादि हेतु दिए हैं, वे सब हेत्वाभास हैं; क्योंकि वस्तु का नाश (= कारण में लय) उसके आकार, रूप, रस आदि के कारण नहीं होता । यदि ये नाश के कारण होते, तो कोई वस्तु ठहरती ही नहीं । वस्तुतः किसी वस्तु का नाश, उसके अवयवों के विभाजन से होता है ।

सो जब परमाणु के अवयव ही नहीं, तो अवयवविभाग हो ही नहीं सकता। और जब अवयवविभाग नहीं तो नाश (= अनित्यत्व) भी नहीं। इसलिए परमाणु को नित्य समझना चाहिए ॥ ५ ॥

प्रसङ्ग :- यदि परमाणु आदि नित्य पदार्थों का अस्तित्व है, तो उनका नेत्र से प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? इस शंका का समाधान करते हैं :-

महत्यनेकद्रव्यवत्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥ (१६२)

[महति] महत् परिमाण वाले (= स्थूल) द्रव्य में [अनेकद्रव्यवत्त्वात्] अनेकद्रव्य वाला (= अनेक अवयवों के संयोग से निर्मित) होने से [च] और [रूपात्] (उद्भूत) रूप होने से [उपलब्धि] (वस्तु का) प्रत्यक्ष होता है।

वही वस्तु प्रत्यक्ष होती है, जो अनेक द्रव्यों (=अवयवों) के संयोग से महत् परिमाण की बन गयी हो और उसमें (उद्भूत) रूप (एवं चकार से 'स्पर्श') भी हो। पृथिवी आदि के परमाणु रूपवाले हैं; परन्तु वे एक, निरवयव, परमसूक्ष्म और अनुद्भूत रूप एवं स्पर्श वाले हैं। इसलिए उनका प्रत्यक्ष नहीं होता।

सूत्र में परिमाणवाचक 'महत्' शब्द के गुणवाची होने के कारण उससे 'मतुप्' प्रत्यय का लोप समझना चाहिए। महति अर्थात् महत् परिमाण वाले (महद्वति)।

महत्परिमाणवाले होने पर भी आकाशकाल, दिशा आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि न तो ये अनेक द्रव्यों (=अवयवों) के संयोग से निर्मित हैं और न रूप के आश्रय। महत्परिमाण न होने से अवयवी द्व्यणुक भी प्रत्यक्ष नहीं होता। आत्मा-परमात्मा का प्रत्यक्ष योगज सामर्थ्य से अबाह्य (= आन्तर, मानस) प्रत्यक्ष होता है।

प्रकट (= उद्भूत) रूप आदि होने पर भी अन्य निमित्त से अभिभूत होने पर वस्त का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे सौर तेज से आभिभूत होने से दिन में तारे नहीं दीखते। इसके अतिरिक्त अतिसमीप और अतिदूर होने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ६ ॥

प्रसंगः- पृथिवी और घट, पट आदि पार्थिव पदार्थों तथा जल और वर्फ, ओला आदि जलीय पदार्थों के समान वायु क्यों नहीं दीखता ? इस शंका का समाधान करते हैं -

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥ (१६३)

[द्रव्यत्वे] (सावयव) द्रव्यरूप और [महत्त्वे] महत्परिमाण वाला [सति] होने पर [अपि] भी [रूपसंस्काराभावात्] रूप का संस्कार न होने से [वायोः] वायु का [अनुपलब्धिः] (चाक्षुष) प्रत्यक्ष नहीं होता।

सूत्र में 'रूपसंस्काराभाव' का अर्थ है - रूप सम्बन्धी विशेषता, अर्थात् रूप का समवाय, रूप का उद्भव (= प्रकट होना) तथा अनभिभूतता न होना।

इन रूपसम्बन्धी विशेषताओं के न होने से वायु का नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता। वायु का त्वाच (= त्वचा से) प्रत्यक्ष होता है ॥ ७ ॥

प्रसंग :- द्रव्यों की प्रत्यक्षता के कारण बताकर, अब सूत्रकार गुणों के प्रत्यक्ष होने के कारण बताते हुए पहले रूप के प्रत्यक्ष होने में कारण बताते हैं :-

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥ (१६४)

[अनेकद्रव्यसमवायाद्] अनेक द्रव्य वाले (= अवयवी) में समवाय सम्बन्ध होने से [च] और [रूपविशेषात्] रूपविशेष {= रूप के उद्भूत (= प्रकट) होने

और अन्य किसी निमित्त से अनभिभूत होने से} [रूपोपलब्धिः] रूप का प्रत्यक्ष होता है।

उस रूप का प्रत्यक्ष होता है, जो अनेक द्रव्य वाले अर्थात् अनेक अवयवों से बने (=महत्परिमाण, अवयवी) द्रव्य में समवेत (=आश्रित) हो और उद्भूत (= प्रकट) रूप वाला हो।

परमाणु के रूप का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि वह अनेक द्रव्यवाले (= अवयवी) में नहीं तथा उद्भूत (= प्रकट) रूपवाला नहीं होता ॥ ८ ॥

अथ गुणवैधर्म्यप्रकरणम्

गुणों के साधर्म्यनिरूपण के पश्चात् उनके परस्पर वैधर्म्य का प्रतिपादन करने के लिए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.):- **रूपादीनां सर्वेषां गुणानां प्रत्येकमपरसामान्यसम्बन्धाद् रूपादिसंज्ञा भवन्ति।**

रूप इत्यादि सम्पूर्ण चौबीस गुणों में से प्रत्येक गुण में गुणत्व से न्यून रूपत्व इत्यादि अपर जातियों के समवाय-सम्बन्ध से 'रूप', 'रस' - इत्यादि नाम होते हैं। अर्थात् रूपत्व-सम्बन्ध से 'रूप' - संज्ञा, रसत्वसम्बन्ध से 'रस' - संज्ञा इत्यादि। जैसे- नील, पीत, श्वेत, रक्त आदि विशेष रूपों में यह रूप है, यह रूप है - इत्यादि एकाकार प्रतीति से रूपत्व जाति सिद्ध होती है।

२ (१५) - रूपप्रकरणम् (-रूपवैधर्म्यम्)

सभी गुणों में प्रथम उद्दिष्ट होने से एवं सब पदार्थों की अभिव्यक्ति में कारण होने से भाष्यकार सब से पहले रूप का निरूपण करते हुए उसका लक्षण और विशेषताएं बताते हैं -

(प्रश.):- तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम् । पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति, द्रव्याद्युपलम्भकम्, नयनसहकारि, शुक्लाद्यनेकप्रकारम्, सलिलादिपरमाणुषु नित्यम्, पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि, सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकम्, आश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ।

उन चौबीस गुणों में से रूप नामक गुण चक्षु इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है (अन्य इन्द्रिय से नहीं) । यह पृथिवी, जल और तेज - इन तीन द्रव्यों में रहता है । जिस आश्रय में रूप रहता है उस आश्रय द्रव्य, उसके गुण (रूप, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं वेग) क्रिया तथा जाति को प्रत्यक्ष कराने वाला है । आँख से होने वाले प्रत्यक्ष में आँखों का सहायक है । यह श्वेत, रक्त, पीत आदि भेद से अनेक प्रकार का है । जल आदि के परमाणुओं में यह रूप गुण नित्य है । किन्तु पृथिवी के परमाणुओं में अग्नि के संयोग से बदल जाने के कारण अनित्य है । (जैसे - घट अग्नि - संयोग के कारण श्याम वर्ण से रक्त वर्ण हो जाता है, फल हरित वर्ण से रक्त, पीत या कृष्णवर्ण के हो जाते हैं ।) सम्पूर्ण कार्यद्रव्यों में कारण के गुणों से उत्पन्न होता है । आश्रयद्रव्य के नाश से ही नष्ट होता है । यह रूप का निरूपण पूरा हुआ । (द्र०- ८/२/६;४/१/८; २/१/१-३; ४/१/६; ७/१/२-७)

प्रसंग :- अब सूत्रकार रूप गुण के प्रत्यक्ष होने के नियम का अन्य 'रस' आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने में अतिदेश करते हैं :-

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥ (१६५)

[तेन] उस (= रूपप्रत्यक्ष में हेतु कथन) से [रसगन्धस्पर्शेषु] रस, गन्ध और स्पर्श में [ज्ञानम्] (प्रत्यक्ष) ज्ञान (का होना) [व्याख्यातम्] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

जैसे अनेक द्रव्य वाले अवयवी में आश्रित होने से, रूप के उद्भूत एवं अनभिभूत होने से 'रूप' का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही अवयवी में आश्रित होने; रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों का क्रमशः रसना, नासिका और त्वचा से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ९ ॥

३(१६) - रसप्रकरणम् (-रसवैधर्म्यम्)

अब भाष्यकार क्रमप्राप्त 'रस' गुण का स्वरूप बताते हैं -

(प्रश.) :- रसो रसनग्राह्यः । पृथिव्युदकवृत्तिः, जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम्। रसनसहकारी, मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदभिन्नः । अस्यापि नित्यानित्यनिष्पत्तयो रूपवत् ।

रसन-इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होने वाला गुण 'रस' है । यह पृथिवी और जल दो द्रव्यों में ही रहता है । यह रस जीवन (=प्राणधारण), पुष्टि (=अवयवों की वृद्धि), बल (=विशेष उत्साह) और आरोग्य (=रोगों के अभाव) -इन सब का कारण है । रस एवं रस में समवेत रसत्व जाति के प्रत्यक्ष में यह रसन-इन्द्रिय का सहायक है; जो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छह प्रकार का है । इस रस के भी नित्यत्व और अनित्यत्व की सिद्धि रूप के समान जाननी चाहिए । अर्थात् रस भी रूप के समान पार्थिव परमाणुओं में अग्नि के संयोग से उत्पन्न एवं नष्ट होता है तथा जल के परमाणुओं में नित्य है; कार्य जल में कारण-गुण से उत्पन्न होता है, और आश्रय के नाश से नष्ट हो जाता है । - (द्र.-८/२/६; ४/१/९; २/१/१-२, ७/१/२-७) ।

४(१७) - गन्धप्रकरणम् (-गन्धवैधर्म्यम्)

अब क्रमप्राप्त 'गन्ध' गुण का स्वरूप बताते हैं -

(प्रश.):- गन्धो घ्राणग्राह्यः । पृथिवीवृत्तिः, घ्राणसहकारी, सुरभिरसुरभिश्च । अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः ।

घ्राणेन्द्रिय से ही जिसका प्रत्यक्ष हो, वह 'गन्ध' गुण है। यह केवल पृथिवी में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। गन्ध के प्रत्यक्ष में घ्राण की सहायता करता है। यह सुगन्ध एवं दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार का है। इसके उत्पत्ति और विनाश रस के समान व्याख्यात समझने चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार पार्थिव परमाणुओं के रस की उत्पत्ति एवं विनाश दोनों अग्नि के संयोग से होते हैं, एवं कार्यद्रिव्यों में वे कारणगत गुणों से उत्पन्न होते हैं तथा आश्रय के नाश से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार गन्ध गुण भी व्याख्यात समझना चाहिए। गन्ध गुण नित्य तो होता ही नहीं। - (द्र. ४/१/९; ८/२/२५; २/१/१; २/२/२; ७/१/२ - ७)

५ (१८) - स्पर्शप्रकरणम् (-स्पर्शवैधर्म्यम्)

अब क्रमप्राप्त 'स्पर्श' - गुण का स्वरूप बताते हैं -

(प्रश०) :- **स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः। क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः, त्वक्सहकारी, रूपानुविधायी, शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् त्रिविधः। अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः पूर्ववत्।**

[त्वचा में स्थित इन्द्रिय ही 'त्वगिन्द्रिय' है] त्वगिन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होने वाला गुण 'स्पर्श' है। यह पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है। [यह त्वचा से होने वाले उष्णशीतादि स्पर्श के प्रत्यक्ष में] त्वचा का सहायक है। रूप के आश्रय द्रव्यों में निश्चितरूप से रहता है। यह उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत (= न गरम, न ठंडा)- भेद से तीन प्रकार का है। इस स्पर्श के भी नित्यत्व एवं अनित्यत्व का भेद पूर्वोक्त रसगुण के समान समझना चाहिए। - (द्र. - ४/१/९; ८/२/६; २/१/१-४; ७/१/२-७)।

प्रसंगः- पत्थर में रस, गन्ध का और चाँदनी में स्पर्श का प्रत्यक्ष न होने से पूर्वसूत्र का व्याख्यान कैसे ठीक माना जाए ? इस शंका का समाधान करते हैं -

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥ (१६६)

[तस्य] उस (=उद्भूत गन्धादि) के [अभावात्] (पाषाणादि में) न होने से [अव्यभिचारः] (उक्त नियम में) कोई दोष नहीं है ।

पत्थर में जो रस और गन्ध है तथा चाँदनी में जो स्पर्श है, वह उद्भूत (=प्रकट) नहीं । यदि पत्थर में रस, गन्ध का सर्वथा अभाव होता, तो उसकी भस्म में जल डालने पर भी उपलब्धि न होती । इसलिए पूर्वोक्त नियम में कोई दोष नहीं है ॥ १० ॥

प्रसंग :- जैसे रूप, रस आदि गुणों की उपलब्धि एक-एक इन्द्रिय से होती है । क्या इसी प्रकार संख्या परिमाण आदि की उपलब्धि में भी कोई कारण कहा जा सकता है ? सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं :-

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥ ११ ॥ (१६७)

[संख्याः] (एक आदि) संख्याएँ [परिमाणानि] परिमाण (=लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई, महद्, दीर्घ आदि) [पृथक्त्वम्] पृथक्त्व (=किन्हीं वस्तुओं का अलग-अलग होना) [संयोगविभागौ] संयोग तथा विभाग [परत्वापरत्वे] दैशिक तथा कालिक परत्व और अपरत्व [कर्म] कर्म (= क्रिया गति आदि) [च] और (स्नेह, द्रवत्व, वेग तथा इन सब गुणों के जातिधर्म) [रूपिद्रव्यसमवायात्] रूप वाले द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध होने से [चाक्षुषाणि] चक्षु (=नेत्र) इन्द्रिय से उपलब्ध (=गृहीत) होने वाले हैं ।

सूत्र में 'चाक्षुषाणि' पद 'स्पार्शन (=त्वक् इन्द्रिय से गृहीत होने वाले) का उपलक्षण है । अर्थात् जिन संख्या, परिमाण आदि का चक्षु से ग्रहण होता है, उन

(संख्या, परिमाण आदि) का त्वक् से भी ग्रहण होता है । सूत्र में 'चाक्षुषाणि च' - ऐसा चकार का समायोजन करने से उक्त आशय सरलता से निकल आता है ।

यहाँ गुणों के प्रत्यक्ष का प्रकरण होते हुए भी प्रसंग की संगति से कर्म के प्रत्यक्षत्व का भी निरूपण कर दिया है ॥ ११ ॥

प्रसंग :- पूर्वसूत्रोक्त संख्या आदि के विषय में अर्थापत्ति दिखाते हैं -

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ १२ ॥ (१६८)

पूर्वसूत्र से 'संख्याः ..... च' और 'द्रव्यसमवायात्' की अनुवृत्ति है ।

[अरूपिषु] (संख्या आदि) रूपरहित द्रव्यों में समवाय-सम्बन्ध होने पर [अचाक्षुषाणि] चक्षु (= नेत्र) से उपलब्ध (= गृहीत) नहीं होते ।

रूपरहित वायु, आत्मा, मन आदि द्रव्यों के संख्या आदि गुणों एवं उत्क्षेपणादि कर्मों का ग्रहण नेत्र से नहीं होता । वह या तो त्वचा से गृहीत होता है अथवा मन से । नेत्रहीन व्यक्ति के लिए तो रूप वाले द्रव्यों में भी विद्यमान संख्या आदि नेत्र से गृहीत न होकर त्वचा आदि से गृहीत होते हैं ॥ १२ ॥

प्रसंगः- द्रव्य, गुण, कर्म के ग्रहण (= ज्ञान) के समान उनमें विद्यमान जाति का ग्रहण दिखाने के लिए सूत्रकार अतिदेशरूप में कहते हैं :-

एतेने गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥ (१६९)

[एतेन] इस (चक्षु आदि द्वारा रूपादिग्रहण के कथन) से [गुणत्वे] गुणत्व जाति के विषय में [भावे] 'सत्ता' जाति के विषय में [च] और (द्रव्यत्व, कर्मत्व जाति के विषय में) [सर्वेन्द्रियम्] (चक्षु आदि) सब इन्द्रियों से होने वाला [ज्ञानम्] प्रत्यक्ष ज्ञान [व्याख्यातम्] व्याख्यात समझना चाहिए ।

सूत्र में विद्यमान चकार से द्रव्यत्व और कर्मत्व का भी ग्रहण हो जाता है।

'येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तेनैव तद्‌गता जातिः' अर्थात् जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य, गुण या कर्म का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उस-उस व्यक्ति में रहने वाली जाति का भी ग्रहण हो जाता है। और उसी से सत्ता जाति का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् पृथिवी आदि द्रव्यों, रूप आदि गुणों या उत्क्षेपणादि कर्मों के प्रत्यक्ष में जो-जो हेतु कहे हैं, वे ही द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व अपर जातियों के प्रत्यक्ष में हैं; और इन सब द्रव्य आदि के साथ-साथ 'सत्ता'-रूप परजाति का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार 'सत्ता' जाति भी सर्वेन्द्रियग्राह्य है ॥ १३ ॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

अथ गुणपदार्थनिरूपणे

१(१४) - गुणसाधर्म्यप्रकरणम्

साधर्म्य-वैधर्म्य से द्रव्य-पदार्थ के निरूपण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त गुणों का भी साधर्म्य-वैधर्म्य से निरूपण करने के लिए, पहले रूपादि चौबीस गुणों में परस्पर यथासम्भव साधर्म्य (=समानधर्मता) बताते हुए भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं -

(प्रश.) : रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम् ।

रूप, रस इत्यादि सम्पूर्ण चौबीस गुणों के १. गुणत्व जाति के समवाय-सम्बन्ध से युक्त होना, २-द्रव्यों के आश्रित रहना, ३ - निर्गुणता (= गुणों से रहित होना), तथा ४ - क्रियाओं से रहित होना (ये चार) साधर्म्य हैं ।

अब गुणों में ही परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण करते हुए भाष्यकार विस्तार से लिखते हैं -

(प्रश०) :- रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्त्तगुणाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अमूर्त्तगुणाः ।

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणाः ।

संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः ।

शेषास्त्वेकवृत्तयः ।

रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छा द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा वैशेषिकगुणाः ।

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वपरत्वगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाः सामान्यगुणाः ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः ।

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वस्नेहवेगा द्वीन्द्रियग्राह्याः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः ।

गुरुत्वधर्माधर्मभावना ह्यतीन्द्रियाः ।

अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः कारणगुणपूर्वकाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अकारणगुणपूर्वकाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दतूलपरिमाणोत्तरसंयोगनैमि-त्तिकद्रवत्वपरत्वापरत्वपाकजाः संयोगजाः ।

संयोगविभागवेगाः कर्मजाः ।

शब्दोत्तरविभागौ विभागजौ ।

परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादयो बुद्ध्यपेक्षाः ।

रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शशब्दपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वस्नेहाः समानजात्यारम्भकाः ।

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चासमानजात्यारम्भकाः ।

संयोगविभागसङ्ख्यागुरुत्वद्रवत्वोष्णस्पर्शज्ञानधर्माधर्मसंस्काराः समानासमानजा त्यारम्भकाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाःस्वाश्रयसमवेतारम्भकाः ।

रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणस्नेहप्रयत्नाःपरत्रारम्भकाः ।

संयोगविभागसङ्ख्यैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्ववेगधर्माधर्मास्तूभयत्रारम्भकाः ।

गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः क्रियाहेतवः ।

रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दानामसमवायिकारणत्वम् ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनानां निमित्तकारणत्वम् ।

संयोगविभागोष्णस्पर्शगुरुत्वद्रवत्ववेगानामुभयथा कारणत्वम् ।

परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादीनामकारणत्वम् ।

संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तित्वम् ।

शेषाणामाश्रयव्यापित्वम् ।

अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वसांसिद्धिकद्रवत्वगुरुत्वस्नेहानां यावद्द्रव्यभावित्वम् ।

शेषाणामयावद्द्रव्यभावित्वञ्चेति ॥

गुणों का विभाजन करते हुए पहले मूर्त्तद्रव्यों में रहने वाले गुण गिनाते हैं -

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग (नामक संस्कार) - ये दस 'मूर्त्तगुण' (= मूर्त्तद्रव्यों में ही रहनेवाले गुण) हैं। इनमें से रूप, स्पर्श, परत्व, अपरत्व और वेग (नामक संस्कार) ये पाँच गुण मिलकर पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में ही रहते हैं। इन पाँच में से रूप को छोड़कर

शेष चार गुण वायु द्रव्य में रहते हैं। इन्हीं पाँच में से रूप और स्पर्श को छोड़कर शेष तीन गुण मन में रहते हैं। रस और गुरुत्व गुण पृथिवी और जल इन दोनों द्रव्यों में ही रहते हैं। द्रवत्वगुण पृथिवी, जल और तेज (द्र.२/१/७) इन तीन द्रव्यों में ही रहता है। स्नेह गुण केवल जल में और गन्ध गुण केवल पृथिवी में ही रहता है।

अब अमूर्त्त द्रव्यों में रहने वाले गुण बताते हैं -

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द - ये दस 'अमूर्तगुण' (= अमूर्त्त द्रव्यों में ही रहने वाले गुण) हैं। इनमें बुद्धि से लेकर भावना तक ९ आत्मा के गुण हैं और 'शब्द' आकाश का गुण है।

अब मूर्त और अमूर्त्त दोनों में रहनेवाले गुण बताते हैं -

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच 'उभयगुण' (= मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों में रहने वाले गुण) हैं। - (द्र.-४/१/११, १२)।

अब अनेक द्रव्यों में रहने वाले गुण गिनाते हैं -

संयोग, विभाग, द्वित्व और द्विपृथक्त्वादि गुण 'अनेकाश्रित' (= अनेक द्रव्यों में रहने वाले) हैं। 'आदि' पद से 'त्रित्व' एवं त्रिपृथक्त्वादि गुण समझने चाहिए, जो बहुत से द्रव्यों में रहते हैं। अनेकाश्रितत्व यहाँ व्यक्ति की अपेक्षा से है, जाति की अपेक्षा से नहीं; जाति की अपेक्षा से अनेकत्व मानने पर रूपादि में भी अतिव्याप्ति होगी।

अब परिशेष न्याय से एक-एक द्रव्य-व्यक्ति में रहनेवाले गुण बताते हैं -

शेष सभी गुण (रूप, रस, गन्ध आदि) एक-एक द्रव्य में रहते हैं। संयोग आदि के समान अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा नहीं करते।

अब विशेष गुणों का वर्णन करते हैं -

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना (-संस्कार) और शब्द - ये (सोलह) विशेष (= अन्यों से भिन्नता प्रकट करने वाले) गुण हैं।

अब सामान्य गुणों को बताते हैं -

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व और वेग (-संस्कार) - ये (दस) सामान्य (-अपने आश्रयों को अन्यों से भिन्न रूप में न समझा सकने वाले) गुण हैं। [क्योंकि किसी द्रव्य की एक संख्या दूसरे द्रव्य की उसी संख्या से विशेष नहीं। यथा घड़ों का त्रित्व जीवात्माओं की त्रित्व संख्या से भिन्न नहीं है।]

(अब एक - एक इन्द्रिय से ग्राह्य विषय गिनाते हैं -) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध - इन पाँच गुणों में से प्रत्येक गुण एक-एक बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होता है। बाह्य विषयों को ही प्रकाशित करने से श्रोत्र, त्वक्, चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय हैं। शब्दादि एक - एक ही श्रोत्रादि इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। इनका एकेन्द्रिय - ग्राह्यत्व साधर्म्य है।

(अब दो इन्द्रियों से ग्राह्य गुण बताते हैं) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग (-संस्कार) - ये नौ गुण दो इन्द्रियों (=चक्षु और त्वक्) से प्रत्यक्ष होते हैं। इनका द्वीन्द्रियग्राह्यत्व साधर्म्य है।

अब अन्तःकरण से ग्राह्य गुण गिनाते हैं -

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न - ये छह गुण अन्तःकरण (= मन) से ज्ञात होते हैं। इनका अन्तःकरणग्राह्यत्व साधर्म्य है। (द्र०-४/१/१०)।

अब अतीन्द्रिय गुण गिनाते हैं -

गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना (-संस्कार) - ये चार गुण निश्चित रूप से इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होते । अर्थात् इनका अतीन्द्रियत्व साधर्म्य है ।

अब कारणगुणपूर्वक गुण बताते हैं -

अपाकज (= अग्नि के संयोग से न बदलने वाले) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं वेगसंस्कार (-ये ग्यारह गुण) 'कारणगूणपूर्वक' अर्थात् अपने आश्रय द्रव्य के समवायि-कारण (=अवयवों) में रहने वाले गुणों से उत्पन्न होते हैं । [अपाकज कहने से पकने के पश्चात् घट, ईट का (श्यामवर्ण से रक्तवर्ण का) रूप आम आदि का हरित वर्ण से पीत वर्ण हो जाना एवं अम्ल रस से मधुर रस हो जाना कारणगुणपूर्वक नहीं हैं ।]

अब अकारणगुणपूर्वक गुण बताते हैं -

बुद्धि (= ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनासंस्कार और शब्द -ये दस गुण 'अकारणगुणपूर्वक' अर्थात् अपने आश्रय द्रव्यों के निरवयव होने से उनके अवयवों के गुणों से उत्पन्न गुण नहीं हैं । [इनमें से प्रथम नौ गुण आत्मा (= जीवात्मा) के तथा शब्द गुण आकाश का है।]

अब संयोगज गुण गिनाते हैं -

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना-संस्कार, शब्द, रुई (-आदि) का परिमाण, उत्तरदेश के साथ संयोग, नैमित्तिकद्रवत्व, परत्व, अपरत्व तथा पाकज (= अग्नि के संयोग से बदलने वाले रूपादि) -ये १६ गुण संयोग से उत्पन्न होते हैं । [जैसे - बुद्धि से लेकर भावना तक नौ गुण आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं, आकाश का गुण शब्द भेरी-दण्ड-आकाश के संयोग से ध्वनिरूप तथा कण्ठ-तालु आदि के संयोग से वर्णरूप शब्द उत्पन्न होता है, प्रचय नामक संयोग से तूल आदि का परिमाण, उत्तरसंयोग (अर्थात् हस्तपुस्तक-संयोग से

शरीर पुस्तक संयोग आदि), अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व, द्रव्यों के साथ दिशा एवं काल के संयोग से दैशिक तथा कालिक परत्व-अपरत्व होते हैं, विशेष प्रकार के अग्निसंयोग से पार्थिव परमाणुओं के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श का परिवर्तित स्वरूप पाकज गुण हैं। - ये इतने ही संयोगज गुण हैं। किन्तु ये गुण संयोगज ही नहीं हैं; क्योंकि शब्द गुण विभागज एवं शब्दज भी होता है।]

अब कर्मज गुण बताते हैं -

संयोग, विभाग और वेगसंस्कार - ये तीन गुण क्रिया से उत्पन्न होते हैं। (द्र.१/१/२०, ३०) [ये ही तीन गुण क्रिया से उत्पन्न होते है। परन्तु ये गुण क्रिया से ही उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि संयोग से भी संयोग, विभाग से भी विभाग एवं वेग से भी वेग उत्पन्न होता है।]

अब विभागज गुण गिनाते हैं -

शब्द और उत्तर (= विभागज) विभाग ये दो गुण (विभागाज्ञातौ विभागजौ=) विभाग से उत्पन्न होते हैं। [ये ही दो विभागज गुण हैं; किन्तु ये गुण विभागज ही नहीं है, अपितु शब्द गुण संयोग से एवं शब्द से भी उत्पन्न होता है।]

अब बुद्धिसापेक्ष गुण बताते हैं -

[देश एवं काल की दृष्टि से] परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व आदि गुण बुद्धिसापेक्ष हैं, अर्थात् इन सब की उत्पत्ति में बुद्धि निमित्तकारण है। आदि पद से त्रित्व एवं त्रिपृथक्त्व आदि समझने चाहिए।

अब समानजातीय एवं असमानजातीय कार्यों के उत्पादक गुण गिनाते हैं -

रूप, रस, गन्ध, उष्ण से भिन्न स्पर्श, शब्द, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व और स्नेह - ये नौ गुण अपने-अपने समानजातीय गुणों के ही उत्पादक होते हैं।

अर्थात् कारणरूप से कार्यरूप, कारणरस से कार्यरस इत्यादि।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये पाँच गुण अपने से भिन्नजातीय गुणों के उत्पादक हैं। जैसे कि सुख इच्छा का (द्र.६/२/१०) दुःख द्वेष का (द्र.६/२/१०) इच्छा और द्वेष दोनों ही प्रयत्न के, प्रयत्न क्रिया (= कर्म) का उत्पादक होता है। (द्र.६/२/१४)

संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्ण स्पर्श, ज्ञान, धर्म, अधर्म एवं संस्कार - ये दस गुण समानजातीय एवं असमानजातीय कार्यों को उत्पन्न करते हैं। जैसे - संयोग से संयोग तथा विजातीय द्रव्य, शब्द, बुद्धि आदि (द्र.१/१/२७; २/२/३१; ७/२/९); विभाग से विभाग एवं विजातीय शब्द गुण (द्र.२/२/३१; ७/२/१०); संख्या से संख्या तथा विजातीय परिमाण; गुरुत्व से गुरुत्व एवं विजातीय पतन; द्रवत्व से द्रवत्व एवं विजातीय स्यन्दन (=प्रस्रवण); उष्णस्पर्श से उष्णस्पर्श एवं विजातीय पाकज रूप, रस आदि; ज्ञान से ज्ञान एवं विजातीय गुण इच्छा, भावनासंस्कार आदि; धर्म से धर्म तथा विजातीय सुख; अधर्म से अधर्म एवं विजातीय दुःख, संस्कार से संस्कार एवं विजातीय स्मृति उत्पन्न होती है।

अब स्वाश्रय में सम्बद्ध कार्य के उत्पादक गुण गिनाते हैं - बुद्धि (=ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना और शब्द ये सात गुण अपने आश्रय में समवाय - सम्बन्ध से रहने वाले कार्यों को उत्पन्न करते हैं। जैसे - आत्मा में विद्यमान ज्ञान उसी में संस्कार को उत्पन्न करता है; आत्मा में ही विद्यमान सुख उसी में राग/इच्छा को उत्पन्न करता है; उसी में दुःख द्वेष को; उसी में भावना स्मृति को उत्पन्न करती है। आकाश में विद्यमान शब्द उसी में शब्द को उत्पन्न करता है। इनके अतिरिक्त वक्ष्यमाण धर्माधर्म भी आत्मा में धर्माधर्म को उत्पन्न कर देते हैं।

अब अपने आश्रय से भिन्न आश्रय में सम्बद्ध कार्य के उत्पादक गुण गिनाते हैं -

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह और प्रयत्न ये सात गुण अपने आश्रय से भिन्न आश्रयों में कार्यों के उत्पादक हैं। जैसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परिमाण और स्नेह गुण अपने कारणों में विद्यमान रहते हुए कार्यों में रूपादि को उत्पन्न करते हैं। प्रयत्न गुण आत्मा में रहता हुआ, हाथ, पैर इत्यादि में क्रिया को उत्पन्न करता है।

अब स्वाश्रय में एवं भिन्न आश्रय में कार्य के उत्पादक गुणों को गिनाते हैं -

संयोग, विभाग, संख्या, एकपृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म और अधर्म - ये नौ गुण अपने आश्रय में तथा भिन्न आश्रय में कार्यों के आरम्भक होते हैं। जैसे - भेरी और आकाश का संयोग, आकाश में ही शब्द को उत्पन्न करता है, किन्तु भेरीदण्डसंयोग आकाश में शब्द को उत्पन्न करता है। एवं तन्तुसंयोग तन्तुओं में ही पटरूप कार्य को, किन्तु विषयेन्द्रिय-संयोग अन्यत्र (=आत्मा में) ज्ञान को उत्पन्न करता है। बाँस के दो दलों के आकाश का विभाग अपने आश्रय आकाश में शब्द को तथा बांस दो विभक्त टुकड़ों का विभाग अन्यत्र आकाश में शब्द को उत्पन्न करता है। अवयवों की संख्या स्वाश्रय-अवयवों में द्वित्वादि संख्या को तथा अन्यत्र अवयवी में एकत्व संख्या को उत्पन्न करते हैं। अवयव का एकपृथक्त्व अपने आश्रय में द्विपृथक्त्वादि को तथा अवयवों में रहने वाला एकपृथक्त्व (अपने आश्रय से भिन्न) अवयवी में एक पृथक्त्व को उत्पन्न करता है। गुरुत्व, द्रवत्व और वेग स्वाश्रय में पतन, स्यन्दन और तीर आदि में उत्तर क्रिया को तथा कारण में विद्यमान ये गुण कार्य में भी गुरुत्व, द्रवत्व और वेग को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार धर्म एवं अधर्म अपने आश्रय आत्मा में क्रमशः सुख-दुःख को तथा अपने आश्रय से भिन्न अग्नि आदि में ऊर्ध्वज्वलन आदि क्रिया को भी उत्पन्न करते हैं। - (द्र.५/२/१३)

अब क्रिया के हेतुरूप गुणों को गिनाते हैं -

गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और अभिघात नामक संयोगविशेष - ये सात गुण क्रिया के कारण हैं। जैसे - गुरुत्व से पतन (= गिरना); द्रवत्व से

स्यन्दन (= रिसना); वेग (-संस्कार) से तीर आदि में उत्तर क्रिया; प्रयत्न से हस्तपादादि- शरीर-क्रिया; धर्म एवं अधर्म (-रूप अदृष्ट) से अग्नि आदि में ऊर्ध्वज्वलन आदि क्रियाएँ; [संयोग एव विशेषः > संयोगविशेषः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार नोदन एवं अभिघातरूप] संयोगविशेष से भी शरीर आदि में क्रियाएँ होती हैं। इन गुणों में क्रिया का कारण होना साधर्म्य है।

अब असमवायिकारणरूप गुणों को गिनाते हैं -

रूप, रस, गन्ध, अनुष्णस्पर्श, संख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह और शब्द - इन नौ गुणों का असमवायिकारणत्व साधर्म्य है। **समवायिकारण में समवाय - सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर जो कार्य के गुण का कारण बनता है वह 'असमवायिकारण' कहाता है।** जैसे - वस्त्र के समवायिकारण धागे में विद्यमान श्वेतरूप, कार्यभूत वस्त्र के श्वेतरूप का असमवायिकारण होता है। इसी प्रकार अन्यों में समझें।

अब निमित्तकारणरूप गुणों को बताते हैं -

बुद्धि (=ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना-संस्कार - इन नौ गुणों का परस्पर निमित्तकारणता-साधर्म्य ही है (असमवायिकारणता नहीं)। - (द्र. १/१/१९)

अब कुछ गुणों का उभयथा कारणत्व बताये हैं -

संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व और वेगसंस्कार इन छह गुणों में उभयथा (= असमवायिकारणत्व एवं निमित्तकारणत्वरूप कारणता का साधर्म्य है। जैसे कि - भेरी और आकाश का संयोग शब्द का असमवायिकारण तथा भेरी और दण्ड का संयोग शब्द का ही निमित्तकारण है। बाँस के दल और आकाश का विभाग शब्द का असमवायिकारण एवं बाँस के दोनों दलों का विभाग शब्द का निमित्तकारण है। कारणगत उष्णस्पर्श कार्यगत उष्णस्पर्श का असमवायिकारण एवं

पाकज रूप, रसादि का निमित्तकारण भी है । 'गुरुत्व' अपने आश्रय की पतन क्रिया का असमवायिकारण एवं नोदन तथा अभिघातज क्रिया का निमित्तकारण भी है । 'द्रवत्व' जल आदि के स्यन्दन में असमवायिकारण एवं मृत्कणादि के संग्रह में निमित्तकारण है । इसी प्रकार 'वेगसंस्कार' गमन में असवायिकारण एवं अभिघात में निमित्तकारण है ।

अब कुछ अकारणरूप गुणों का निर्देश करते हैं -

परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि गुणों का परस्पर अकारणता साधर्म्य है । अर्थात् ये परत्वादि गुण न तो किसी के 'असमवायिकारण' होते हैं, न 'निमित्तकारण' ('समवायिकारण' तो द्रव्य से भिन्न कोई होता ही नहीं)। भाष्य के 'आदि' पद से त्रिपृथक्त्व, परमाणुओं का परिमाण एवं परममहत्परिमाण आदि का ग्रहण समझना चाहिए ।

अब अव्याप्यवृत्ति गुणों को गिनाते हैं -

संयोग, विभाग, शब्द एवं आत्मा के ज्ञान आदि विशेष गुणों का आश्रय में अव्याप्यवृत्तिता (=व्याप्त होकर न रहना) साधर्म्य है । [प्रदेशवृत्तित्व का व्याख्यान अव्याप्यवृत्ति किया है, जिससे प्रदेशरहित = अवयवरहित = निरवय आत्मा में भी संगति लग सके ।]

अब आश्रयव्यापि गुण बताते हैं -

अवशिष्ट (= रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग और स्थितिस्थापकसंस्कार, परत्व तथा अपरत्व - इन) गुणों का अपने आश्रय द्रव्य में व्याप्त होकर रहना साधर्म्य है ।

अब यावद्द्रव्यभावि गुण गिनाते हैं -

अपाकज (= अग्नि के संयोग से न वदलने वाले) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, सांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व और स्नेह - इन दस गुणों का आश्रय द्रव्य के रहने पर्यन्त रहना (=अर्थात् आश्रय के नष्ट होने पर ही नष्ट होना) साधर्म्य है ।

अव अयावद्द्रव्यभावि गुण वताते हैं -

पूर्वोक्त अपाकज रूपादि से अवशिष्ट सभी गुणों का 'अयावद्द्रव्यभावित्व' (= आश्रयद्रव्य के नष्ट न होने पर भी नष्ट हो जाना) साधर्म्य है । अर्थात् पाकज रूप, रसादि एवं द्वित्व आदि संख्या, द्वित्पृथक्त्वादि, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, [आत्मा के गुण] बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना संस्कार, धर्म, अधर्म, एवं नैमित्तिक - द्रवत्व और शब्द - ये गुण अयावद्द्रव्यभावी हैं; अर्थात् द्रव्य के विद्यमान रहते हुए भी नष्ट हो जाते हैं । इति = इस प्रकार गुणों का साधर्म्य-प्रकरण पूरा हुआ ॥

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रसंगः- कारणद्रव्य की परीक्षा करके, अब कार्य द्रव्य की परीक्षा करते हैं -

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥ (१७०)

[तत्] वह [पृथिव्यादिकार्यद्रव्यम्] पृथिवी, जल आदि कार्यद्रव्य [पुनः] फिर [शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्] शरीर, इन्द्रिय और विषय नामवाला [त्रिविधम्] तीन प्रकार का है ।

१. शरीर :- मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी जीवधारियों के देह शरीर कहे जाते हैं, जो भोगायतन (=भोगों के आधार) तथा चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों के

आश्रय हैं । अर्थात् सुखःदुःखरूप भोग; लाभ-हानि को विचार कर प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप चेष्टा; चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द - ये अर्थ (= पृथिवी आदि के गुण) सब शरीर के आश्रय से रहते हैं । शरीर का संक्षेप में है - 'भोक्तुर्भोगायतनं शरीरम्' । स्थूलशरीरकी दृष्टि से - 'अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयः शरीरम्' ।

[यद्यपि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों में भी जल की अधिकता (३/४) होती है, पुनरपि पार्थिव गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण पाये जाने से हम उन्हें पार्थिव कहते हैं । इसी प्रकार जल में ही जीवित रहने वाले जलचर (मछली, काई, अमीबा आदि) को जलीय शरीर; मानव, पशु आदि प्राणियों के लिए असह्य उष्णता (150°c..तक) में भी जीवित रह सकने वाले सूक्ष्म जीवाणु (वायरस) को आग्नेय शरीर, एवं वायु में विचरण करने वाले (तैरते रहने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं को वायव्य कह सकते हैं । वस्तुतः यह तैजसादि शरीरों की चर्चा कल्पनामूलक है । [विभिन्न जीवाणु शत्रु (= विभिन्न रोगों को फैलाने वाले प्राणघातक) एवं मित्र (= अन्य प्राणियों के हितकारक, भूमि की उर्बरकता बढ़ाने वाले, खमीर, दही आदि बनाने वाले) होते हैं ।]

२. **इन्द्रियः** - घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र - ये पाँच इन्द्रिय शरीर में आश्रित रहते हैं; जो क्रमशः पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय तथा आकाशरूप माने जाते हैं ।

३. **विषय** :- शरीर और इन्द्रियों को छोड़कर (परमाणुओं से बनी) प्रत्येक वस्तु विषय हैं । ये विषय पृथिवी आदि भूतों और इनके विकारों के रूप में मिलते हैं ।

इन तीनों में से 'शरीर' आत्मा का भोगायतन (=भोग का आधार), 'इन्द्रिय'

भोग के साधन, और 'विषय' सब भोग हैं। यद्यपि 'शरीर' एवं 'इन्द्रिय' भी विषय कहे जा सकते हैं; पुनरपि तत्त्व-विवेचन की सुविधा से विभाग की कल्पना कर ली है ॥ १ ॥

प्रसंग :- पृथिवी आदि कार्य द्रव्य क्या पाँचों भूतों से एक-एक बनता है, अथवा केवल अकेला ही है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥ (१७१)

[प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम्] प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों के [संयोगस्य] संयोग के [अप्रत्यक्षत्वात्] प्रत्यक्ष न होने से [पञ्चात्मकम्] (पृथिवी आदि एक-एक कार्य द्रव्य) पाँच भूतों से बना हुआ [न] नहीं [विद्यते] है।

यदि पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, अन्य चार द्रव्यों का भी संयोग होता; तो वह पृथिवी या तो प्रत्यक्ष ही न होती अथवा कुछ प्रत्यक्ष होती और कुछ अप्रत्यक्ष। किन्तु वह प्रत्यक्ष होती है, इसलिए पृथिवी को पञ्चभूतात्मक नहीं कह सकते। इसी प्रकार जल और तेज को समझना चाहिए, कि ये भी पाँचों के मिश्रण से नहीं बने ॥ २ ॥

प्रसंग :- अच्छा ! पञ्चात्मक न सही, त्र्यात्मक मान लो। अर्थात् पृथिवी आदि प्रत्यक्ष द्रव्य तीनों के मिश्रण से बने हैं। इस शंका का समाधान करते हैं -

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥ ३ ॥ (१७२)

[गुणान्तराप्रादुर्भावात्] अन्य गुणों का प्रादुर्भाव न होने से [त्र्यात्मकम्] (पृथिवी आदि कार्य द्रव्य) तीन के संयोग से बना हुआ [च] भी [न] नहीं है।

यदि पृथिवी आदि कार्य द्रव्य (५ या) तीन के संयोग से बने होते, तो अवश्य ही उनमें नए गुण पाए जाते । जैसा कि हल्दी और चूने के मिलने से हल्दी का रंग लाल हो जाता है । परन्तु पृथिवी आदि में कोई ऐसा नया गुण नहीं पाया जाता । अतः पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों का त्र्यात्मक (या पञ्चात्मक) नहीं कह सकते । तथा पृथिवी, जल और अग्नि इन तीनों के गुण भी किसी एक द्रव्य में नहीं पाए जाते ॥ ३ ॥

प्रसंग :- यदि पृथिवी में गन्ध गुण से भिन्न गुण न पाये जाने से वह एकात्मक ही है, तो फिर उसमें गीलापन जल का, पकना अग्नि का, उड़ाना वायु का और अवकाश आकाश का गुण क्यों पाया जाता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ४ ॥ (१७३)

अणुसंयोगः (विजातीय) अणुओं का संयोग (=सहयोगी संयोग) [तु] तो [अप्रतिषिद्धः] (वैशेषिक शास्त्र के मत में) प्रतिषिद्ध नहीं है ।

हमने पहले जो एक-एक को पञ्चात्मक या त्र्यात्मक होने का निषेध किया है, उसका तात्पर्य अणुओं के (सहयोगी) संयोग का निषेध करना नहीं है ।

अतः भोजन, फल, शाक, शरीर, वृक्ष आदि में जब विविध अणुओं का संयोग हो जाता है, तब उसमें जल के कारण गीलापन, अग्नि से गर्मी, वायु से क्रिया, आकाश से अवकाशदान आदि गुण पाये जाते हैं ।

विशेष :- शरीर के अन्दर विविध रासायनिक परिवर्तनों के देखने से, इन विविध अणुओं के संयोग को शरीर आदि का 'असमवायिकरण' कहा जा सकता है और उन अणुओं को 'समवायिकारण' ।

परन्तु अधिकांश भाष्यकारों ने जो अणुओं के संयोग को 'असमवायिकारण'

न मानकर 'निमित्तकारण' (= उपष्टम्भक = सहयोगिसंयोग) माना है, तथा कुछ ने पार्थिव घट के निर्माण में जल आदि के उपष्टम्भकत्व (= सहयोगिसंयोग) का उदाहरण दिया है । वह विचारणीय (=चिन्त्य) प्रतीत होता है । क्योंकि घट आदि वस्तुओं में तो शरीर के समान गीलापन, उष्णता व पाक, प्राणापान व गति, अवकाशदान आदि गुण नहीं पाए जाते । अतः वह तो स्पष्ट ही पार्थिव है । अतः यह असत् हेत्वाभास प्रतीत होता है ।

फिर भी यदि शरीर आदि को पृथिवी तत्त्व की अधिकता (=प्रधानता) के कारण पार्थिव (=ऐकभौतिक) कहें, तो कोई हानि नहीं ।

और पिछले दो सूत्रों में शरीर का तो नाम ही नहीं लिया गया, पुनरपि अन्य आचार्यों के मत को कणाद पर थोपना युक्तिसंगत नहीं दीखता । जबकि वे स्वयं शरीर को ऐकभौतिक नहीं कह रहे ।। ४ ।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार शरीर के भेदों का वर्णन करते हैं -

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ।। ५ ।। (१७४)

[तत्र] उन (= शरीर, इन्द्रिय और विषय) में से [शरीरम्] शरीर [द्विविधम्] दो प्रकार का है - [योनिजम्] योनिज [च] और [अयोनिजम्] अयोनिज ।

माता-पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला योनिज और बिना माता-पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला अयोनिज कहलाता है ।

योनिज शरीर दो प्रकार के होते हैं :-

(क) जरायुज - जिन मनुष्य, पशु आदि का गर्भस्थ शरीर भिल्ली में लिपटा होता है, उन्हें 'जरायुज' कहते हैं ।

(ख) अण्डज - जिन पक्षियों और सरीसृपों (= भूमि पर सरकने वालों) का जन्म विविध प्रकार के अण्डों से होता है, उन्हें 'अण्डज' कहते हैं ।

अयोनिज के भी अनेक भेद हैं । यथा -

(क) **सांकल्पिक** - सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने वाले ऋषि, मुनि, साधारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीर ।

(ख) **ऊष्मज** :- डांस, मच्छर, जुँए आदि के शरीर, जो ऊष्मा, शीलन वा पसीने आदि से उत्पन्न होते हैं; वे 'ऊष्मज' या 'स्वेदज' कहाते हैं ।

(ग) **उद्भिज्जः**- वृक्ष, वनस्पति, गुल्म, लता, घास आदि जो भूमि को फाड़कर उत्पन्न होते हैं, वे शरीर 'उद्भिज्ज' कहाते हैं ।

कुछ विचारकों का मत है, कि बीज का भ्रूण ही गर्भ है, अतः 'उद्भिज्जों' को 'योनिज' कहा जा सकता है । यह अपनी-अपनी समझ पर निर्भर करता है ॥ ५ ॥

प्रसंग :- अब अयोनिज शरीरों की उत्पत्ति का कारण बताते हैं -

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥ ६ ॥ (१७५)

यहाँ दसवें सूत्र से 'सन्त्ययोनिजाः' का उत्कर्ष है ।

[अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्] दिशा (= प्रक्रिया, पद्धति, रीति) और देश के नियत (= पूर्व से निश्चित) न होने से (अयोनिज शरीर भी हैं) ।

प्रलय काल में किसी जीव के शरीर शेष नहीं रहते । कोई योनि (= शरीर) शेष न रहने से वह सृष्टि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता से कुशलतापूर्वक होती है ।

रज, वीर्य में विद्यमान शरीर के उत्पादक अणुओं का संयोग जैसे गर्भाशय में होता है, वैसा आदिसर्ग में भूतलादि पर ही हो जाता है । अर्थात् योनिज उत्पत्ति की व्यवस्थाओं और स्थान की अयोनिज उत्पत्ति में उपेक्षा होती है । अतः दिग्देश

के नियत न होने से ये शरीर अयोनिज कहाते हैं ॥ ६ ॥

प्रसंग :- यदि आदि सृष्टि परमात्मा के संकल्प से होती है, तो सभी शरीर एक से क्यों नहीं होते, इस विलक्षण (=विचित्र) सृष्टि का क्या कारण है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

धर्मविशेषाच्च ॥ ७ ॥ (१७६)

यहाँ भी पूर्ववत् 'सन्त्ययोनिजाः' का उत्कर्ष है ।

[धर्मविशेषात्] धर्मविशेष (=शुभकर्मों) से [च] और {अधर्मविशेष (=अशुभकर्मों) से भी} (अयोनिज शरीर होते हैं) ।

सृष्टि के आरम्भ में जो जीव भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण करते हैं; उनके पूर्वकल्प के धर्मविशेष और अधर्मविशेष के कारण ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के विलक्षण शरीर उत्पन्न होते हैं । केवल अनियत दिग्देश ही कारण नहीं होते ।

उनमें से उत्कृष्ट धर्म से सर्गारम्भ में देवर्षि आदि के शरीर और उत्कृष्ट अधर्म से दंश, मशक आदि के शरीर सभी कालों में बनते हैं ।

यह धर्माधर्म का लेखा-जोखा ईश्वर के अधीन रहता है । वह कर्मानुसार शरीर बनाता है; क्योंकि अशरीरावस्था में आत्माओं के भोग और प्रयत्न सम्भव नहीं ॥ ७ ॥

प्रसंगः- सृष्टि के आरम्भ में शरीरों के अयोनिज होने का अन्य हेतु देते हैं -

समाख्याभावाच्च ॥ ८ ॥ (१७७)

यहाँ भी पूर्ववत् 'सन्त्ययोनिजाः' का उत्कर्ष है ।

[समाख्याभावात्] संज्ञा (= योगिक = अन्वर्थक नाम) होने से [च] भी (अयोनिज शरीर सिद्ध होते हैं) ।

अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, स्वयम्भु, मनु, ब्रह्मा आदि यौगिक (= अन्वर्थक = सार्थक) नामों के होने से; जो कि सर्गारम्भ में परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा से निर्दिष्ट हुए; यह सिद्ध होता है, कि इन व्यक्तियों के शरीर माता-पिता के बिना अयोनिज थे ।

माता-पिता के बिना सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की प्रेरणा से नाम रखे गये; इस बात का संकेत **'संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्'** (२/१/१८) से भी मिलता है ॥ ८ ॥

प्रसंग :- पूर्वोक्त बात को अन्य हेतु द्वारा स्पष्ट करते हैं -

संज्ञाया आदित्वात् ॥ ९ । (१७८)

यहाँ भी पूर्ववत् 'सन्त्ययोनिजाः' का उत्कर्ष है ।

[संज्ञायाः] नाम के [आदित्वात्] सर्वप्रथम होने से (ज्ञात होता है, कि उन नामों वाले शरीर अयोनिज थे ।)

अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, स्वयम्भु, भृगु, मनु, पुरुष, स्त्री आदि नाम सबसे पहले के पाऐ जाते हैं । उनसे पूर्व उनके माता-पिता का नाम नहीं पाया जाता । इससे सिद्ध होता है, कि इनके शरीर अयोनिज (=बिना माता-पिता से उत्पन्न) थे ॥ ९ ॥

प्रसंग - प्रकरण का निगमन करते हुए सूत्रकार कहते हैं :-

सन्त्ययोनिजाः ॥ १० ॥ (१७९)

[अयोनिजाः] (उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है, कि) अयोनिज शरीर [सन्ति] हैं ।

छठे सूत्र से नवें सूत्र तक के हेतुओं से सिद्ध हो जाता है, कि अयोनिज (=

बिना माता-पिता से उत्पन्न) शरीर भी होते हैं; जो कि आत्माओं के सुख-दुःख आदि भोगों के आयतन तथा विविध चेष्टा एवं इन्द्रियों के आश्रय माने जाते हैं। इन शरीरों के बिना आत्माओं को सांसारिक सुख-दुःखादि की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १० ॥

प्रसंग :- अन्त में वैदिक प्रमाणों से पुष्टि करते हुए, सूत्रकार इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं -

वेदलिङ्गाच्च ॥ ११ ॥ (१८०)

[वेदलिङ्गात्] वेद के (और वेदमूलक शास्त्रों के) प्रमाणों से [च] भी (अयोनिज शरीर सिद्ध होते हैं)।

वेद तथा वेदमूलक शास्त्रों के प्रमाणों से भी यह सिद्ध होता है, कि अयोनिज शरीर भी होते हैं। जैसे :-

'यो देवानां नामधाः - (ऋ. १०/८२/३)

'तेन चाक्लृपे ऋषयो मनुष्याः' - (ऋ. ८/७/१८५)

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ - (मनु. १/२१) ।

समस्त वेदों के पुरुषसूक्त - ऋ. - १०/९०; यजु.-३१; साम.६१७; अथर्व.-१९/६/-आदि ॥ ११ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

॥ समाप्तश्चायं चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग :- द्रव्यों की परीक्षा के पश्चात् गुणों की परीक्षा का क्रम होते हुए भी, अल्पपरीक्ष्य होने के कारण कर्मों की परीक्षा करते हुए उत्क्षेपण को लक्ष्य करते हुए कहते हैं :-

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥ (१८१)

[आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां] (हाथ के साथ) आत्मा के संयोग और प्रयत्न से [हस्ते] हाथ में [कर्म] (उत्क्षेपणादि) कर्म (उत्पन्न होता है) ।

हाथ में उत्क्षेपणादि कर्म होने के लिए पहले आत्मा में इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह मन को प्रेरित करता है और मन हाथ को प्रेरित करता है । मन से संयुक्त और प्रेरित होकर हाथ उठने या उछलने का काम करने लगता है । क्योंकि आत्मा अणु और सूक्ष्म है, तथा मस्तिष्कस्थ हृदय में रहता है । अतः उसका हाथ से साक्षात् संयोग नहीं हो सकता । इसलिए मन के माध्यम से ही आत्मा का संयोग और प्रयत्न हाथ आदि के साथ समझने चाहिए ।

हाथ के कर्म से ही मुख, पैर आदि का अथवा सारे शरीर का कर्म समझना चाहिए ।

इसी भावना को आचार्यों ने इस प्रकार व्यक्त किया है -

आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः ।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा तज्जन्यैव क्रिया भवेत् ॥

पहले आत्मा में कर्म करने की इच्छा, इच्छा से मन को कर्मानुकूल प्रेरणा 'प्रयत्न' उस प्रयत्न वाले आत्मा और मन का हाथ आदि से संयोग तथा प्रवृत्ति होकर हाथ का ऊपर उठना आदि क्रिया होती है ।

इसी को शब्दभेद से वर्णोच्चारणशिक्षा में समझाया है -

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनःकायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ।। - (वर्णो० ४) ।

अर्थात् जीवात्मा (=चितिशक्ति) बुद्धिद्वारा अर्थों को संगत (=प्राप्त) करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता है; मन जाठराग्नि (=उदरस्थ अग्नि) को ताडित करता (=धक्का देता) है; वह जाठराग्नि प्राणवायु को प्रेरणा करता (= गतिमान करता) है; और वह प्राणवायु उरःस्थल में विचरता हुआ मन्द मन्द शब्द (= स्वर) को उत्पन्न करता है ।

पूर्वोक्त हाथ के उत्क्षेपण कर्म का हाथ **'समवायिकारण'** प्रयत्नवान् आत्मा का हाथ से संयोग **'असमवायिकारण'** और प्रयत्न आदि अन्य सब साधन **'निमित्तकारण'** हैं ।। १ ।।

प्रसंग :- हाथ का 'उत्क्षेपण' (उठना) कहकर, अब मूसल का उठना कहते हैं -

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ।। २ ।। (१८२)

[तथा] उसी प्रकार [हस्तसंयोगात्] (प्रयत्नवदात्मसंयुक्त) हाथ का (मूसल के साथ) संयोग होने से [मुसले] मूसल में [च] भी [कर्म] (उत्क्षेपणादि) कर्म (उत्पन्न होता है) ।

प्रयत्नयुक्त आत्मा और मन के संयोग से हाथ में उत्क्षेपण कर्म हुआ । ऐसे हाथ से जब मूसल का संयोग हुआ, तो उस पकड़े हुए मूसल में भी उत्क्षेपण कर्म हुआ (वह भी ऊपर उठ गया) ।

अतः जब प्रयत्नपूर्वक हाथ से मूसल उठाया जाता है, तो मूसल के उत्क्षेपण में मूसल **'समवायिकारण'**, हाथ का मूसल से संयोग **'असमवायिकारण'** और

भार का उत्तोलनपूर्वक प्रयत्न आदि **'निमित्तकारण'** होते हैं ।

इसी प्रकार नीचे लाते समय 'अवक्षेपण'- क्रिया उत्पन्न होती है । कारण पूर्ववत् होते हैं ।

प्रसंग :- ओखली में चोट खाकर जब मूसल ऊपर उछलता है, तव उसके ऊपर उठने में क्या कारण होता है ? क्या हाथ का संयोग ही उसका कारण है? इस शंका का समाधान करते है -

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥ ३ ॥ (१८३)

[अभिघातजे] अभिघात (तीव्र चोट) से उत्पन्न [मुसलादौ] मूसल आदि में हुए [कर्मणि] (उत्क्षेपण) कर्म में [हस्तसंयोगः] (मूसल के साथ) हाथ का संयोग [अकारणम्] कारण नहीं होता [व्यतिरेकात्] (प्रयत्न के) अभाव से ।

ऊखल में मूसल के अवक्षेपण के अभिघात (तीव्र चोट) से मूसल में उत्क्षेपण (उछलना) कर्म हो जाता है । इस उत्क्षेपण में हस्त-मूसल-संयोग कारण नहीं होता क्योंकि वहाँ प्रयत्न का अभाव है । यद्यपि इधर-उधर गिरने या तिरछा जाने से बचाने के लिए मूसल के साथ हाथ का संयोग होता है । यदि हाथ का मूसल से संयोग न हो, तो भी तीव्र चोट खाया हुआ मूसल आदि अपने आप भी ऊपर को उछलता है । इसलिए हाथ का संयोग अभिघातज मूसल के उठने में कारण नहीं है ।

इस अभिघात से उत्पन्न उत्क्षेपण कर्म का मूसल 'समवायिकारण' मूसल का ओखली के साथ अभिघात नामक संयोग 'असमवायिकारण' और मूसल में विद्यमान वेग 'निमित्तकारण' है । यह उत्क्षेपण कर्म हाथ की चेष्टा और आत्मप्रयत्न के बिना होता है ॥३ ॥

प्रसंग :- अभिघात के कारण मूसल में उत्क्षेपण कर्म होने पर, उस से सम्बद्ध हाथ में भी उत्क्षेपण कर्म हो जाता है । तो क्या हाथ के उत्क्षेपण कर्म में आत्मसंयोग

कारण है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

तथाऽऽत्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥ (१८४)

यहाँ पिछले सूत्र से 'व्यतिरेकादकारणम्' की अनुवृत्ति आती है ।

[तथा] उसी प्रकार (व्यतिरेक हेतु से) [आत्मसंयोगः] (हाथ के साथ) आत्मा का संयोग [हस्तकर्मणि] हाथ के उत्क्षेपण कर्म में (कारण नहीं होता) ।

अभिघात के कारण जब मूसल ऊपर को उछलता है, उससे संयुक्त हाथ भी ऊपर उछल जाता है । तब हाथ के साथ आत्मा का संयोग होने पर भी उछलने के लिए प्रयत्न न होने के कारण वह संयोग उत्क्षेपण कर्म में कारण नहीं होता । अर्थात् हाथ के उत्क्षेपण में आत्मसंयोग 'असमवायिकारण' नहीं होता ॥ ४ ॥

प्रसंग :- तो फिर हाथ ऊपर कैसे उठ जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :-

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥ (१८५)
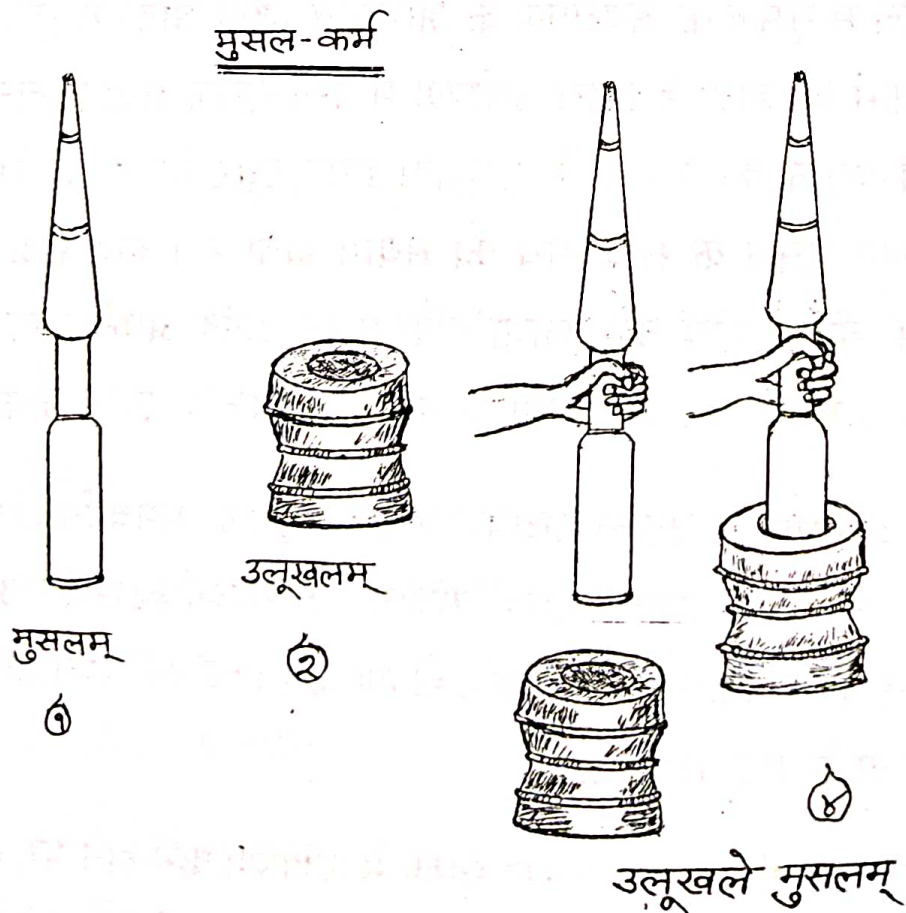
[अभिघातात्] अभिघात से [मुसलसंयोगात्] मूसल के साथ (हाथ का) संयोग होने के कारण [हस्ते] हाथ में [कर्म] (उत्क्षेपण) कर्म हो जाता है ।

जब ओखली में मूसल के अभिघात से मूसल उछलता है, तो मूसल से संयुक्त हाथ भी मूसल के साथ उछल जाता है ।

इस मूसल से संयुक्त हाथ के उत्क्षेपण का हाथ 'समवायिकारण', हस्तमुसलसंयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य गुरुत्व आदि सम्भावित साधन 'निमित्तकारण' होते हैं ॥ ५ ॥

प्रसंग :- वेग वाले मूसल से संयुक्त हाथ के ऊपर उठने पर कभी सारा शरीर क्यों हिल जाता है ? इस शंका का समाधान करते हैं :-

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥ (१८६)

[हस्तसंयोगात्] हाथ का (शरीर के साथ) संयोग होने से [च] और (हाथ के वेग से) [आत्मकर्म] आत्मा (=देह =शरीर) में कर्म (=हिलना) होता है ।

उछलते हुए मूसल के साथ संयुक्त हुआ हाथ ऊपर को उठता है और उठते हुए हाथ के साथ संयुक्त होने से शरीर भी हिल जाता है । इस शरीर की क्रिया का होना आत्म-संयोग से नहीं होता, अपितु शरीर की इस क्रिया का देह अथवा देहावयव ''समवायिकारण', वेगयुक्त मूसल से हाथ का संयोग 'असमवायिकिरण' तथा अन्य वेग, गुरुत्व आदि साधन 'निमित्तकारण' होते हैं ।

यहाँ सूत्र में 'आत्मा' पद का प्रयोग चेष्टा के आश्रय देह/शरीर के लिए हुआ है । कोष में भी कहा है -

''आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः, स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।'' (अमर. ३/३/१०९)

तथा 'वर्ष्म' पद को 'देह' का पर्याय कहा है। (अमरः ३/३/१२३) ॥ ६ ॥

प्रसंग :- उछला हुआ मूसल, पत्थर आदि नीचे क्यों गिर जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥७ ॥ (१८७)

[संयोगाभावे] संयोग के न होने पर [गुरुत्वात्] द्रव्य के गुरु (=भारी) होने से [पतनम्] (द्रव्य का) पतन (=अवक्षेपण) हो जाता है।

अभिघात के कारण ऊपर उछले हुए मूसल के साथ प्रयत्नवाले आत्मा से संयुक्त हाथ का जब(विधारक या प्रतिबन्धक) संयोग नहीं रहता, तब उस संयोग के अभाव में गुरु (=भारी) मूसल नीचे गिर जाता है। इस पतन (=अवक्षेपण क्रिया) में मूसल 'समवायिकारण', मूसल का गुरुत्व 'असमवायिकारण' तथा संयोग का अभाव 'निमित्तकारण' रहता है।

इस संयोगाभाव और गुरुत्व के कारण ही मनुष्य वृक्ष की डाली टूटने पर वृक्ष से नीचे गिर जाता है। इसी प्रकार उत्क्षिप्त या प्रक्षिप्त लोष्ठ, बाण, गैंद, बन्दूक की गोली, उड़ता हुआ पक्षी या विमान आदि विधारक (=पतनप्रतिबन्धक वेग आदि) के अभाव में गुरुत्व (=भार) के कारण नीचे गिर जाते हैं। वृक्ष का टूटा हुआ फल भी प्रतिबन्धक (=डाली के संयोग) के अभाव में भारी होने से नीचे गिर जाता है।

किन्तु यदि प्रयत्नपूर्वक मूसल आदि को नीचे लाया जाता है, तो प्रयत्न 'असमवायिकारण' हो जाता है।

विशेष :- इस विवेचन से हम देख रहे हैं, कि **गुरुत्वाकर्षण की चर्चा हजारों वर्ष पूर्व महर्षि कणाद आदि ने की है।** अतः इस गुरुत्वाकर्षण को यूरोपियन सर आइजक न्यूटन की सर्वप्रथम खोज कहना अन्याय है ॥ ७ ॥

प्रसंग :- पतन का प्रतिबन्धक (=विधारक संयोग) न होने पर वस्तु नीचे ही क्यों आती है ? ऊपर या इधर-उधर क्यों नहीं चली जाती ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥ (१८८)

[नोदनविशेषाभावात्] प्रेरणा विशेष के न होने से [न] (भारी वस्तु का) न [ऊर्ध्वम्] ऊपर को [न] न [तिर्यक्] तिरछा (इधर उधर) [गमनम्] जाना (होता है) ।

प्रेरणाविशेष के न रहने पर (=समाप्त हो जाने पर) भारी वस्तु पृथिवी की आकर्षण-शक्ति के कारण नीचे गिर जाती है । उस आकर्षण शक्ति का प्रतियोगी (=विरोधी) ही 'नोदन' (=प्रेरणाविशेष) है । प्रेरणाविशेष का अर्थ है द्रव्य में उत्कृष्ट गति उत्पन्न कर देना, जिससे प्रेरयिता पृथिवी की आकर्षण-शक्ति के विरुद्ध वस्तु को जिधर चाहता है, उधर फैंक देता है । जब वह प्रेरणा विशेष ही समाप्त हो जाती है ; तो प्रेरणा-हीन वस्तु ऊपर या इधर-उधर न जाकर पृथिवी की आकर्षण-शक्ति से पंख-कटे पक्षी के समान नीचे आ गिरती है ॥८॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार नोदनाविशेष का कारण बताते हैं :-

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेष : ॥ ९ ॥ (१८९)

[प्रयत्नविशेषात्] विशेष प्रयत्न से [नोदनविशेषः] नोदनविशेष (=विशिष्ट प्रेरणासंस्कार) (उत्पन्न होता है) ।

विशेष प्रयत्न से उत्क्षेप्ता द्वारा उत्क्षेप्य वस्तु में जो तीव्र गतिरूप (=गतिसंस्कार रूप) क्रियाविशेष उत्पन्न किया जाता है, उसे 'नोदनविशेष' कहते हैं । यथा -

जब बाण या लोष्ठ को तिरछा अथवा ऊपर फैंकने के लिए हाथ या धनुष की डोरी आदि के पीछे या नीचे खींचनारूप विशेष प्रयत्न से बाण या लोष्ठ में विशेष प्रेरणा संस्कार (=गति-संस्कार) उत्पन्न हो जाता है, तब इसके पीछे आत्मा

और मन का संयोग आवश्यक है । अर्थात् आत्मा और मन के संयोग से उद्देश्य के अनुसार खींचना आदि विशेषप्रयत्न ही नोदनविशेष (=विशिष्ट प्रेरणासंस्कार) का कारण है । ॥ ९ ॥

प्रसंग :- अब नोदनविशेष का फल बताते हैं -

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥ (१९०)

[नोदनविशेषात्] विशेष प्रेरणासंस्कार से [उदसनविशेषः] विशेष उदसन (=दूर या ऊपर फैंकना) (हो जाता है) ।

यदि फैंकने की प्रेरणा कम हो, तो कम दूर तक और यदि प्रेरणा अत्यधिक हो, तो अतिदूर फैंकना सम्भव होता है । और जब नोदनविशेष नहीं रहता, तब पतन-प्रतिबन्धक एवं वेग-संस्कार समाप्त हो जाता है, तो वस्तु गुरुत्व के कारण गिर जाती है ।

यहाँ ऊपर या तिरछी जानेवाली वस्तु 'समवायिकारण' नोदनविशेष 'असमवायिकारण' तथा काल, दिशा आदि 'निमित्तकारण' होते हैं । ॥ १० ॥

प्रसंग :- अब छोटे बालक के अंग-संचालन में अतिदेश द्वारा हेतु निर्देश करते हैं -

हस्तकर्मणा दारकर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥ (१९१)

[हस्तकर्मणा] हाथ की क्रिया से [दारकर्म] बालक की (हाथ-पैर चलाने की) क्रिया [व्याख्यातम्] व्याख्यात (समझनी चाहिए) ।

प्रथम और पञ्चम सूत्र में दो प्रकार का हस्तकर्म कहा है। एक आत्म-संयोग और प्रयत्न से उत्पन्न तथा दूसरा अभिघात वाले मूसल के संयोग से उत्पन्न। उसी, हाथ के कर्म से छोटे बालक के अंग-संचालन की तुलना की गई है। जब वह स्वयं हाथ-पैर फैंकता है, तब अपने आत्म-संयोग और प्रयत्न से कर्म होता है। तथा कभी अन्य के संयोग के अधीन कर्म होता है, जबकि माता-पिता आदि उसका अंग-सञ्चालन करते हैं।

स्वयं अंग-सञ्चालन में हाथ, पैर आदि 'समवायिकारण', प्रयत्नवद् आत्मा का हाथ के साथ संयोग 'असमवायिकारण', अन्य सम्भावित गुरुत्व आदि 'निमित्तकारण' समझने चाहिए। और किसी अन्य के द्वारा अंग-सञ्चालन में उसके हस्त-पाद 'समवायिकारण', अन्य व्यक्ति का संयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य साधन 'निमित्तकारण' हैं ॥ ११ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार, विशेष प्रेरणा के बिना होने वाली क्रिया का उदाहरण देते हैं -

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥ (१९२)

[तथा] उसी प्रकार [दग्धस्य] जले हुए का [विस्फोटने] फफोला पड़ने में (प्रयत्नवद् आत्मसंयोग 'असमवायिकारण' नहीं होता)।

अग्नि से जलने पर फफोला पड़ते हुए शरीरांग में जो क्रिया होती है, उसमें प्रयत्नवद् आत्मसंयोग 'समवायिकारण' नहीं होता; क्योंकि वह क्रिया प्रयत्नपूर्वक नहीं है। उसमें वह शरीरांग जहाँ फफोला पड़ा है 'समवायिकारण', अंग के साथ अग्नि का संयोग 'असमवायिकारण' और अन्य सम्भावित काल, दिशा, आकाश आदि 'निमित्तकारण' होते हैं।

इसी प्रकार अन्य दग्ध हुई वस्तु के फूटने अर्थात् टुकड़ों के उड़ने में भी अग्निसंयोग 'असमवायिकारण' होता है। फूटनेवाली वस्तु 'समवायिकारण' तथा काल, दिशा, आकाश आदि 'निमित्तकारण' होते हैं। ॥१२॥

प्रसंग :- अब सोए हुए पुरुष के चलनात्मक कर्म में हेतु दिखाते हैं -

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥ (१९३)

यहाँ अग्रिम सूत्र से 'वायुसंयोगात्' का उत्कर्ष है।

[प्रसुप्तस्य] गहरे सोए हुए का [यत्नाभावे] यत्न के अभाव में (भी) [चलनम्] (हाथ, पैर आदि का) चलना (= हिलना) (अथवा उठकर चल देना) (रोगमूलक) वायु-संयोग से होता है।

'प्रसुप्तस्य' पद अचेत-अवस्था का उपलक्षण है। अर्थात् मूर्च्छित अवस्था में भी अंग-सञ्चालन, सुप्त अवस्था में भी चल पड़ना (Somnambulism) रोगमूलक वायु के संयोग से होता है।

इस आत्म-प्रयत्न-रहित क्रिया में गतिमान अंग 'समवायिकारण', वायु-संयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य सब साधन 'निमित्तकारण' होते हैं। ॥१३॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार बिना प्रयत्न के, शरीर से बाहर होनेवाले कर्म का उदाहरण देते हैं -

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥ (१९४)

[तृणे] तिनके में [वायुसंयोगात्] वायु के संयोग से [कर्म] (गमनात्मक) कर्म होता है।

वायु में उड़ते हुए तिनके में अधः, ऊर्ध्व या तिर्यक् गमनात्मक कर्म की

उत्पत्ति में वायुसंयोग 'असमवायिकारण', तिनका 'समवायिकारण' तथा अन्य काल, आकाश आदि 'निमित्तकारण' होते हैं ।

सूत्र में 'तृण' पद वायु द्वारा गति करनेवाले अन्य सभी पदार्थों का उपलक्षण है । जैसे - बादलों का इधर-उधर घूमना; पत्ते, लता, वनस्पति आदि का हिलना; वृक्षों का उखड़ जाना आदि क्रियाएँ वायु के संयोग से होती हैं । इनमें ये क्रियायुक्त पदार्थ 'समवायिकारण', उनके साथ वायु का संयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य सब साधन 'निमित्तकारण' होते हैं ॥ १४ ॥

प्रसंग :- चुम्बक पत्थर आदि के प्रति लोहे की सुई आदि के चलने में क्या कारण है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम् ॥ १५ ॥ (१९५)

[मणिगमनम्] (तृणों का तृणकान्त-) मणि की ओर चलना (और) [सूच्यभिसर्पणम्] सुई का (चुम्बक/अयस्कान्त मणि की ओर) चलना [इति] यह [अदृष्टकारणकम्] अदृष्ट कारण से होता है ।

अन्यत्र कर्म में जो प्रयत्न और नोदन कारण देखे जाते हैं, उनमें से यहाँ कोई कारण नहीं होता; अपितु परमेश्वर की रचना-व्यवस्था के अनुसार इन चुम्बक आदि पदार्थों में विशिष्ट आकर्षणशक्ति के कारण ऐसा होता है । यद्यपि आकर्षण-शक्ति के कार्यों को मानव देखता है; परन्तु आकर्षण शक्ति तो अदृष्ट ही रहती है ।

यहाँ तृण, सुई आदि 'समवायिकारण', अदृष्ट (= आकर्षण-शक्ति)
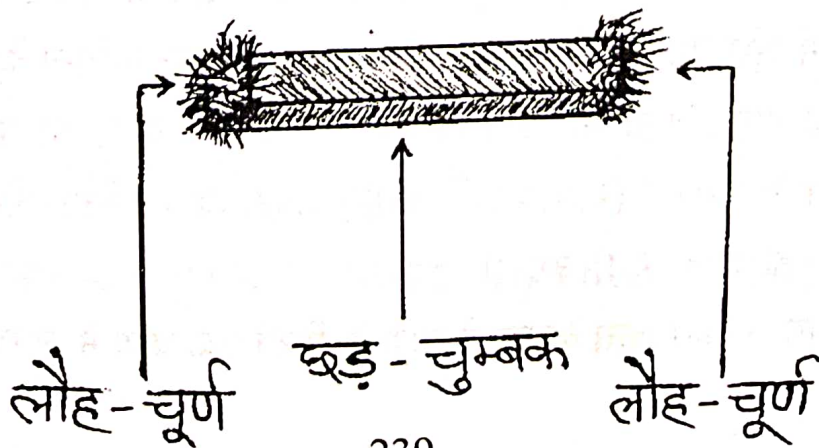
'असमवायिकारण' तथा अन्य साधन 'निमित्तकारण' होते हैं । ॥ १५ ॥

प्रसंग :- अब छोड़े हुए एक बाण में अनेक कर्मों के होने में हेतु वताते हैं -

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥ १६ ॥ (१९६)

[इषौ] (धनुष की डोरी से, वेग से छूटे हुए) बाण में [अयुगपत्] क्रमशः होने वाले [संयोगविशेषाः] भिन्न-भिन्न संयोग [कर्मान्यत्वे] कर्मों के भिन्न (=नाना) होने में [हेतुः] हेतु (=कारण) होते हैं ।

धनुष से छूटा हुआ बाण जब चलता है, तो गिरने तक उसका पद-पद पर नये-नये स्थान से संयोग होता जाता है । इस प्रकार गिरने तक बहुत से संयोग हो जाते हैं । प्रत्येक संयोग से, पहले कर्म का नाश हो जाता है । इससे सिद्ध होता है, कि बाण के गिरने तक अनेक कर्म हो जाते हैं ।

इसका विवेचन इस प्रकार किया जाता है, कि - पहले क्षण में बाण में कर्म उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में बाण का पूर्वदेश से विभाग हो जाता है, तीसरे क्षण में पूर्वदेश के साथ बाण के संयोग का नाश हो जाता है, चौथे क्षण में बाण का उत्तर-देश के साथ संयोग हो जाता है, पाँचवें क्षण में इसी संयोग से उस कर्म का नाश हो जाता है । परन्तु डोरी से छूटने पर जो 'वेग' नामक संस्कार उत्पन्न हुआ था, वह अभी विद्यमान है, जो कि पहले कर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म को उत्पन्न कर देता है; और आगे यह प्रक्रिया चल पड़ती है । अन्तिम उत्तर-देश-संयोग अन्तिम कर्म और वेग का भी नाश कर देता है । इस प्रकार विभिन्न देशों में विभिन्न संयोगों का होना, कर्मों के नाना होने में प्रमाण है । पहले भी कह चुके हैं - 'संयोगादभावः कर्मणः' (२/१/२३) । अर्थात् अवरोधक (अन्तिम) संयोग से क्रिया का अभाव हो जाता है ॥ १६ ॥

प्रसंग :- किस-किस कारण से बाण के गिरने तक बाण में अनेक कर्म उत्पन्न

होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥ १७ ॥ (१९७)

[इषोः] बाण का [आद्यम्] पहला [कर्म] कर्म [नोदनात्] (पुरुष-प्रयत्नोत्पादित) नोदन से (उत्पन्न होता है) [च] और [तत्कर्मकारितात्] उस कर्म से उत्पन्न किए गए [संस्कारात्] (वेग नामक एक ही) संस्कार से [उत्तरम्] अगला (कर्म उत्पन्न हो जाता है) [तथा] वैसे ही [उत्तरम्] अगला [च] और [उत्तरम्] अगला (कर्म उत्पन्न होता है)।

धनुष की डोरी खींचकर बाण को छोड़ने पर डोरी के नोदन (= अभिघात = धक्के) से बाण में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। वह क्रिया ही अपने अधिकरण बाण में 'वेग' नामक संस्कार उत्पन्न कर देती है।

बाण की प्रथम क्रिया में बाण 'समवायिकारण', नोदन 'असमवायिकारण' तथा आत्म - प्रयत्न और बाण का गुरुत्व 'निमित्तकारण' होता है।

बाण के द्वितीय आदि कर्मों में बाण 'समवायिकारण', वेग नामक संस्कार 'असमवायिकारण' है, जो बाण की गति के अन्तिम कर्म तक रहता है और बाण का गुरुत्व आदि 'निमित्तकारण' होते हैं। बाण के एक ही संस्कार का अन्त तक रहना 'संस्कारात्' पद के एकवचनान्त प्रयोग से लक्षित होता है। ॥१७॥

प्रसंग :- यदि प्रथम कर्म से उत्पन्न एक संस्कार ही आगे की क्रियाओं में रहता है, तो उस संस्कार के रहते हुए गिर क्यों जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥ (१९८)

[संस्काराभावे] संस्कार के अभाव में [गुरुत्वात्] गुरुत्व (=भारी होने) से [पतनम्] (बाण का) पतन (= गिरना) होता है ।

जब प्रयत्नपूर्वक नोदन से उत्पन्न प्रथम कर्म से बाण में वेग नामक, पतन का प्रतिरोधी संस्कार उत्पन्न हो जाता है, तो वह बाण को नहीं गिरने देता। परन्तु जब प्रतिरोधी गुरुत्व के कारण संस्कार मन्द-मन्दतर-मन्दतम होता-होता सर्वथा क्षीण (=नष्ट) हो जाता है । तब गुरुत्व के कारण बाण गिर जाता है ; क्योंकि गुरुत्व पतन-क्रिया में सदा कारण रहता है ॥१८॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

३६ (४९) - गुरुत्वप्रकरणम् (= गुरुत्ववैधर्म्यम्)

प्रयत्न का निरूपण करने के पश्चात् अब - वैशे. ५/१/७,१८; ५/२/३ आदि सूत्रों के अनुसार भाष्यकार क्रम प्राप्त 'गुरुत्व' गुण का वर्णन करते हैं -

प्रश०:- गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम् । अप्रत्यक्षम्, पतनकर्मानुमेयम्, संयोगप्रयत्नसंस्कारविरोधि । अस्य च अबादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः ॥

जिस गुण से जल अथवा पृथिवी द्रव्य की पतनक्रिया होती है, वह 'गुरुत्व' नामक गुण होता है । यह स्वभाव से अप्रत्यक्ष होते हुए भी पतन क्रिया से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है । इसके पतनक्रिया रूप कार्य में संयोग, प्रयत्न एवं संस्कार प्रतिबन्धक होते हैं । [जैसे कि झूले पर चढ़ा हुआ प्राणी झूले के संयोग के कारण पृथिवी पर नहीं गिरता; इच्छापूर्वक प्रयत्न से खड़ा हुआ व्यक्ति पृथिवी पर नहीं गिरता; धनुष से बलपूर्वक फेंका हुआ बाण वेग नामक संस्कार के कारण तब तक पृथिवी पर नहीं गिरता, जव तक उस बाण में वेग है । वेग के समाप्त होने पर ही बाग गुरुत्व के कारण भूमि पर गिरता है ।] जलादि के परमाणुओं के समान

'गुरुत्व' में नित्यत्व एवं जल, पृथिवी आदि कार्य - द्रव्य के रूप, रस आदि के समान गुरुत्व के अनित्य की स्थिति समझनी चाहिए। अर्थात् कार्य द्रव्य के नाश से रूप रस आदि के नाश के समान गुरुत्व का भी नाश हो जाता है ॥
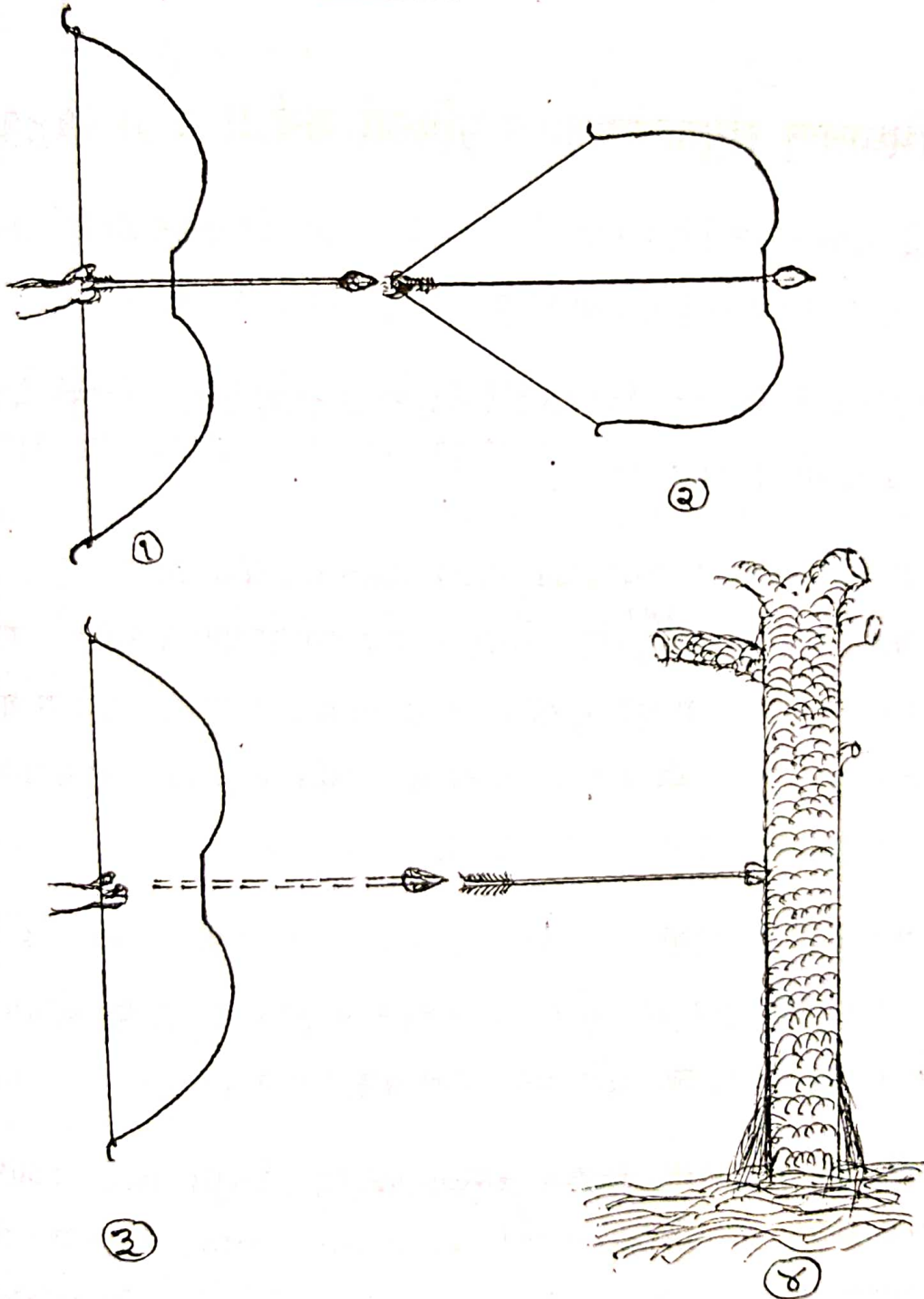
।। अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।।

प्रसंग :- पिछले आह्निक में हस्त आदि में तथा उससे सम्वद्ध मूसल, शरीर आदि में होने वाले उत्क्षेपणादि कर्म का विस्तार से वर्णन किया। अव पृथिवी आदि में नोदनादि से होने वाले कर्म की परीक्षा करते हुए, पहले पृथिवी के कर्म का कथन करते हैं -

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ।। १ ।। (१९९)

[नोदनाभिघातात्] प्रेरणा की तीव्र चोट [च] और [संयुक्तसंयोगात्] संयुक्त पदार्थों के साथ संयोग से [पृथिव्याम्] पृथिवी में [कर्म] कर्म होता है।

पृथिवी में दो प्रकार की क्रियाएँ हैं। एक दृश्य दूसरी अदृश्य। उनमें से इस सूत्र में दृश्य क्रियाओं का वर्णन हैं।

धकेलने वाले विशेष संयोग को 'नोदन' कहते हैं। यदि वह चोट दे तो उसे अभिघात कहते हैं। अतिवृष्टि, तीव्र - वेगयुक्त वायु तथा विद्युत्पात आदि से पर्वत-शिखरों, भूखण्डों का टूटना एवं भूस्खलन देखा जाता है। बारूद आदि से बड़ी-बड़ी चट्टानों का टूटना भी इसी में आता है। अतिवृष्टि आदि के नोदन के अभिघात से पृथिवी में क्रिया उत्पन्न होती है।

वृष्टि आदि के अतिरिक्त गन्धक, फास्फोरस, चूना, जल, विस्फोटक गैस आदि पदार्थ संयुक्त होकर जब पृथिवी के सम्पर्क में आते हैं, तो यह संयोग भी पृथिवी में भूकम्प, भूस्खलन आदि कर्म उत्पन्न कर देता है।

यहाँ गति का आश्रय भूखण्ड 'समवायिकारण'; विद्युत्, वृष्टि, झंझावात आदि एवं संयुक्त विस्फोटक पदार्थों का संयोग 'असमवायिकारण' तथा नोदनाभिघातकारी व विस्फोटक गन्धक, चूना आदि आग्नेय पदार्थ 'निमित्तकारण' होते हैं ।। १ ।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार दूसरे प्रकार की अपनी कीली पर घूमने और सूर्य की परिक्रमा करने रूपी अदृश्य क्रिया का कारण बताते हैं -

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥२॥ (२००)

यहाँ गत सूत्र से 'पृथिव्यां कर्म' की अनुवृत्ति है ।

[तद्विशेषेण] उसके भेद से [अदृष्टकारितम्] (पृथिवी में) अदृष्ट शक्ति द्वारा कराया हुआ (कर्म होता है) ।

सूत्र में 'तत्' शब्द से पूर्व सूत्रोक्त हेतुओं की ओर संकेत है और 'विशेष' शब्द का अर्थ है - भिन्न अथवा व्यतिरेक । अतः सूत्रार्थ हुआ - पूर्वसूत्रोक्त नोदनाभिघात और संयुक्तसंयोग से भिन्न अदृष्टशक्ति द्वारा कराया हुआ, पृथिवी में (दैनिक और वार्षिक भ्रमण रूप अदृष्ट) कर्म होता है, जिसमें अपनी कीली पर घूमना 'घूर्णन' एवं सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाना 'परिक्रमण' कहलाता है ।

सूत्रोक्त अदृष्टशक्ति, आकर्षण-शक्ति है, जिसे परमेश्वर ही शक्ति प्रदान करता है । मनुष्य इसे भूला रहता है ।

यहाँ पृथिवी 'समवायिकारण', अदृष्ट (=आकर्षण-शक्ति) का संयोग 'असमवायिकारण' तथा अदृष्ट-शक्ति का प्रेरक ईश्वर एवं अन्य सब साधन 'निमित्तकारण' होते हैं ॥ २ ॥

प्रसंग :- पृथिवी के कर्म की परीक्षा करके, अब जलों के कर्म की परीक्षा करते हुए, सूत्रकार पहले जलों में गिरने या बरसने के कर्म का कारण बताते हैं -

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥३॥ (२०१)

[अपाम्] जलों का [संयोगाभावे] विधारक = प्रतिबन्धक वायु और मेघ

के) संयोग का अभाव होने पर [गुरुत्वात्] गुरुत्व (=भारी होने) से [पतनम्] नीचे गिरना (=बरसना) होता है ।

बादल जलों का संघात / समूह है । ये बादल (=वारिदल) झुण्ड के झुण्ड अन्तरिक्ष में वायु द्वारा उड़ाये जाते रहते हैं । बादलों के घनीभूत हो जाने पर जव उनका गुरुत्व बहुत बढ़ जाता है, तब विधारक वायु उनको गिरने से रोक नहीं पाती । तब ये मेघ-समूह परस्पर टकराकर जलरूप में वरसने लगते हैं ।

जलों की वर्षण-रूप पतन क्रिया में जल 'समवायिकारण'; जलों में समवेत गुरुत्व 'असमवायिकारण' तथा प्रतिबन्धक संयोग का अभाव आदि 'निमित्तकारण' होते हैं । ॥३ ॥

प्रसंग :- अब जलों के बहने (=स्यन्दन) का कारण बताते हैं -

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥ (२०२)

यहाँ गत सूत्र से 'अपाम्' की अनुवृत्ति है ।

[द्रवत्वात्] (जलों का) द्रवत्व (=तरलता) हेतु से [स्यन्दनम्] बहना होता है ।

जलों का भूमिगत ऊँचाई से नीचे की ओर सरकना (=स्यन्दन=बहना) उनके द्रवत्व (=तरलत्व) के कारण होता है ।

इस स्यन्दन क्रिया में जल 'समवायिकारण' गुरुत्व 'असमवायिकारण' तथा द्रवत्व 'निमित्तकारण' होता है ।

मोम, घृत आदि द्रव्य पिघल जाने पर; लोहा, तांबा आदि धातुएँ प्रखर ऊष्मा से गल जाने पर पानी के समान ऊँचे स्थान से नीचे की ओर सरकने (=बहने) लगते हैं । यहाँ सभी के स्यन्दन (=बहाव) क्रिया में द्रवीभाव (=द्रवत्व) मुख्य 'निमित्तकारण' है ॥४॥

प्रसंग :- यदि द्रवत्व के कारण जल नीचे को बहते है; तो फिर बरसने वाले जल ऊपर अन्तरिक्ष में कैसे चढ़ जाते हैं ? और पैरों का रस, रक्त आदि हृदय तक कैसे चढ़ जाता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

नाड्यवायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥ (२०३)

[''नाड्यो ....' इति पाठान्तरम्]

यहाँ गतसूत्र से 'अपाम्' की अनुवृत्ति है ।

[नाड्यवायुसंयोगात्] नाडियों (शिराओं) या सूर्य की किरणों से सम्बद्ध वायु के संयोग से [आरोहणम्] (जलों का) ऊपर को चढ़ाव होता है ।

शरीर में विद्यमान नसों, शिराओं या धमनियों को नाडी कहते हैं । तथा उनके सादृश्य प्रतीति से सूर्य की किरणों को भी 'नाडी' मान लिया गया है । दोनों में भी अर्थ सम्भव है ।

सूर्य की प्रखरतर (=उष्ण) किरणों से जो जल का वाष्प बनता है, वह वायु के संयोग से ऊपर अन्तरिक्ष में चढ़ जाता है, और अनुकूल परिस्थिति में फिर बरस जाता हैं । एवं नाडी (=शिराओं) सम्बन्धी वायु के संयोग से रस, रक्त आदि ऊपर तक तथा धमनियों द्वारा हृदय से शिर की चोटी तक रस, रक्त आदि चढ़ जाते हैं ।

इन सब के पीछे भी ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है । इस आरोहण क्रिया में जल अथवा रस, रक्त आदि'समवायिकारण', 'नाडियों तथा सूर्यरश्मियों से सम्बद्ध वायु का जल के साथ संयोग 'असमवायिकारण' और जल तथा रस, रक्त आदि का द्रवत्व, वायु, नाडी, उष्णता आदि 'निमित्तकारण' होते हैं ॥५॥

प्रसंग :- कभी-कभी नाडी और वायु के संयोग के बिना भी जल ऊपर उठता हुआ क्यों देखा जाता है ? जैसे - पिचकारी या फौवारे से । इस शंका का समाधान करते हैं -

नोदनाऽऽपीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥ (२०४)

यहाँ सूत्र ३ से 'अपाम्' की तथा सूत्र ५ से 'आरोहणम्' की अनुवृत्ति है।

[नोदनापीडनात्] नोदन (=प्रेरणा) के आपीडन (=दवाव = प्रक्षेपण) से [च] और [संयुक्तसंयोगात्] संयुक्तसंयोग से (भी जल का ऊपर को चढ़ाव होता है)।

लोक में हम देखते हैं, कि प्रेरणा के दवाव से भूमि पर स्थित अथवा कूप आदि में स्थित जल ऊपर उठता है। जैसे - पिचकारी (Syringe) या फौवारे (Fountain) से।

पिचकारी की नली में भरे पानी को हाथ के नोदन द्वारा आपीडन (-पिस्टन) से धकेल दिया जाता है। जितनी शक्ति (नोदन) से आपीडन कार्य करेगा, उसी के अनुसार जलों का आरोहण होगा, कम ऊँचाई तक अथवा अधिक ऊँचाई तक।

सूत्र के 'नोदनापीडन' पद से पानी को उठाने की प्रक्रिया बताई है। 'नोदन' का अर्थ है-प्रेरणा और 'आपीडन' का अर्थ है धकेलना। पिचकारी के उदाहरण में हाथ प्रेरणा करता है- आपीडक (पिस्टन) को, वह धकेलता है जल को। इस प्रकार नोदनापीडन का जल के साथ 'संयुक्तसंयोग' सम्बन्ध हुआ। यहाँ हस्तसंयुक्त आपीडन है, आपीडन का संयोग जल के साथ है। यह नोदन किसी भी शक्ति (=विद्युत्, वाष्प, जल-प्रपात आदि) से हो सकता है। पिस्टन से पानी आदि खींचने के लिए पिचकारी हैण्डपम्प, साइकिल में हवा भरने, स्टोव में हवा भरने के पम्प आदि के पिस्टन के अग्रभाग पर चमड़े आदि का वासर भी लगा रहता है, जो फैलकर पानी या हवा को पीछे लौटने से रोकता है।

अथवा जल के साथ संयुक्त जो पतीला या भगोना आदि है, उनसे अग्नि की लपटों का संयोग होने पर जल भाप बनकर ऊपर उठता है।

इसके पहले के उदाहरण में जल 'समयाविकारण' नोदनापीडन 'असमयाविकारण' तथा आपीडन (=दबाव) के साधन 'निमित्तकारण' होते हैं। और दूसरे उदाहरण में - जल 'समवायिकारण', संयुक्त-संयोग (=जल से संयुक्त पतीले का अग्नि की लपटों से संयोग) 'असमवायिकारण' और अग्नि की ज्वालाएँ आदि 'निमित्तकारण' होते हैं। ||६||

प्रसंग :- नोदनापीडन आदि न देखे जाने पर भी वृक्ष की मूल में सींचा हुआ जल वृक्ष के मध्यभाग से होकर चारों ओर फैलता हुआ ऊपर चोटी तक कैसे पहुँच जाता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥ (२०५)

यहाँ भी तृतीय सूत्र में 'अपाम्' की अनुवृत्ति है।

[वृक्षाभिसर्पणम्] वृक्ष में सब ओर होता हुआ (जल का ऊपर तक) फैलाव होना [इति] यह [अदृष्टकारितम्] अदृष्टशक्ति द्वारा कराया जाता है।

सिञ्चन या वृष्टि द्वारा वृक्ष की मूल में पहुँचा हुआ जल, वृक्ष की शाखाओं, पत्तियों, फूलों आदि में होता हुआ वृक्ष के अन्तिम शिखर तक पहुँचता है।

यह अभिसर्पण वृक्ष की जीवनीय शक्ति के अदृष्ट आकर्षण के कारण होता है, जो वृक्ष में विद्यमान सूक्ष्म नाडियों द्वारा जल और पार्थिव रसों को ऊपर की ओर आकर्षित करता है।

इस आरोहण में जल 'समवायिकारण', आत्मा की अदृष्ट शक्ति का संयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य काल, दिशा, आकाश, द्रवत्व आदि 'निमित्तकारण' होते है।

यह जलारोहण कर्मानुसार वृक्षादि योनियों को प्राप्त हुए आत्माओं के संयोग के कारण ही होता है। अन्य अनुशयी अदृष्ट वाले आत्माओं के संयोग के कारण नहीं होता। वृक्षों में जलारोहण आदि की प्रक्रिया, भोजन-निर्माण एवं संग्रह की प्रक्रिया हमारे लिए अदृश्य है। इस स्थिति का संचालन परमात्मा की रचना - व्यवस्था के अधीन है। वही इसका लेखा - जोखा रखता है। इसी के लिए सूत्रकार ने 'अदृष्टकारितम्' पद का प्रयोग किया है। ॥ ७ ॥

प्रसंग :- जल का स्वाभाविक गुण तो द्रवत्व है, फिर कभी वह ठोस और कभी तरल कैसे हो जाता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात् ॥८॥ (२०६)

[अपाम्] जलों का [संघातः] सामूहिक रूप से कठोर हो जाना, जम जाना [च] और [विलयनम्] विलयन (गल कर तरल) हो जाना, पिघल जाना [तेजः संयोगात्] तेज के संयोग से होता है।

ओला तथा बर्फ आदि के रूप में जल के दृढ़तर संयोग का नाम 'संघात' और संघात का पहले रूप के समान हो जाना 'विलयन' (=पिघलना) कहाता है। यद्यपि द्रवत्व जल का स्वाभाविक गुण है, तथापि तेजः संयोग से उसमें संघात और विलयन होता है।

दिव्य-तेज (=विद्युत्) का प्रबल संयोग, अन्तरिक्ष में स्थित जल में से सामान्य रूप से वर्तमान उष्णता को 0^0 सेंटीग्रेट तक या उससे भी कम स्तर तक बाहर निकाल देता है। उस उष्णता के 0^0C तक बाहर निकलते ही जल के अणु परस्पर संघातरूप में जमकर ओला या बर्फ का रूप धारण कर लेते हैं और गुरुत्व के कारण भूमि पर गिर पड़ते हैं। पुनः अदिव्य (=पृथिवीस्थ) तेज के संयोग से पिघल जाते हैं।

जल से विद्युत् द्वारा उष्णता निकालने का यही सिद्धान्त प्रशीतक यन्त्र Air conditioner, Refrigeratory (=भाप जमाने का यन्त्र, तापहर या प्रशीतक यन्त्र) में काम करता है। बर्फ बनाने वाली मशीनों द्वारा भी इसी प्रकार विद्युत्-संयोग से जल को जमाया जाता है।

इस संघात और विलयन में जल 'समवायिकारण', तेजःसंयोग 'असमवायिकारण' और दिव्य एवं अदिव्य तेज 'निमित्तकारण' होता है ॥८॥

प्रसंग :- ओले (करका) और बर्फ बनने में भी तेजःसंयोग कारण होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥ ९ ॥ (२०७)

[तत्र] दिव्य तेजःसंयोग होने में [विस्फूर्जथुः] (अन्तरिक्ष-स्थित जलों=बादलों में) विद्युत् (=बिजली) की कड़क (=गर्जन) [लिङ्गम्] प्रमाण है।

ओले प्रायः कड़कने (=गड़गड़ाहट) के पीछे बरसते हैं। कड़कना, बिना रगड़ के नहीं होता और रगड़, बिना तेजः (=विद्युत्) के नहीं होती। इससे सिद्ध होता है, कि मेघों में तेजःसंयोग है। क्योंकि ओला-वृष्टि के अवसर पर पहले बिजली की चमक दीखती है, फिर [ध्वनि की गति (३३४ मीटर प्रति सैकेण्ड) प्रकाश की गति (३,००,००० कि.मी. प्रतिसैकण्ड) से बहुत कम होने के कारण] कड़क और गड़गड़ाहट कुछ देर में सुनाई देती है। उसके तुरन्त पश्चात् ओला-वृष्टि होने लगती है।

मशीनों द्वारा जमने वाली बर्फ में भी विद्युत्-संयोग की आवश्यकता होती है।

किन्तु पाला पड़ने या पहाड़ों पर बर्फ जमने में शीताधिक्य या वायुदाव की न्यूनता कारण होते हैं।

'विस्फूर्जथुः' पद 'वज्रनिर्घोष' वा 'विद्युद्गर्जन' अर्थ में है। वि+टुओस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे +अथुच् (''ट्वितोथुच्''- अष्टा ३/३/८९) > वि+स्फूर्ज्+अथु > विस्फूर्जथुः =वज्रनिर्घोषः=विद्युत्-गर्जन।

प्रसंग :- अब सूत्रकार जल के साथ तेजःसंयोग होने में वैदिक प्रमाण बताते हैं -

वैदिकं च ॥१० ॥ (२०८)

यहाँ पूर्वसूत्र से 'लिङ्गम्' की अनुवृत्ति है।

[वैदिकम्] वेद में कहा हुआ वचन [च] भी (प्रमाण) है।

जल के साथ तेजःसंयोग का वेद तथा वैदिक साहित्य के अनेकत्र वचन भी संकेत करते हैं। जैसे -

अग्ने गर्भो अपामसि - (यजु० १२/३७)।

अपां ह्येष गर्भो यदग्निः - (तै० सं. ५/१/५/८)।

अप्सु योनिर्वा अग्निः (तै० सं. ५/२/२/४)।

आपो वा अग्नेर्योनिः - (मै० सं. ३/२/२ ; ३/४/१० काठ० १९/१२

गर्भो यो अपाम् (अग्निः) - (ऋ १/७०/२)

आपस्ता अग्निं गर्भमादधीरन् - (अनुपलब्धमूलम्)

इन वैदिक प्रमाणों से स्पष्ट है, कि जल में अग्नि (दिव्य तेज) रहता है। अतः उस तेज के साथ जल का संयोग होने में कोई बाधा नहीं होती।

इन प्रमाणों में गर्भ के समान [जल H_2O में H_2 /हाइड्रोजन के रूप में] अन्तर्वर्ति होने से अग्नि को 'गर्भ' कहा है ॥ १० ॥

प्रसंग :- अब विस्फूर्जथु (बिजली की कड़क) का कारण वताते हैं -

अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥ (२०९)

९ वें सूत्र में 'विस्फूर्जथुः' की अनुवृत्ति है ।

[अपाम्] जल-समूहों (=मेघों) के [संयोगात्] (परस्पर) संयोग से [च] और [विभागात्] विभाग से [स्तनयित्नोः] विद्युत् की (कड़क वा गड़गड़ाहट उत्पन्न होती है) ।

तेज को गर्भ में लिए हुए मेघ, प्रबल वायु के द्वारा इधर-उधर धकेले जाने से उनका परस्पर तीव्र टकराव होता है । इस अभिघात (=टकराव) रूप संयोग से कड़क वा गड़गड़ाहट उत्पन्न होती है । इस विस्फूर्जथुः (=गड़गड़ाहट) में आकाश 'समवायिकारण', मेघ-आकाश संयोग 'असमवायिकारण' और मेघों का टकराव (=अभिघात) रूप संयोग 'निमित्तकारण' होता है ।

इसी प्रकार के अभिघात से उत्पन्न मेघों का विभाग (=खण्डित होना) भी इस विस्फूर्जथु (=कड़क =गड़गड़ाहट) की उत्पत्ति होती है । इस कड़क (=मेघगर्जन) का आकाश 'समवायिकारण', मेघखण्ड और आकाश का संयोग 'असमवायिकारण' तथा मेघखण्डों का विभाग 'निमित्तकारण' होता है । ॥११॥
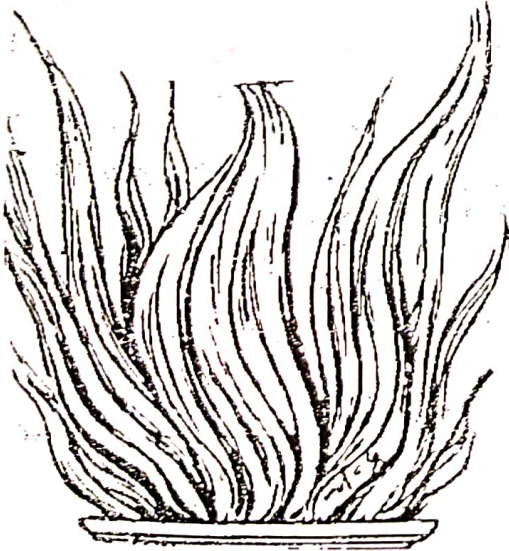
प्रसंग :- पृथिवी और जल में कर्म (क्रिया) बताकर अब अग्नि और वायु की क्रिया की परीक्षा करते हैं -

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ।।१२।। (२१०)

[पृथिवीकर्मणा] पृथिवी के कर्म से [तेजःकर्म] तेज का कर्म [च[और [वायुकर्म] वायु का कर्म [व्याख्यातम्] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

इस आह्निक के आरम्भिक दो सूत्रों में से द्वितीय सूत्र में जो पृथिवी का कर्म अदृष्ट शक्ति से होना कहा है, वैसे ही अग्नि और वायु का कर्म भी अदृष्टकारित समझना चाहिए । प्रथम सूत्रोक्त दृश्य कर्म तो इनमें सम्भव नहीं है । ।।१२।।

प्रसंग - अब सूत्रकार स्वयं ही अग्नि, वायु, अणु, और मन की अदृष्ट द्वारा कराई जाने वाली क्रियाओं को स्पष्ट करते हैं -

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ।। १३ ।। (२११)

[अग्नेः] अग्नि का [ऊर्ध्वज्वलनम्] ऊपर की ओर जलना [वायोः] वायु का [तिर्यक्पवनम्] तिरछा बहना [अणूनाम्] अणुओं का [च] और [मनसः] मन का [आद्यम्] (प्रलय के अनन्तर) पहला [कर्म] कर्म [अदृष्टकारितम्] अदृष्ट शक्ति से कराया जाता है ।

अग्नि का ऊपर की ओर जलना और वायु का तिरछा बहना सर्गसम्बन्धी ईश्वरीय व्यवस्था से अग्नि और वायु की अदृष्ट (निजी) शक्ति के द्वारा होता है, जो कि परमात्मा की प्रेरणा से सक्रिय होती है ।

इसी प्रकार प्रलय के अनन्तर परमाणुओं का सबसे पहला कर्म ईश्वर की अदृष्ट शक्ति से तथा मन का सबसे पहला कर्म धर्माधर्मरूप अदृष्ट वाले आत्मा तथा परमात्मा की अदृष्ट शक्ति से कराया जाता है ।

इन सब के कर्म में अग्नि, वायु, अणु और मन 'समवायिकारण', 'अदृष्टशक्ति

का संयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य अदृष्ट काल, दिशा, आकाश आदि साधन 'निमित्तकारण' होते हैं ।

आद्यकर्म के पश्चात् अग्नि, वायु के ज्वलन, पवन का 'असमवायिकारण' वेग नामक संस्कार होता है ॥ १३ ॥

प्रसंग :- क्या सृष्टि के आरम्भ से अतिरिक्त काल में भी मानसिक कर्म ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥ (२१२)

[हस्तकर्मणा] हाथ के कर्म से [मनसः] मन का [कर्म] कर्म [व्याख्यातम्] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

गत सूत्र (५/१/१) के अनुसार जैसे प्रयत्न वाले आत्मा का हाथ के साथ संयोग होने पर हाथ का कर्म होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय सम्बन्ध के प्रेरक मन का कर्म भी प्रयत्न वाले आत्मा के संयोग से होता है ।

किसी कार्य को करने या किसी विषय को जानने की इच्छा से आत्मा मन को प्रेरित करता है, पुनः मन इन्द्रियों को अपने कर्म में प्रेरित करता है अथवा संकल्प-विकल्प करता है । सक्रिय मन के कर्म में मन 'समवायिकारण', आत्मा और मन का संयोग 'असमवायिकारण' तथा प्रयत्न आदि 'निमित्तकारण' होते हैं । ॥१४ ॥

प्रसंग :- मन तो अन्तःकरण है । हाथ के समान प्रत्यक्ष नहीं । फिर उस अप्रत्यक्ष मन के होने में क्या प्रमाण है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥ (२१३)

[आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात्] आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सम्बन्ध से [सुखदुःखे] सुख और दुःख होते हैं (इससे मन का कर्म ज्ञात होता है) ।

आत्मा का विषयों के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता, और न इन्द्रियाँ आत्मा को सीधे बाह्य वस्तु का स्वरूप दिखा सकती हैं। इन दोनों के बीच आन्तर साधन 'मन' है, जो कि आत्मा और इन्द्रियों के सम्बन्ध जोड़ता है। अर्थात् जब आत्मा को किसी अर्थ (=विषय) को जानने की इच्छा होती है, तो वह मन को प्रेरित करता है, मन उस विषय-सम्बन्धी इन्द्रिय को प्रेरित करता है और इन्द्रिय विषय के साथ सम्बद्ध होकर ज्ञान ग्रहण करके पुनः मन को सौंप देती है, मन आत्मा को समर्पित कर देता है। इस प्रकार मन के कर्म से इन्द्रिय-अर्थ का संयोग-विशेष (=ज्ञानोत्पादक संयोग) होने पर आत्मा को बाह्य-विषयक ज्ञान होता है। बाह्य अर्थ के अनुकूल होने पर सुख और प्रतिकूल होने पर दुःख होता है। अर्थात् समस्त बाह्य सुख-दुःख मन के कर्म के अधीन हैं।

सूत्र में 'सुख-दुःखे' पद आत्मा के ज्ञानादि समस्त गुणों का उपलक्षण है।

आन्तरिक ज्ञान आदि के लिए बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क करने के लिए ही बाह्य इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। इसी विशेषता को दिखाने के लिए सूत्र में 'इन्द्रियमनः' ऐसा क्रमरहित निर्देश किया है ॥१५॥

प्रसंग :- बाह्यविषयक सुख-दुःख की अनुभूति मन के कर्म से (=इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होने से) ही होती है, इसमें क्या हेतु (=कारण=प्रमाण) है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥ १६ ॥ (२१४)

[मनसि] मन के [आत्मस्थे] आत्मा में स्थित होने पर [तदनारम्भे] उस (=पूर्वोक्त लक्षणवाले मन के कर्म) का आरम्भ न होने पर [शरीरस्य] शरीर

सम्बन्धी [दुःखाभावः] दुःख का अभाव होता है। [सः] वही [योगः] योग है (=समाधिलाभ है)।

जब अभ्यास और वैराग्य की दृढ़ता से रूप, रस आदि विषयों में आत्मा की इच्छा का अभाव हो जाता है; तब इच्छा के अधीन उत्पन्न होने वाले मन के वृत्तिस्वरूप कर्म का भी अभाव हो जाता है। इसी का नाम योग है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर - सम्बन्धी दुःख आदि की अनुभूति नहीं होती। इसके विपरीत जब मन इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होता है, तब सुखःदुःख आदि की अनुभूति होती है। सूत्र के 'दुःखाभाव' पद में साध्य-साधन-अभेदोपचार है। दुःखाभावसाधनं दुःखाभावः यथा - 'अन्नं वै प्राणाः (प्राणसाधनम्)।

अर्थात् सुख-दुःख की अनुभूति होना मन में कर्म की स्थिति को प्रमाणित करता है; जो कि मन के क्रियाशील होने पर होती है; क्रियाशील न होने पर नहीं होती।

सूत्र के 'दुःखाभावः' पद में दुःख शब्द सांसारिक सुख अर्थ में भी प्रयुक्त है; क्योंकि उसमें दुःख सदा मिश्रित रहता है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है -

तदपि दुःखशबलमितिदुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः" (सां. ६/८)

परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।" - (योगः २/१५)।

सूत्र में 'तदनारम्भ.......' पद को प्रथमान्त भी माना जा सकता है, किन्तु तब 'यत्' आदि का अध्याहार भी करना पड़ता है। अतः सप्तम्यन्त मानना ही ठीक है ॥१६॥

प्रसंग :- अब मन आदि के अदृष्टजन्य अन्य कर्मों का निर्देश करते हैं -

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥ १७ ॥ (२१५)

[अपसर्पणम्] (पूर्व शरीर से आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का) बाहर निकल जाना, [उपसर्पणम्] (नए शरीर की प्राप्ति के लिए आत्मा आदि का) प्राप्त हो जाना(=प्रवेश कर जाना), [अशितपीतसंयोगाः] खाए, पीए आहार का संयोजन (=रस, रक्तादि के रूप में परिणाम) होना, [च] और [कार्यान्तरसंयोगाः] (घटना, बढ़ना एवं इन्द्रिय, प्राण आदि) विविध कार्यों से होनेवाले संयोग [इति] ये सब [अदृष्टकारितानि] अदृष्ट द्वारा कराए जाते हैं ।

आत्मा के साथ ही मन, इन्द्रिय आदि का आत्मा के धर्माधर्मरूप अदृष्ट के अनुसार विविध शरीरों में जाना, आना होता है ।

''स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैःसर्वैरुत्क्रामति

(द्र.-कौषीतकीब्राह्मणोप . -३/३४)

''तम् (आत्मानम्) उत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति''- (बृहदा० ४ /४/२) । [प्राणाः = इन्द्रियाँ] ।

सूत्र में अदृष्ट का तात्पर्य यहाँ आत्माओं के धर्माधर्म के अनुसार 'ईश्वरीय व्यवस्थाएँ' समझना चाहिए ।

इस अपसर्पण आदि में जीवात्मा, मन आदि 'समवायिकारण', अदृष्ट वाले आत्मा का मन आदि से संयोग 'असमवायिकारण' तथा अदृष्ट (धर्माधर्म, ईश्वरीय व्यवस्थाएँ आदि) 'निमित्तकारण' है ॥१७ ॥

प्रसंग :- यदि अपसर्पण - उपसर्पण रूप जन्म-मरण का क्रम चलता रहेगा, तो मोक्ष कैसे होगा ? इस शंका का समाधान करते हैं -

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥ (२१६)

[तदभावे] (तत्वज्ञान से) उस (= अदृष्ट = धर्माधर्म की प्रवृत्ति) का अभाव हो जाने पर [संयोगाभावः] (आत्मा का पूर्वशरीर के साथ) संयोग का अभाव [च] और [अप्रादुर्भावः] (आगे देहान्तर का) प्रादुर्भाव (= उत्पाद = प्रकट) न होना [मोक्षः] मोक्ष है ।

शास्त्रोक्त उपायों के अनुष्ठान से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर, जब प्रारब्ध कर्मफल पूरे हो जाने के पश्चात् चालू देह के छूटने पर उसे नया शरीर नहीं मिलता, तब दीर्घकालीन जन्म-मरण का क्रम छूट जाता है । यही मोक्ष का स्वरूप है; जिसमें आत्मा दीर्घकाल तक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।

योगदर्शन में भी कहा है -

तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् - (योग० २/२५) ।

अर्थात् उस (= अविद्या के) अभाव से (प्रकृति और पुरुष के अज्ञानजनित) संयोग का अभाव हो जाता है, यही हान (= पुनर्जन्मादि भावी दुःखों का अत्यन्त अभाव है) (और) वही, चेतन आत्मा का कैवल्य (=मोक्ष) है ॥१८ ॥

प्रसंग : क्यों जी ! कर्म की परीक्षा के प्रसंग में अन्धकार के चलनात्मक कर्म की भी परीक्षा करनी चाहिए; क्योंकि कृष्णरूप और गति के देखे जाने से वह भी द्रव्य प्रतीत होता है, अतः उसे भी नौ द्रव्यों से अतिरिक्त दसवाँ द्रव्य क्यों न मान लिया जाय ? इस शंका का सूत्रकार समाधान करते हैं -

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥१९ ॥ (२१७)

'..........द् भाऽभावः .... (पाठान्तर)

[द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात्] द्रव्य, गुण और कर्म की निष्पत्ति (= सिद्धि = उत्पत्ति) के विरुद्ध धर्म वाला होने से [अभावः] (प्रकाश का = तेज का) अभाव है [तमः] अन्धकार ।

कार्य द्रव्य की उत्पत्ति अवयवों से मिलकर होती है । जैसे - घट, पट, भवन आदि । किन्तु तमस् के अवयव कहीं दिखाई नहीं देते । अतः 'तमस्' द्रव्य नहीं हो सकता ।

यदि तमस् को काले वा नीले रूप का आश्रय माना जाए; तो रूप के साथ अवश्यम्भावी स्पर्श का अनुभव भी होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं होता । अतः वह द्रव्य नहीं है; क्योंकि यह द्रव्य के साथ तमस् का वैधर्म्य है ।

रूप गुण तथा रूपगुण वाले द्रव्य में कर्म का प्रत्यक्ष प्रकाश के सहयोग से चक्षु-इन्द्रिय द्वारा होता है । परन्तु तमस् (= अन्धकार) का तो प्रकाश के होते ही कहीं पता-ठिकाना नहीं रहता । यह तमस् का गुण, कर्म के साथ वैधर्म्य है ।

नील या कृष्ण रूप वाले द्रव्य में यह आवश्यक धर्म है, कि उसमें गुरुत्व, रस और गन्ध भी हो, जैसे पृथिवी में । परन्तु तमस् में ये गुरुत्व आदि नहीं होते । अतः वह नील रूप का आश्रय नहीं है । यह सब द्रव्य के साथ तमस् का वैधर्म्य है ।

इन हेतुओं से सिद्ध होता है, कि अन्धकार केवल प्रकाश का अभावमात्र है, यह कोई द्रव्य नहीं है ।

चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने '**द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाऽभावस्तमः**' सूत्रपाठ माना है । जो कि अधिक स्पष्ट है । अर्थात् भा (= ज्योति= तेज) का अभाव तमस् है ॥१९ ॥

प्रसंग :- अब अन्धकार के द्रव्य न होने में अन्य हेतु देते हैं -

तेजसो द्रव्यान्तरेणाऽऽवरणाच्च ।। २० ।। (२१८)

[तेजसः] (प्रकाशस्वभाव वाले) तेज का [द्रव्यान्तरेण] अन्य (आच्छादक) द्रव्य के द्वारा [आवरणात्] आवरण हो जाने (= ढक जाने) से (तमः की प्रतीति होने के कारण) [च] भी (तमस्, तेज (= प्रकाश) का अभाव सिद्ध होता है ।

जब प्रकाशस्वरूप तेज, किसी द्रव्य से रुक जाता है, तब आगे अन्धकार हो जाता है । और यदि आवरक द्रव्य चलता है, तो तमः (= अन्धकार = छायारूप) भी चलता प्रतीत होता है ।

वस्तुतः 'तमस्' न कोई द्रव्य है, और न उसमें कोई गति आदि कर्म हैं । वह तमस् केवल छाया है । सूर्य आदि के सामने होने पर प्रकाश होता है । पृथिवी के घूर्णन (= अपनी कीली पर घूमने) से जो गोलार्द्ध सूर्य के सामने नहीं रहता, उसमें प्रकाश के अभाव की इस स्थिति को तमस् (= अन्धकार) कहा जाता है ।।२०।।

प्रसंग :- क्या कर्म सभी द्रव्यों में होता है, अथवा कुछ क्रियारहित द्रव्य भी हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ।। २१ ।। (२१९)

[दिक्कालौ] दिशा, काल [च] और [आकाशम्] आकाश [क्रियावद्वैधर्म्यात्] क्रियावालों से विरुद्ध धर्मवाले होने से [निष्क्रियाणि] निष्क्रिय होते हैं ।

चेतन (= ईश्वर) को छोड़कर अन्य क्रियावाले द्रव्य एकदेशी होते हैं । जैसे

- पृथिवी आदि । परन्तु दिशा, काल और आकाश विभु हैं । इनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना-आना नहीं हो सकता । अतः ये निष्क्रिय हैं ।

चेतन (= ईश्वर, जीव) को छोड़कर अन्य क्रियावाले द्रव्य सावयव होते हैं । जैसे - पृथिवी, जल आदि । परन्तु दिशा आदि तीनों निरवयव हैं । अतः ये निष्क्रिय हैं ।

ईश्वर विभु और निरवय होते हुए भी चैतन्यरूप होने से क्रियावान् है । वह संसार की उत्पत्ति, संचालन और प्रलय करता है । यथा - **'एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति'** - (श्वेताः ६/१२)

अर्थात् वह अकेला ईश्वर बहुत से निष्क्रिय तत्त्वों को वश में करने वाला है । वह एक बीज-रूप प्रकृति को अनेक बना देता है ।

इसी प्रकार जीवात्मा निरवयव होते हुए भी चेतनता के कारण क्रियावान् है; जो सब करणों (= साधनों) का सञ्चालन करता है । पर वह अल्पशक्ति होने से अहंकार आदि साधनों के बिना कर्म करने में समर्थ नहीं होता । परन्तु सब साधनों का प्रेरक होने से कर्मों का उत्तरदायित्व एवं फल उसी के होते हैं ।

इस सूत्र में निष्क्रियों के साथ पाठ न होने से भी आत्मा को सक्रिय समझना चाहिए । परन्तु चेतन की क्रिया पृथिवी आदि के समान स्वयं में परिणामकारिणी नहीं होती; क्योंकि उसके अवयव ही नहीं होते ।

यहाँ अन्य व्याख्याताओं के हेतु उचित प्रतीत नहीं होते ।।२१।।

प्रसंग :- अव दिशा आदि के समान कर्म और गुण दोनों को निष्क्रिय वताते हैं -

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ।।२२।। (२२०)

[एतेन] इस (क्रियावालों से विरुद्ध धर्मवाले होने के कथन) से [कर्माणि] कर्म [च] और [गुणाः] गुण [व्याख्याताः] (निष्क्रिय) व्याख्यात (समझने चाहिए)।

जिस प्रकार गतसूत्र के व्याख्यान में चेतनभिन्न क्रियावालों को सावयव तथा एकदेशी परिणामवाला होना कहा है । उनसे विरुद्ध धर्मवाले कर्म और गुण होते हैं; क्योंकि सावयव होना या परिमाणगुणवाला होना केवल द्रव्य का ही धर्म है । कर्म और गुण तो अन्य परिमाण आदि गुणों से रहित होते हैं - (अगुण, अगुणवान्) । अतः इन दोनों में भी क्रिया होना सम्भव नहीं । इसलिये ये निष्क्रिय हैं ।।२२।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार निष्क्रिय (द्रव्याद्रव्यों) के कर्म के साथ समवाय-सम्बन्ध का निषेध करते हैं -

निष्क्रियाणां समवायःकर्मभ्यो निषिद्धः ।।२३।। (२२१)

''कर्मभिः प्रतिषिद्धः'' - (पाठा.)

[निष्क्रियाणाम्] निष्क्रिय द्रव्यों (-दिशा, काल, आकाश) तथा अद्रव्यों (-कर्मों व गुणों) का [समवायः] समवाय सम्बद्ध [कर्मभ्यः] उत्क्षेपणादि कर्मों से (= कर्मों के हेतु से) [निषिद्धः] निषिद्ध (= रहित) है ।

समवाय-सम्बद्ध पाँच प्रकार का होता है -

१. अवयव - अवयवी (द्रव्य)

२. गुण-गुणी (द्रव्य)

३. क्रिया-क्रियावान् (द्रव्य)

४. जाति - व्यक्ति (द्रव्य, गुण, कर्म)

५. विशेष - अन्त्य नित्य (परमाणु)

संख्या ३ का समवाय-सम्बद्ध केवल क्रियावाले द्रव्यों में ही होता है। अर्थात् उत्क्षेपणादि कर्मों का क्रियावाले द्रव्यों (= जिनमें क्रिया होती है; ऐसे पृथिवी, जल आदि) के साथ ही समवाय-सम्बद्ध होता है; निष्क्रिय द्रव्यों (= दिशा, काल और आकाश) के साथ नहीं होता। अथवा उत्क्षेपण आदि कर्मों के हेतु से दिशा आदि समवायि-कारण नहीं होते। अर्थात् इन उत्क्षेपणादि कर्मों के दिशा आदि द्रव्य समवायि-कारण नहीं होते।

जैसे - प्रातः पक्षी व जहाज पूर्व से उड़कर आकाश में पश्चिम दिशा में गया; .अथवा चन्द्रमा पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त हो गया। यहाँ पक्षी, जहाज, चन्द्र आदि ही उत्क्षेपणादि कर्म के समवायि-कारण हैं। दिशा आदि का संयोग तो 'निमित्तकारण' ही है। निष्क्रिय द्रव्य तो कुछ गुणों के ही 'समवायिकारण' होते हैं।

इसी प्रकार निष्क्रिय गुण और कर्म, क्रिया के समवायिकारण नहीं होते। अर्थात् कर्मों और गुणों का जो क्रियावाले वा गुणों वाले द्रव्यों के साथ समवाय-सम्बद्ध होता है, वह कर्म के हेतु से नहीं होता। द्रव्य के साथ कर्म वा गुण का समवाय-सम्बन्ध तो नित्य है। किन्तु वह सम्बन्ध क्रिया के द्वारा उत्पादित नहीं होता ॥२३॥

३ - अथ कर्मपदार्थनिरूपणम्

३/१ (५७) - उत्क्षेपणादिकर्मप्रकरणम्

द्रव्य तथा गुण - इन दो पदार्थों के निरूपण के पश्चात् तृतीय कर्मपदार्थ का निरूपण करते हुए पूर्वोक्त उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों के परस्पर साधर्म्य और द्रव्यादि पाँच पदार्थों के वैधर्म्य का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार वैशे. सू. - १/१/७,

११,१४,१७, १९, २०, २१, २२, ३०, ३१; २/१/२१ अ. ५;१०/२/३ आदि के अनुसार कहते हैं -

(प्रश.) :- उत्क्षेपणादीनां पञ्चानामपि कर्मत्वसम्बन्धः, एकद्रव्यवत्त्वं, क्षणिकत्वं, मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वम्, अगुणवत्त्वं, गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नसंयोगवत्त्वं, स्वकार्यसंयोगविरोधित्वं, संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वम्, असमवायिकारणत्वं, स्वपराश्रयसमवेतकार्यारम्भकत्वं, समानजातीयानारम्भकत्वं, द्रव्यानारम्भकत्वं च प्रतिनियतजातियोगित्वम्, दिग्विशिष्टकार्यारम्भकत्वं च विशेषः ।

तत्रोत्क्षेपणं शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च यदूर्ध्वभाग्भिः प्रदेशैः संयोगकारणमधोभाग्भिश्च प्रदेशैः विभागकारणं कर्मोत्पद्यते गुरुत्वप्रयत्नसंयोगेभ्यः तदुत्क्षेपणम् ।

तद्विपरीतसंयोगविभागकारणं कर्मापक्षेपणम् ।

ऋजुनो द्रव्यस्यावयवानां तद्देशैर्विभागः संयोगश्च मूलप्रदेशैः येनकर्मणावयवी कुटिलः संजायतेतदाकुञ्चनम् ।

तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येन कर्मणावयवी ऋजुः सम्पद्यते तत् प्रसारणम् । यदनियतदिक्प्रदेशसंयोगविभागकारणं तद् गमनमिति ॥

उत्क्षेपण, अपक्षेपण (= अवक्षेपण), आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन नामक पाँचों प्रकार के कर्मों के १ - कर्मत्व जाति के साथ सम्बन्ध, २ - एक समय में एक द्रव्य में एक ही कर्म होना, ३- क्षणिक होना, ४ - (पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन - इन) मूर्त्त द्रव्यों में ही रहना, ५- गुणरहित होना, ६- (पतन क्रिया का) गुरुत्व, (स्यन्दन क्रिया का) द्रवत्व, (हिताहित के प्राप्ति-परिहार की चेष्टारूप क्रिया का) प्रयत्न एवं (द्रव्योत्पादन क्रिया का) अवयवसंयोग - इन यथासम्भव चार गुणों से उत्पन्न होना, ७ - अपने द्वारा उत्पन्न संयोग से नष्ट होना, ८ - किसी अन्य की

अपेक्षा के विना संयोग और विभाग को उत्पन्न करना, ९ - असमवायिकारण होना, १० - अपने आश्रयरूप द्रव्य में एवं उससे भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले (संयोग और विभागरूप) कार्य को उत्पन्न करना, ११ - अपने समान जाति की क्रिया को उत्पन्न न करना, १२ - द्रव्य को उत्पन्न न करना (क्योंकि क्रिया से उत्पन्न उत्तरसंयोगरूप कार्य से क्रिया के निवृत्त हो जाने पर द्रव्य उत्पन्न होता है। अतः क्रिया परोक्षरूप से ही द्रव्य की उत्पत्ति में कारण है, सीधे नहीं। अर्थात् क्रिया >उत्तरसंयोग >द्रव्य), १३ - उत्क्षेपणादि भिन्न-भिन्न कर्मों में व्यवस्थित उत्क्षेपणत्व आदि जातियों का सम्बन्ध होना एवं १४ - दिशा-विशेष में कार्यों को उत्पन्न करना - ये चौदह धर्म द्रव्यादि पाँच पदार्थों से विशेष (=असाधारण) हैं। (किन्तु ये, उत्क्षेपण आदि के परस्पर साधर्म्य हैं।)

[अब उत्क्षेपणादि कर्मों का स्वरूप अर्थात् उनका परस्पर वैधर्म्य बताते हैं -] उक्त उत्क्षेपणादि कर्मों में से जो कर्म शरीर के (हस्त-पाद आदि) अवयवों में तथा उनसे संयुक्त (मुसल आदि) द्रव्यों में भी ऊपर के देश के साथ संयोग का कारण हो एवं नीचे के प्रदेशों के साथ उन्हीं के विभाग का भी कारण हो तथा गुरुत्व, प्रयत्न एवं संयोग से उत्पन्न हो, उस कर्म को **'उत्क्षेपण'** कहते हैं।

उस (उत्क्षेपण) के विपरीत अर्थात् शरीर के अवयव तथा उनसे सम्बद्ध मुसलादि द्रव्यों में भी नीचे के देश के साथ संयोग एवं ऊर्ध्वदेश से उनके विभाग को उत्पन्न करनेवाला कर्म **'अपक्षेपण'** (= अवक्षेपण) कहाता है।

सीधे द्रव्य के आगे के अवयवों का उनके आश्रय-प्रदेश से विभाग और मूल-प्रदेश के साथ संयोग जिस क्रिया से होता है (अर्थात्) जिस क्रिया से अवयवी कुटिल होता है (= सिकुड़ जाता है, सिमट जाता है), उसी को **'आकुञ्चन'** कहते हैं।

(इसके विपरीत) जिस क्रिया से उक्त संयोग के विपरीत संयोग एवं उक्त विभाग के विपरीत विभाग उत्पन्न होने पर (कुटिल = सिकुड़ा हुआ) अवयवी सीधा हो जाय, उसी क्रिया को **'प्रसारण'** कहते हैं।

जो क्रिया अनियमित रूप से जिस किसी दिशा प्रदेश के साथ संयोग एवं विभाग को उत्पन्न करे वह **'गमन'** नामक कर्म कहाता है। (इति=) इस प्रकार (पाँच कर्म हैं) ॥

३/२ (५८) गमनप्रकरणम्

(प्रश.):- एतत् पञ्चविधमपि कर्म शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च सत्प्रत्ययम् असत्प्रत्ययं च। यदन्यत् तदप्रत्ययमेव, तेष्वन्येषु च तद् गमनमिति।

कर्मणां जातिपञ्चकत्वमयुक्तम् गमनाविशेषात्। सर्वं हि क्षणिकं कर्म गमनमात्रमुत्पन्नं स्वाश्रयस्योर्ध्वमधस्तिर्यग्वापि अणुमात्रैः प्रदेशैः संयोगविभागान् करोति, सर्वत्र गमनप्रत्ययोऽविशिष्टस्तस्माद् गमनमेव सर्वमिति।

न, वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात्। इहोत्क्षेपणं परत्रापक्षेपणमित्येवमादि सर्वत्र वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती दृष्टे, तद्धेतुः सामान्यविशेषभेदोऽवगम्यते। तेषामुदाद्युपसर्गविशेषात् प्रतिनियतदिग्विशिष्टकार्यारम्भत्वादुपलक्षणभेदोऽपि सिद्धः।

एवमपि पञ्चैवेत्यवधारणानुपपत्तिः। निष्क्रमणप्रवेशनादिष्वपि वर्गशःप्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात्। यद्युत्क्षेपणादिषु सर्वत्र वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनाज्जातिभेद इष्यते, एवञ्च निष्क्रमणप्रवेशनादिष्वपि। कार्यभेदात् तेषु प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती इति चेत्?

न, उत्क्षेपणादिष्वपि कार्यभेदादेव प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिप्रसङ्गः।

अथ समाने वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिसद्भावे उत्क्षेपणादीनामेव जातिभेदो न निष्क्रमणादीनाम् इत्यत्र विशेषहेतुरस्तीति ।

न, जातिसङ्करप्रसङ्गात् । निष्क्रमणादीनां जातिभेदात् प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तौ जातिसङ्करः प्रसज्यते ।

कथम् ?

द्वयोर्द्रष्ट्रोरेकस्मादपवरकादपवरकान्तरं गच्छतो युगपन्निष्क्रमणप्रवेशनप्रत्ययौ दृष्टौ, तथा द्वारप्रदेशे प्रविशति निष्क्रामतीति च । यदा तु प्रतिसीराद्यपनीतं भवति, तदा न प्रवेशनप्रत्ययो नापि निष्क्रमणप्रत्ययः किन्तु गमनप्रत्यय एव भवति । तथा नालिकायां वंशपत्रादौ पतति बहूनां द्रष्टॄणां युगपद् भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्यया दृष्टा इति जातिसङ्करप्रसङ्गः । न चैवमुत्क्षेपणादिषु प्रत्ययसङ्करो दृष्टः । तस्मादुत्क्षेपणादीनामेव जातिभेदात् प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती, निष्क्रमणादीनां तु कार्यभेदादिति ।

कथं युगपत् प्रत्ययभेद इति चेत् ? अथ मतम् - 'यथा जातिसङ्करो नास्ति, एवमनेककर्मसमावेशोपि नास्तीत्येकस्मिन् कर्मणि युगपद् द्रष्टॄणां भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्ययाः कथं भवन्तीति' ?

अत्र ब्रूम : - न, अवयवावयविनोर्दिग्विशिष्टसंयोगविभागानां भेदात् । यो हि द्रष्टा अवयवानां पार्श्वतः पर्यायेण दिक्प्रदेशैः संयोगविभागान् पश्यति, तस्य भ्रमणप्रत्ययो भवति, यो ह्यवयविनः ऊर्ध्वप्रदेशैर्विभागमधःसंयोगं चावेक्षते तस्य पतनप्रत्ययो भवति । यः पुनर्नालिकान्तर्देशे संयोगं बहिर्देशे च विभागं पश्यति, तस्य प्रवेशनप्रत्ययो भवतीति सिद्धः कार्यभेदान्निष्क्रमणादीनां प्रत्ययभेद इति । भवतूत्क्षेपणादीनां जातिभेदात् प्रत्ययभेदः, निष्क्रमणादीनां तु कार्यभेदादिति ।

अथ गमनत्वं किं कर्मत्वपर्यायः ? आहोस्विदपरं सामान्यमिति ?

कुतस्ते संशयः ?

समस्तेषूत्क्षेपणादिषु कर्मप्रत्ययवद् गमनप्रत्ययाविशेषात् कर्मत्वपर्याय इति गम्यते। यतस्तूत्क्षेपणादिवद् विशेषसञ्ज्ञयाभिहितं तस्मादपरं सामान्यं स्यादिति ?

न, कर्मत्वपर्यायत्वात्। आत्मत्वपुरुषत्ववत् कर्मत्वपर्याय एव गमनत्वमिति।

अथ विशेषसञ्ज्ञया किमर्थं गमनग्रहणं कृतिमिति ?

न, भ्रमणाद्यवरोधार्थत्वात्। उत्क्षेपणादिशब्दैरनवरुद्धानां भ्रमणपतनस्यन्दनादीनामवरोधार्थं गमनग्रहणं कृतमिति। अन्यथा हि यान्येव चत्वारि विशेषसञ्ज्ञयोक्तानि तान्येव सामान्यविशेषसञ्ज्ञाविषयाणि प्रसज्येरन्निति।

अथवा अस्त्वपरं सामान्यं गमनत्वम्, अनियतदिग्देशसंयोगवि भागकारणेषु भ्रमणादिष्वेव वर्तते, गमनशब्दश्चोत्क्षेपणादिषु भाक्तो द्रष्टव्यः, स्वाश्रयसंयोगविभागकर्तृत्वसामान्यादिति॥

यह पूर्वोक्त उत्क्षेपणादि पाँचों प्रकार का कर्म शरीर के हस्त-पाद इत्यादि अवयव एवं उनसे सम्बद्ध मुसल-बाण इत्यादि द्रव्यों में भी उत्पन्न होता है, जो 'सत्प्रत्यय' (=आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न) तथा 'असत्प्रत्य' (=बिना प्रयत्न के उत्पन्न) नाम से दो प्रकार का होता है। इन दोनों से भिन्न जो विना प्रयत्न के होता है, वह 'अप्रत्यय' कर्म कहाता है (क्योंकि उसमें हम लोगों के प्रयत्न का व्यापार नहीं होता) वह उन (=शरीरवयवों) में या दूसरे (=मूसलादि) में या उनसे भिन्न द्रव्यों में भी उत्पन्न होता है, वह (उत्क्षेपणादि चार कर्मों से विलक्षण होने के कारण 'गमन' में ही अन्तर्भूत समझना चाहिए।

(शंका) - उक्त कर्मों में उत्क्षेपणत्वादि पाँच जाति मानना असंगत है; क्योंकि सभी कर्मों में गमनत्व की प्रतीति समान रूप से होती है। (अर्थात्) सभी क्रियाएं क्षणिक हैं, वे पहले गमनरूप ही उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न होने के पश्चात् गमन के आश्रयद्रव्यों के ऊपर के प्रदेश, नीचे के प्रदेश या पार्श्वप्रदेश के साथ थोड़े

से संयोगों और विभागों को उत्पन्न करती हैं ; किन्तु सभी उत्क्षेपणादि कर्मों में ('ऊपर की ओर जा रहा है', नीचे की ओर आ रहा है' - इस प्रकार से) गमन की प्रतीति समान रूप से होती है । इसलिए सभी कर्म गमनरूप ही हैं ।

(समा०-) (उत्क्षेपणादि क्रियाओं को गमनक्रिया से अभिन्न कहना) ठीक नहीं है ; क्योंकि प्रत्येक (उत्क्षेपणादि कर्म के) समूह में (अपने वर्ग से) समानजातीय प्रतीति एवं (अपक्षेपणादि कर्म से भिन्नत्व की प्रतीतिरूप) व्यावृत्तिबुद्धि देखी जाती है । (अर्थात्) 'यहाँ उत्क्षेपण कर्म है' और 'दूसरी जगह अपक्षेपण कर्म है' - इस प्रकार प्रत्येक कर्म में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुवृत्ति - प्रतीति और व्यावृत्तिप्रतीति देखी जाती हैं । उन प्रतीतियों का कारण सामान्य -विशेषों (उत्क्षेपणत्व-अपक्षेपणत्व आदि) का भेद जाना जाता है । [अर्थात् गमनत्वरूप सामान्य जातियों और उत्क्षेपणत्वादिरूप विशेष जातियों की भिन्नता ही कारण है ।] उन (=उत्क्षेपणादि शब्दों) के 'उत्' 'अप' आदि उपसर्गों के विशेष (भेद) से, ऊर्ध्व, अधः, पार्श्व इत्यादि व्यवस्थित दिशा में संयोग-विभागरूप कार्य - भेद के आरम्भ होने से उपलक्षणभेद अर्थात् उत्क्षेपण आदि प्रतीतियों का भेद भी सिद्ध होता है ।

(शंका) ऐसा होने पर भी 'कर्म पाँच प्रकार के ही हैं' - ऐसा निश्चय नहीं हो सकता; क्योंकि निष्क्रमण (निकलना), प्रवेश करना इत्यादि कर्मों में भी प्रत्येक वर्ग में विभिन्न प्रकार की अनुवृत्ति (=समान-जातीय-) प्रतीतियाँ और व्यावृत्ति (=भिन्न- जातीय-) प्रतीतियाँ होती हैं । यदि उत्क्षेपणादि प्रत्येक क्रिया समूह में विभिन्न प्रकार की अनवृत्तिप्रतीति एवं व्यावृत्तिप्रतीति से उत्क्षेपणादि विभिन्न जातियों की कल्पना करते हैं, तो फिर उसी युक्ति से निष्क्रमण और प्रवेशन आदि क्रियाओं में भी विभिन्न जातियों की कल्पना की जा सकती है ।

यदि सिद्धान्ती यह कहे, कि ('निष्क्रमणादि कर्मों का निष्क्रमणत्व प्रवेशनत्व आदि, जातिभेद के कारण नहीं अपितु निकलना प्रवेश करना इत्यादि) कार्यभेद से उनमें अनुवृत्तिप्रतीति एवं व्यावृत्तिप्रतीतिरूप भेद है', तो ऐसा कहना ठीक नहीं;

क्योंकि (तब तो समान न्याय से) उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में भी ऊर्ध्वसंयोगादि रूप कार्यों के भेद से ही, उत्क्षेपण' इत्यादि अनुगत तथा व्यावृत्तिबुद्धि होने की आपत्ति आ जाएगी।

और यदि उत्क्षेपणादि समान क्रियाओं के समूह में ही अनुवृत्ति और व्यावृत्ति के कारणरूप में उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों की कल्पना की जाय, किन्तु निष्क्रमण, प्रवेशनादि क्रियाओं में ठीक वही युक्ति होने पर भी विभिन्न जातियों की कल्पना न की जाय, तो ऐसा कहने में कोई विशेष नियामक हेतु नहीं है। (अतः 'उत्क्षेपणादि पाँच ही कर्म हैं' - यह सिद्धान्त असंगत है।)'

(समा०) ऐसा नहीं है (अर्थात् आपका आक्षेप असंगत है;) क्योंकि यदि उत्क्षेपणत्वादि के समान निष्क्रमणत्वादि जातियाँ मानी जाएं तो एक वस्तु में अनेक विरुद्ध जातियों का समवायरूप साङ्कर्य दोष आ जाएगा। अर्थात् निष्क्रमणादि क्रियाओं में यदि विभिन्न जातियों के कारण अनुवृत्ति और व्यावृत्ति की प्रतीति मानें तो इसमें साङ्कर्य दोष होगा।

(प्र०)- (साङ्कर्य दोष) किस प्रकार होगा ?

(उ०) दो द्रष्टा पुरुषों को एक प्रकोष्ठ से दूसरे प्रकोष्ठ में जानेवाले प्राणी के प्रति एक ही समय में (जिस प्रकोष्ठ से निकल रहा है, उस प्रकोष्ठ में स्थित एक द्रष्टा को) 'निकल रहा है'- ऐसी प्रतीति (और जिस प्रकोष्ठ में प्रवेश कर रहा है उसमें स्थित द्रष्टा को) 'यह प्रवेश कर रहा है' ऐसी प्रतीति (एक दूसरे से विरुद्ध) देखी जाती है। उसी प्रकार (न्यूनतम दो प्रकोष्ठोंवाले एवं मध्यस्थ द्वार से सम्बद्ध प्रकोष्ठों वाले घर में उस मध्यस्थ द्वार से जाते हुए एक ही व्यक्ति के प्रति दोनों प्रकोष्ठों में स्थित द्रष्टाओं में से एक द्रष्टा को) 'यह द्वार से निकल रहा है', (उसी समय दूसरे प्रकोष्ठ में स्थित द्रष्ट को) 'यह द्वार से प्रवेश कर रहा है ' (- इस प्रकार की दोनों प्रतीतियाँ होती हैं।) किन्तु जब विभाजक मध्यस्थ परदा, द्वार, दीवार आदि आवरण हटा दिया जाता है, तब उन्हीं दोनों व्यक्तियों को न प्रवेश

की प्रतीति होती है और न निकलने की प्रतीति होती है। तव तो केवल चलने / गमन की ही प्रतीति होती है।

उसी प्रकार पानी बहती हुई नाली में बाँस, नीम इत्यादि वृक्षों की सूखी पत्तियों के गिरने पर अनेक द्रष्टा पुरुषों में से किसी को 'पानी में पत्ती घूमती है', किसी को 'पानी में पत्ती गिरती है',तथा किसी द्रष्टा पुरुष को 'पानी में पत्ती प्रवेश करती है' - ऐसी अनेक प्रतीतियाँ एक साथ देखी जाती हैं। अतः निष्क्रमणत्वादि को जातियाँ मानने पर जातिसङ्कर दोष की आपत्ति होगी। किन्तु उत्क्षेपणादि क्रियाओं में इस प्रकार के ज्ञानों का साङ्कर्य नहीं देखा जाता। अतः यह मानना चाहिए कि उत्क्षेपणादि कर्मों का ही उत्क्षेपणत्वादि जातियों के भेद से 'उत्क्षेपण, अपक्षेपण' आदि प्रतीतियों की अनुगतबुद्धि एवं व्यावृत्तिबुद्धि होती है; किन्तु निष्क्रमणादि क्रियाओं में उक्त दोनों प्रतीतियाँ कार्यों की विभिन्नता से होती हैं।

(शंका) - एक ही समय में (एक ही क्रिया में) उक्त विभिन्न प्रतीतियाँ कैसे होती हैं ? अर्थात् जिस प्रकार (उत्क्षेपणत्वादि जातियों के मानने पर उनमें) जातिसङ्कररूप दोष नहीं होता, (उसी प्रकार) एक ही समय में एक ही वस्तु में (निष्क्रमण, प्रवेशन आदि) अनेक कर्मों का रहना भी सम्भव नहीं है। इसलिए एक ही समय में एक ही द्रव्य में अनेक देखने वालों को (भी) भ्रमण, पतन एवं प्रवेशन-विषयक प्रतीतियाँ कैसे हो सकती हैं ?

(समा०) - इस शंका के समाधान के रूप में हम कहते हैं, कि (उक्त प्रतीतियाँ असम्भव) नहीं हैं; क्योंकि (एक ही वस्तु में एक ही समय में भ्रमणादि की प्रतीतियाँ नाली में गिरे पत्ते आदि) अवयवी एवं उनके अवयवों की विभिन्न दिशाओं में उत्पन्न हुए संयोग - विभागादि कार्यों की भिन्नता से होती हैं।

देखने वालों में जो व्यक्ति अवयवों के पार्श्वभागों में क्रम से दिक्प्रदेशों के साथ संयोगों और विभागों को देखता है, उसे उनमें भ्रमण (= घूमने) की प्रतीति होती है। जो व्यक्ति अवयवी (= पत्ते) का ऊपर के प्रदेशों से विभाग और नीचे

के प्रदेश के साथ संयोग (-इन दोनों) को देखता है, उस व्यक्ति को उस पत्ते आदि में पतन क्रिया की प्रतीति होती है। और जो व्यक्ति उस अवयवी (= पत्ते) का नाली के भीतर के प्रदेश के साथ संयोग और ऊपर के प्रदेश से विभाग को देखता है, उस व्यक्ति को उसी अवयवी में प्रवेशन की प्रतीति होती है . इस प्रकार कार्यों के भेद से निष्क्रमणादि में अनुवृत्ति की प्रतीतियाँ एवं व्यावृत्ति की प्रतीतियाँ सिद्ध होती हैं। इसलिए उत्क्षेपणादि क्रियाओं में उत्क्षेपणत्वादि जातियों की विभिन्नता से विभिन्न प्रकार की अनुवृत्ति - प्रतीतियाँ एवं व्यावृत्ति प्रतीतियाँ भले ही हों; किन्तु निष्क्रमणादि क्रियाओं में तो कार्यों की विभिन्नता से ही अनुवृत्ति की प्रतीतियाँ और व्यावृत्ति की प्रतीतियाँ होती है।

(शंका) - क्या गमनत्व शब्द कर्मत्व का (घटत्व कलशत्व के समान) पर्यायवाची (=नामान्तर) है ? अथवा गमनत्व नाम की (कर्मत्व से व्याप्य) (उत्क्षेपणत्वादि के समान) स्वतन्त्र जाति है ?

(सिद्धान्ती का प्रश्न -) - तुम (पूर्वपक्षी) को संशय ही क्यों हुआ ?

(पूर्वपक्षी का उत्तर-) क्योंकि उत्क्षेपणादि सभी क्रियाओं में 'यह कर्म है' इस प्रकार की प्रतीति के समान सभी क्रियाओं में गमनत्व की भी प्रतीति होती है . [जैसे ऊपर की ओर जाता है, नीचे की ओर जाता है, मूल प्रदेश में जाता है, अग्रप्रदेश में जाता है - इत्यादि में गमनत्व की भी प्रतीति होती है।] इससे ऐसा लगता है, कि कर्मत्व और गमनत्व ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। किन्तु जिस कारण उत्क्षेपणादि के समान 'गमन' नाम की भी एक अलग क्रिया कही गयी है, इससे यह भी प्रतीत होता है, कि उत्क्षेपणत्वादि के समान गमनत्व नाम की कर्मत्व से व्याप्य एक स्वतन्त्र जाति ही है। [इसीलिए दोनों प्रकार के धर्मों की उपलब्धि होने से तथा एक पक्ष के साधक विशेष प्रमाण के न होने से भी यह संशय होता है, कि क्या कर्मत्व के समान गमनत्व दूसरी जाति है, अथवा उत्क्षेपणादिकों के समान अपर सामान्य है।]

(समा०) - (उक्त संशय का यहाँ कोई हेतु) नहीं है; क्योंकि आत्मत्व और पुरुषत्व के समान गमनत्व भी कर्मत्व का पर्याय (समानार्थक शब्द) हैं।

(पूर्वपक्षी का प्रश्न) - फिर (उत्क्षेपणादि के समान) विशेष नाम के द्वारा 'गमन' का उल्लेख क्यों किया गया है ?

(सिद्धान्ती का उत्तर) - (गमन शब्द का ग्रहण उत्क्षेपणत्वादि के समान कर्मत्वव्याप्य अतिरिक्त जातिरूप क्रिया समझाने के लिए) नहीं है, अपितु भ्रमण, पतन, रेचन आदि क्रियाओं के संग्रह के लिए है। (अर्थात्) उत्क्षेपणादि नामों के द्वारा संगृहीत न होने वाले भ्रमण, पतन, स्यन्दन, रेचन आदि क्रियाओं के संग्रह (=कर्मत्वज्ञापन) के लिए (उत्क्षेपणादि शब्दों की पङ्क्ति में) 'गमन' शब्द का ग्रहण किया है। अन्यथा (=भ्रमण आदि क्रियाओं के संग्रह के लिए यदि 'गमन' शब्द का ग्रहण न किया जाता, तो) जो उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन और प्रसारण इन चार नामों से कहे गये चार कर्म हैं उतने ही कर्म समझे जाते (इन उत्क्षेपणादि चार क्रियाओं से भिन्न भ्रमण, पतन आदि को क्रिया ही नहीं समझा जाता)।

अथवा गमनत्व को (उत्क्षेपणादि के समान कर्मत्व से व्याप्य कर्मत्व का) अवान्तर सामान्य माना जा सकता है (अर्थात् 'गमनत्व' कर्मत्व का पर्याय नहीं है)। (यह गमन) अनियमित दिशाओं और अनियत देशों में संयोग और विभाग को उत्पन्न करने वाली भ्रमण, पतन आदि क्रियाओं में ही नियमित रूप से रहता है। (अर्थात् नियत दिशाप्रदेशों के साथ संयोग तथा विभागों के कारणभूत उत्क्षेपणादि कर्मों में नहीं रहता।)

[पूर्वपक्षी का प्रश्न) - तो फिर उत्क्षेपणादि चार कर्मों में 'ऊर्ध्वं गच्छति' =ऊपर को जाता है इत्यादि रूप में गमन का व्यवहार क्यों होता है ?]

(सिद्धान्ती का उत्तर) उत्क्षेपणादि में गमन की प्रतीति गौण है, मुख्य नहीं; क्योंकि जिस प्रकार उत्पन्न हुआ उत्क्षेपणादि कर्म अपने आश्रय का पदार्थान्तर के साथ संयोग तथा विभागों को करता है उसी प्रकार गमन क्रिया भी करती है।

[**विशेष :- (शंका)** विभिन्न तर्कों से उक्त दोनों पक्षों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है । इन दोनों पक्षों में से आचार्य प्रशस्तदेव को कौन-सा मत सम्मान्य है ?

(समा०) - उक्त पाँचों कर्मों में से प्रत्येक में नियत कर्मत्वजातिसम्बन्ध के कथन से गमनत्व उत्क्षेपणत्वादि के समान अपर सामान्य है, (कर्मत्व का पर्यायवाची नहीं) यह अन्तिम पक्ष ही आचार्य प्रशस्तदेव को अभिमत है । जैसा कि महर्षि कणाद ने भी कहा है - **"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि"** - (वैशे० १/१/७)]

३/३ (५९) - सत्प्रत्ययकर्मप्रकरणम्

पूर्वप्रसंग में सत्प्रत्यय तथा असत्प्रत्यय भेद से दो प्रकार के कर्म कह चुके हैं । उनमें से सत्प्रतत्य (=प्रयत्नपूर्वक) कर्म का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) सत्प्रत्ययकर्मविधः । कथम् ? चिकीर्षितेषु यज्ञाध्ययदानकृष्यादिषु यदा हस्तमुत्क्षेप्तुमिच्छति अपक्षेप्तुं वा, तदा हस्तवत्यात्मप्रदेशे प्रयत्नः सञ्जायते । तं प्रयत्नं गुरुत्वं चापेक्षमाणादात्महस्तसंयोगाद्धस्ते कर्म भवति, हस्तवत् सर्वशरीरावयवेषु पादादिषु शरीरे च ।

तत्सम्बद्धेष्वपि कथम् ? यदा हस्ते मुसलं गृहीत्वेच्छां करोति 'उत्क्षिपामि हस्तेन मुसलम्' इति, तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगाद् यस्मिन्नेव काले हस्ते उत्क्षेपणकर्मोत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले तमेव प्रयत्नमपेक्षमाणाद् हस्तमुसलसंयोगाद् मुसलेऽपि कर्मेति ।

ततो दूरमुत्क्षिप्ते मुसले तदर्थेच्छा निवर्तते । पुनरपि अपक्षेपणेच्छोत्पद्यते। तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणाद् यथोक्तात् संयोगाद् हस्तमुसलयोर्युग-पदपक्षेपणकर्मणी भवतः। ततोऽन्येन मुसलकर्मणा उलूखलमुसलयोरभिघाताख्यः

संयोगः क्रियते। स संयोगो मुसलगतवेगमपेक्षमाणोऽप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म करोति । तत् कर्म अभिघातापेक्षं मुसले संस्कारमारभते । तमपेक्ष्य मुसलहस्तसंयोगोऽप्रत्ययं हस्तेप्युत्पनतनकर्म करोति। यद्यपि प्राक्तनः संस्कारो विनष्टः तथापि मुसलोलूखलयोः संयोगः पटुकर्मोत्पादकः संयोगविशेषभावात् तस्य संस्कारारम्भे साचिव्यसमर्थो भवति।

अथवा प्राक्तन एव पटुः संस्कारोऽभिघातादविनश्यन्नवस्थित इति। अतः संस्कारवति पुनः संस्कारारम्भो नास्ति, अतो यस्मिन् काले संस्कारापेक्षाद -भिघातादप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म, तस्मिन्नेव काले तमेव संस्कारमपेक्षमाणाद् मुसलहस्तसंयोगादप्रत्ययं हस्तेऽप्युत्पतनकर्मेति।

पाणिमुक्तेषु गमनविधिः कथम् ? यदा तोमरं हस्तेन गृहीत्वा उत्क्षेप्तुमिच्छोत्पद्यते, तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणाद् यथोक्तात् संयोगद्वयात् तोमरहस्तयोर्युगपदाकर्षणकर्मणी भवतः । प्रसारिते च हस्ते तदाकर्षणार्थः प्रयत्नो निवर्तते। तदनन्तरं तिर्यगूर्ध्वं दूरमासन्नं वा क्षिपामीतीच्छा सञ्जायते। तदनन्तरं तदनुरूपः प्रयत्नः, तमपेक्षमाणस्तोमरहस्तसंयोगो नोदनाख्यः। तस्मात् तोमरे कर्मोत्पन्नं नोदनापेक्षं तस्मिन् संस्कारमारतभते। ततः संस्कारनोदनाभ्यां तावत् कर्माणि भवन्ति यावद् हस्ततोमरविभाग इति । ततो विभागान्नोदने निवृत्ते संस्कारादूर्ध्वं तिर्यग् दूरमासन्नं वा प्रयत्नानुरूपाणि कर्माणि भवन्ति आपतनादिति।

तथा यन्त्रमुक्तेषु गमनविधिः। कथम् ? यो बलवान् कृतव्यायामो वामेन करेण धनुर्विष्टभ्य दक्षिणेन शरं सन्धाय सशरां ज्यां मुष्टिना गृहीत्वा आकर्षणेच्छां करोति 'सज्येष्वाकर्षयाम्येतद् धनुरिति' । तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणाद् आत्महस्तसंयोगाद् आकर्षणकर्म हस्ते यदैवोत्पद्यते तदैव तमेव प्रयत्नमपेक्षमाणाद् हस्तज्याशरसंयोगाद् ज्यायां शरे च कर्म, प्रयत्नविशिष्टहस्तज्याशरसंयोगमपेक्ष -

माणाभ्यां ज्याकोटिसंयोगाभ्यां कर्मणी भवतो धनुष्कोट्योरित्येतत् सर्वं युगपत् । एवम् आकर्णादाकृष्टे धनुषि नातः परमनेन गन्तव्यमिति यज्ज्ञानं ततस्तदाकर्षणार्थस्य प्रयत्नस्य विनाशः, ततः पुनर्मोक्षणेच्छा सञ्जायते, तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणाद् आत्माङ्गुलिसंयोगाद् अङ्गुलिकर्म, तस्माज्ज्याङ्गुलिविभागः, ततो विभागात् संयोगविनाशः, तस्मिन् विनष्टे प्रतिबन्धकाभावाद् यदा धनुषि वर्तमानः स्थितिस्थापक संस्कारो मण्डलीभूतं धनुर्यथावस्थितं स्थापयति, तदा तमेव संस्कारमपेक्षमाणाद् धनुर्ज्यासंयोगाद् ज्यायां शरे च कर्मोत्पद्यते । तत् स्वकारणापेक्षं ज्यायां संस्कारं करोति । तमपेक्षमाण इषुज्यासंयोगो नोदनम्, तस्मादिषावाद्यं कर्म नोदनापेक्षमिषौ संस्कारमारभते । तस्मात् संस्कारान्नोदनसहायात् तावत् कर्माणि भवन्ति यावदिषुज्याविभागः विभागान्निवृत्ते नोदने कर्माण्युत्तरोत्तराणि इषुसंस्कारादेव आपतनादिति । बहूनि कर्माणि क्रमशः कस्मात् ? संयोगबहुत्वात् । एकस्तु संस्कारः, अन्तराले कर्मणोऽपेक्षाकारणाभावादिति । एवमात्माधिष्ठितेषु सत्प्रत्ययमसत्प्रत्ययं च कर्मोक्तम् ।

अब सत्प्रत्ययकर्म अर्थात् प्रयत्न से उत्पन्न क्रिया की उत्पत्ति की विधि कहते हैं । (प्र०) - किस प्रकार ? (अर्थात् सत्प्रत्ययरूप कर्म कैसे उत्पन्न होता है ?) (उ०) - [चिकीर्षितेषु =कर्तुमभिप्रेतेषु = कर्तुमभीष्टेषु] करने के लिए अभिप्रेत यज्ञ, अध्ययन, दान, कृषि (आदि पद से भोजन) इत्यादि कर्मों में (होमद्रव्य आदि को ग्रहण करने के लिए) हाथ को ऊपर उठाने की या (कुण्ड में आज्य आदि द्रव्य को डालने के लिए हाथ को) नीचे करने की इच्छा करता है, उस समय आत्मा (= शरीर) के हाथवाले प्रदेश में प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । [इस प्रयत्न की उत्पत्ति में आत्मा समवायिकारण, आत्ममनःसंयोग असमवायिकारण और इच्छा निमित्तकारण है] उस प्रयत्न और गुरुत्व की अपेक्षा करनेवाले आत्मा (मन) तथा हाथ के संयोग से हाथ में क्रिया की उत्पत्ति होती है । हाथ के समान शरीर के पैर इत्यादि सभी

अवयवों (=मुख, नेत्र, गर्दन, पीठ आदि) में एवं शरीररूप अवयवी में भी क्रिया की उत्पत्ति होती है। (द्र० - **"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म"**- वैशे० ५/१/१)।

[**विशेष -** प्रयत्न के होने पर भी यदि वस्तु में गुरुत्व न हो, तो उत्क्षेपणादि कर्म नहीं हो सकते। इसलिए यहाँ गुरुत्व को भी उत्क्षेपणादि क्रिया में कारण माना है।]

(प्र०) - शरीर एवं उसके अवयवों से सम्बद्ध (मूसल आदि) द्रव्यों में कैसे (उत्क्षेपणादि कर्म होते हैं) ?

(उ०) जिस समय मूसल को हाथ में लेकर कोई व्यक्ति इच्छा करता है, कि - 'मैं मूसल को हाथ से ऊपर की ओर उछालूँ', उसके पश्चात् प्रयत्न उत्पन्न होता है, उस प्रयत्न की अपेक्षा करनेवाले आत्मा (मन) एवं हाथ के संयोग से जिस समय हस्त (-रूप समवायिकारण) में उत्क्षेपणक्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय उसी प्रयत्न की अपेक्षा करनेवाले हाथ और मूसल के संयोग(-रूप असमवायिकारण) से मूसल (-रूप समवायिकारण) में भी उत्क्षेपणक्रिया उत्पन्न होती है। (क्योंकि एक ही समय हाथ और मूसल दोनों में ही क्रिया की उत्पत्ति के सभी कारण विद्यमान हैं)। - (द्र० ५/१/१,२)।

इसके पश्चात् दूर ऊपर उठाए हुए मूसल को ऊपर उठाने की इच्छा निवृत्त हो जाती है। और फिर मूसल को नीचे (ऊखल में) डालने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् नीचे फैंकने का प्रयत्न होता है। उस प्रयत्न की अपेक्षा करनेवाले पूर्वोक्त (=आत्मा, मन एवं हस्तसंयोग तथा मूसल एवं हाथ के) संयोग से एक ही समय में हाथ और मूसल दोनों में ही अपक्षेपण (= नीचे फैंकने की) क्रिया उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् मूसल की (अपक्षेपणरूप) अन्तिम क्रिया से ऊखल में मूसल का अभिघात नामक (शब्द का उत्पादक) संयोग होता है। वह ऊखल तथा मूसल का संयोग, मूसल में वर्तमान वेगसंस्कार की अपेक्षा करता हुआ मूसल में

विना प्रयत्न के ही ऊपर उठने की क्रिया को उत्पन्न करता है। वह क्रिया अभिघात नामक संयोग की अपेक्षा करती हुई (समवायिकारण) मूसल में वेग नामक संस्कार को आरम्भ करती है। उस वेग के अनुसार मूसल और हाथ का संयोग, विना प्रयत्न के हाथ में भी (मूसल के समान) उत्पतनक्रिया को करता है। यद्यपि पहले का संस्कार नष्ट हो गया होता है, फिर भी मूसल और उलूखल का (अभिघात नामक) संयोग पटु (= संस्कारजनक, समर्थ) क्रिया को उत्पन्न करता है। वह संयोग ही अपनी विशेषता के कारण उसके वेग-संस्कार को आरम्भ करने के लिए सहायता करने में समर्थ होता है। (द्र० ५/१/१-३)

अथवा पहले का ही विशेष कार्य करने में समर्थ (वेगनामक) संस्कार अभिघात नामक संयोग से नष्ट न होता हुआ तब तक विद्यमान रहता है। इसलिए एक वेग- संस्कार के आश्रय द्रव्य में पुनः दूसरे संस्कार के उत्पन्न होने की सम्भावना न रहने पर भी जिस समय वेग संस्कार की अपेक्षा करनेवाले अभिघात संयोग से, विना प्रयत्न के मूसल में उत्पतन (= उत्क्षेपण, उछलने की) क्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय उसी संस्कार और मूसल एवं हाथ का संयोग इन दोनों से अप्रत्यय (=विना प्रयत्न के) उत्पतन (= उत्क्षेपण) क्रिया उत्पन्न होती है। इति =इस कारण (कोई दोष नहीं आता)। - (द्र० ५/१/३-५)

(प्र०) - हाथ से फेंके हुए द्रव्यों में गमनक्रिया किस प्रकार उत्पन्न होती है?

तोमर
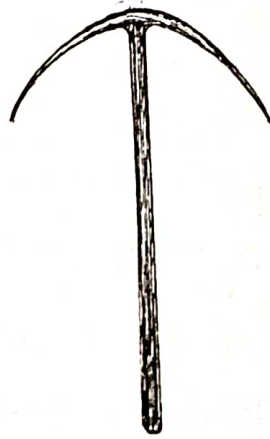
(उ०) - जिस समय तोमर (=भाले जैसा प्राचीन अस्त्र, जिसे शत्रु पर फेंककर मारा जाता था, एवं शत्रु के समीप होने पर हाथ से पकड़कर ही प्रहार किया जाता था ; उस तोमर) को हाथ में लेकर ('मैं इस तोमर को फेंकने के लिए उठाऊँ' - इस प्रकार) ऊपर उठाने की इच्छा उत्पन्न होती है, उसके पश्चात् इच्छा के अनुसार प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले पूर्वोक्त (आत्मा, मन एवं हाथ का संयोग तथा हाथ एवं तोमर का संयोग -) इन दोनों संयोगों से तोमर और हाथ में एक ही समय में दो आकर्षणात्मक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। और हाथ को पसार देने पर आकर्षण का कारण वह प्रयत्न निवृत्त हो जाता है। इसके पश्चात् 'इसको तिरछा, ऊपर, बहुत दूर या निकट (लक्ष्य के अनुसार,) फेंक दूँ, - ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् उस इच्छा के अनुसार प्रयत्न उत्पन्न होता है। फिर उस प्रयत्न की अपेक्षा से तोमर और हाथ का नोदन नामक (शव्द को उत्पन्न न करनेवाला) संयोग उत्पन्न होता है। उस (नोदन नामक संयोग) से तोमर में उत्पन्न क्रिया, उस नोदन की सहायता से तोमर में वेगसंस्कार को उत्पन्न करती है। इसके पश्चात् वेगसंस्कार तथा नोदनसंयोग इन दोनों से तोमर में तव तक गमन क्रियाएँ होती रहती हैं, जब तक कि हाथ और तोमर का विभाग उत्पन्न नहीं हो जाता। फिर विभाग होते ही नोदन नामक संयोग के निवृत्त हो जाने पर (असमवायिकारण) वेग संस्कार से (तोमर में) प्रयत्न के अनुसार तिरछे, दूर या पास की गमन क्रियाएँ (तोमर के) गिरने तक होती रहती हैं। - (द्र० ५/१/१,२, ९,१०,१७,१८)।

उसी प्रकार (= साक्षात् हाथ से छूटनेवाले तोमर आदि के समान) यन्त्र (= धनुष, बन्दूक, तोप आदि) के द्वारा फेंकी हुई (वाण, गोली) आदि वस्तुओं में भी गमन क्रिया की विधि जान लेनी चाहिए। (प्र०) कैसे ? (उ०) - जिस समय (= युद्ध अथवा शिकार के अवसर पर) कृतव्यायाम (= जिसने अस्त्र-शस्त्र चलाने का अभ्यास किया, ऐसा वलवान् व्यक्ति) वायें हाथ से धनुष आदि को जोर से पकड़कर दाहिने हाथ से उस वाण को चढ़ाकर वाणसहित ज्या (= धनुष की डोरी) को पकड़कर उसे खींचने की इस प्रकार की इच्छा करता है, कि 'मैं वाण और डोरी

सहित इस धनुष को खीचूँ' । इसके पश्चात् प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । (निमित्तकारण) प्रयत्न की अपेक्षा करनेवाले (असमवायिकारण-) आत्मा (,मन और) हाथ के संयोग से जिस समय (समवायिकारण) हाथ में आकर्षणक्रिया होती है (अर्थात् धनुर्धर हाथ को अपनी ओर खींचता है); उसी समय उक्त (निमित्तकारण-) प्रयत्न की अपेक्षा से उत्पन्न हाथ तथा ज्या और वाण के संयोग (रूप असमवायिकारण) से ज्या तथा वाण (रूप समवायिकारण) में भी क्रिया होती है, तथा प्रयत्नविशिष्ट हस्त, ज्या एवं वाणसंयोग की अपेक्षा से हुए धनुष के दोनों कोणों के साथ डोरी के दोनों संयोगों से धनुष के दोनों कोणों में दो क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । ये सभी काम एक ही समय में होते हैं ।

इस प्रकार पूर्वोक्त इच्छा के अनुसार कान तक धनुष के खींचे जाने पर 'इससे आगे यह नहीं जाएगा' ऐसा (उस वीर पुरुष को संकल्पात्मक) ज्ञान होता है । इस ज्ञान से आकर्षण के कारणभूत प्रयत्न का विनाश हो जाता है । फिर उस (वाण और डोरी) को छोड़ने की इच्छा उत्पन्न होती है । इसके पश्चात् तदनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । उस प्रयत्न के अनुसार आत्मा (,मन) और अंगुली के संयोग से अंगुलि में क्रिया की उत्पत्ति होती है । (अंगुली की) उस (क्रिया) से डोरी और अंगुलि में विभाग उत्पन्न होता है । इस विभाग से (डोरी और अंगुलि के) संयोग का विनाश होता है । उस संयोग के नष्ट हो जाने पर किसी प्रतिवन्धक के न रहने से धनुष में रहनेवाला स्थितिस्थापक संस्कार झुके हुए उस धनुष को उसकी पहली अवस्था (= डोरी खींचने से पहली अवस्था) में ले आता है । तव उसी (निमित्तकारण) स्थितिस्थापक संस्कार की अपेक्षानुसार धनुष तथा ज्या के संयोगरूप (-असमवायिकारण) से डोरी और वाण रूप (-समवायिकारण) में चलनक्रिया उत्पन्न होती है । वह क्रिया धनुष और ज्या के संयोगरूप अपने कारण की अपेक्षा करती हुई ज्या (= डोरी) में (वेग नामक) संस्कार को उत्पन्न करती है । इस वेग संस्कार के अनुसार वाण एवं डोरी में 'नोदन' नामक संयोग उत्पन्न होता है । उस वेगसंस्कार

से बाण में पहली क्रिया, नोदन संयोग के अनुसार वाण में वेगसंस्कार को उत्पन्न करती है। उस वेगसंस्कार से नोदन संयोग की सहायता से वाण में उस समय तक क्रियाएँ होती जाती हैं, जब तक डोरी और वाण का विभाग न हो जाय। विभाग होते ही नोदन (= बाण तथा डोरी का संयोग) निवृत्त होकर वाण के वेग के अनुसार ही बाण में उत्तरोत्तर अनेक गमनक्रियाएँ उस समय तक होती जाती हैं, जब तक कि बाण भूमि पर नहीं गिर जाता (अथवा जव तक कि वाण लक्ष्य में नहीं विंध जाता)।

(शंका) - (डोरी से विभक्त वाण में) अनेक क्रियाओं की कल्पना क्यों जाती है ? (एक ही कर्म की कल्पना क्यों नहीं की जाती ?)

(समा०) - क्योंकि (चलाए हुए वाण के मार्ग में) वहुत से संयोग देखे जाते हैं। किन्तु बाण में वेगनामक संस्कार एक ही रहता है; क्योंकि वीच में क्रिया के नोदन अथवा अभिघातसंयोगरूप अपेक्षित अन्य कारणों का (सहयोग प्राप्त) नहीं है।

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध से होनेवाले प्रयत्नजनित एवं अप्रयत्नजनित दोनों ही प्रकार के कर्म कह दिए गये हैं ॥ - (द्र० ५/१/१,२,१७,१८,१९)।

[आगे अप्रत्यय (=विना प्रयत्न के होनेवाले) कर्मों का ही वर्णन करेंगे-]

३ / ४ (६०) - अप्रत्ययकर्मप्रकरणम्

आत्मा के सम्बन्ध से होने वाले प्रयत्नपूर्वक तथा बिना प्रयत्न के कर्मों का वर्णन करके, अव आत्मा से अनधिष्ठित एवं बिना आत्मप्रयत्न के होने वाले कर्मों का वर्णन करते हुए भाष्यकार (वैशे० सू. ५/२/१-१३,१७,२१ आदि सूत्रों के अनुसार) कहते हैं -

(प्रश.) अनधिष्ठितेषु बाह्येषु चतुर्षु महाभूतेष्वप्रत्ययं कर्म गमनमेव नोदनादिभ्यो भवति। तत्र नोदनं गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नान् समस्तव्यस्तानपेक्षमाणो यः संयोगविशेषः, नोदनमविभागहेतोरेकस्य कर्मणः कारणम्। तस्माच्चतुर्ष्वपि महाभूतेषु कर्म भवति। यथा पङ्काख्यायां पृथिव्याम्।

वेगापेक्षो यः संयोगविशेषो विभागहेतोरेकस्य कर्मणः कारणम्, सोऽभिघातः। तस्मादपि चतुर्षु महाभूतेषु कर्म भवति। यथा पाषाणादिषु निष्ठुरे वस्तुन्यभिपतितेषु। तथा पादादिभिर्नुद्यमानायाम् अभिहन्यमानायां वा पङ्काख्यायां पृथिव्यां यः संयोगो नोदनाभिघातयोरन्यतरापेक्षः, उभयापेक्षो वा, स संयुक्तसंयोगः, तस्मादपि पृथिव्यादिषु कर्म भवति। ये च प्रदेशा न नुद्यन्ते नाप्यभिहन्यन्ते तेष्वपि कर्म जायते।

पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वविधारकसंयोगप्रयत्नवेगाभावे सति गुरुत्वाद् यदधोगमनं तत् पतनम्। यथा मुसलशरीरादिषूक्तम्। तत्राद्यं गुरुत्वात्,द्वितीयादीनि तु गुरुत्वसंस्काराभ्याम्।

स्रोतोभूतानामपां स्थलान्निम्नाभिसर्पणं यत् तद् द्रवत्वात् स्यन्दनम्। कथम् ? समन्ताद् रोधःसंयोगेनावयविद्रवत्वं प्रतिबद्धम्, अवयवद्रवत्वमप्येकार्थसमवेतं तेनैव प्रतिबद्धम्, उत्तरोत्तरावयवद्रवत्वानि संयुक्तसंयोगैः प्रतिबद्धानि। यदा तु मात्रया सेतुभेदः कृतो भवति, तदा समन्तात् प्रतिबद्धत्वादवयविद्रवत्वस्य कार्यारम्भो नास्ति। सेतुसमीपस्थस्यावयवद्रवत्वस्योत्तरेषामवयवद्रवत्वानां प्रतिबन्धकाभावाद् वृत्तिलाभः। ततः क्रमशः संयुक्तानामेवाभिसर्पणम्। ततः पूर्वद्रव्यविनाशे सति प्रबन्धेनावस्थितैरवयवैर्दीर्घं द्रव्यमारभ्यते। तत्र च कारणगुणपूर्वक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते। तत्र च कारणानां संयुक्तानां प्रबन्धेन गमने यदवयविनि कर्मोत्पद्यते तत् स्यन्दनाख्यामिति।

संस्कारात् कर्म इष्वादिषूक्तम् । तथा चक्रादिष्ववयवानां पार्श्वतः प्रतिनियतदिग्देशसंयोगविभागोत्पत्तौ यदवयविनःसंस्कारादनियतदिग्देशसंयोगविभाग -निमित्तं कर्म तद् भ्रमणमिति । एवमादयो गमनविशेषाः ।

प्राणाख्ये तु वायौ कर्म आत्मवायुसंयोगाद् इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाद् जाग्रत इच्छानुविधानदर्शनात्, सुप्तस्य तु जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् ।

आकाशकालदिगात्मनां सत्यपि द्रव्यभावे निष्क्रियत्वम्, सामान्यादिवदमूर्तत्वात् । मूर्तिरसर्वगतद्रव्यपरिमाणम्, तदनुविधायिनी च क्रिया, सा चाकाशादिषु नास्ति । तस्मान्न तेषां क्रियासम्बन्धोऽस्तीति ।

सविग्रहे मनसीन्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं जाग्रतः कर्म आत्ममनःसंयोगाद् इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षात्, अन्वभिप्रायमिन्द्रियान्तरेण विषयान्तरोपलब्धिदर्शनात् । सुप्तस्य प्रबोधकाले जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् । अपसर्पणकर्मोपसर्पणकर्म चात्ममनःसंयोगाददृष्टापेक्षात् । कथम् ? यदा जीवनसहकारिणोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात् प्रक्षयः, अन्योन्याभिभवो वा, तदा जीवनसहाययोर्वैकल्यात् तत्पूर्वकप्रयत्नवैकल्यात् ।प्राणनिरोधे सत्यन्याभ्यां लब्धवृत्तिभ्यां धर्माधर्माभ्यामानत्ममनःसंयोगसहायाभ्यां मृतशरीराद् विभागकारणमपसर्पणकर्मोत्पद्यते । ततः शरीराद् बहिरपगतं ताभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां समुत्पन्नेन आतिवाहिकशरीरेण सम्बध्यते, तत्संक्रान्तं च स्वर्गं नरकं वा गत्वा आशयानुरूपेण शरीरेण सम्बध्यते, तत्संयोगार्थं कर्मोपसर्पणमिति । योगिनां च बहिरुद्रेचितस्य मनसोऽभिप्रेतदेशगमनं प्रत्यागमनं च । तथा सर्गकाले प्रत्यग्रेण शरीरेण सम्बन्धार्थं कर्म अदृष्टकारितम् । एवमन्यदपि महाभूतेषु यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनुपलभ्यमानकारणमुपकारापकारसमर्थं च भवति तदप्यदृष्टकारितम् । यथा सर्गादावणुकर्म, अग्निवाय्वोरूर्ध्वतिर्यग्गमने महाभूतानां प्रक्षोभणम् । अभिषिक्तानां मणीनां तस्करं प्रतिगमनम्, अयसोऽयस्कान्तमभिसर्पणं चेति ॥

आत्म की अध्यक्षता के विना (= आत्मा के प्रयत्न से सम्बन्ध न रखनेवाले), वहिरिन्द्रियों से ग्राह्य (एवं शरीर से असम्वद्ध), (पृथिवी, जल, तेज तथा वायु नामक) चारों महाभूतों में विना प्रयत्न के नोदनादि (संयोगों) से केवल गमनरूप क्रिया की ही उत्पत्ति होती है (उत्क्षेपणादि क्रिया नहीं होती) । उस (= क्रिया) में कथित 'नोदन' उस संयोग विशेष को कहते हैं, जो कभी गुरुत्व, द्रवत्व तथा प्रयत्न इन सम्मिलित चार गुणों से; कभी इनमें से एक, दो अथवा तीन गुणों से उत्पन्न होता है । यह विभाग को उत्पन्न न करनेवाले एक कर्म का ही कारण होता है । इस संयोग से चारों महाभूतों में क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । जैसे - पङ्क (= कीचड़) नामक पृथिवी द्रव्य में क्रिया होती है । कीचड़ पर रखा हुआ कंकड़ आदि जव क्रम से नीचे जाने लगता है, तब गुरुत्व की अपेक्षा करनेवाला कंकड़ का 'नोदन' संयोग होता है और जव प्रयत्नपूर्वक कंकड़ को दूर से कीचड़ में बलपूर्वक फेंका जाता है, तव गुरुत्व, प्रयत्न तथा वेग- इन तीनों की अपेक्षा से 'नोदन' संयोग होता है) ।

वेगसंस्कार की अपेक्षा करनेवाला जो विशेष संयोग संयुक्त दो द्रव्यों को परस्पर विभक्त करनेवाली क्रिया का कारण होता है, उसे 'अभिघात'-संयोग कहते हैं । [अर्थात् अभिघात्य (=टकराये जानेवाले) तथा अभिघातक (=टक्कर देने वाले) इन दोनों द्रव्यों का जिससे तत्काल परस्पर विभाग होता है, ऐसी क्रिया के कारणभूत विशेप संयोग को 'अभिघात' कहते हैं । जैसे - फुटबॉल में खींचकर मारी गयी लात के अभिघात से वॉल और पैर का परस्पर विभाग हो जाता है, परिणामस्वरूप वॉल दूर चली जाती है ।] उस अभिघात नाम के संयोग से भी चारों महाभूतों (पृथिवी, जल, तेज तथा वायु) में क्रिया की उत्पत्ति होती है । जैसे कि पत्थर इत्यादि कठोर पदार्थ पर गिरे हुए द्रव्यों में चलन क्रिया की उत्पत्ति होती है । यह साक्षात् अभिघातसंयोग का उदाहरण है) । (अव अभिघात के संयुक्तसंयोगरूप परम्परा सम्वन्ध का उदाहरण देते हैं -) उसी प्रकार पैर इत्यादि शरीर के अवयवों से कीचड़ नामक पृथिवी के नुद्यमान होने (= चूरे जाने) पर या जोर से अभिहत

होने पर (= जोर से कुचले जाने पर) जो संयोग है - इन दोनों नोदन तथा अभिघात नामक संयोगों में से किसी एक अथवा दोनों की अपेक्षा से जिस संयोग की उत्पत्ति होती है, उसे 'संयुक्तसंयोग' कहते हैं। उससे भी पृथिवी आदि चार भूतों में क्रिया की उत्पत्ति होती है। अर्थात् (कीचड़रूप पृथिवी के किसी एक प्रदेश में पादादि का नोदन अथवा अभिघातसंयोग होने पर भी) जिन प्रदेशों में नोदन या अभिघातसंयोग नहीं होता उन प्रदेशों में भी चलन क्रिया होती है। [जहाँ पादादि से अभिहत कीचड़ आदि द्रव्य संयोगवाले भूप्रदेश को अभिघात से कुछ नीचे ले जाकर ऊपर उठता है।]

(अब भाष्यकार गुरुत्व से उत्पन्न कर्म का वर्णन करते हैं) - गुरुत्व के प्रतिबन्धक (= विरोधी) संयोग, प्रयत्न और वेग के न रहने पर गुरुत्व से पृथिवी तथा जल द्रव्यों में जो नीचे की ओर गमन होता है, वह पतन (= गिरना) कर्म कहाता है। जैसा कि - मूसल, शरीर (वृक्ष के फल, तीर) आदि के पतन के विषय में कह आये हैं। उनमें पहला पतन - कर्म गुरुत्व से उत्पन्न होता है; किन्तु द्वितीय, तृतीय आदि पतन-कर्म गुरुत्व तथा वेगसंस्कार दोनों से उत्पन्न होते हैं। [इनमें मूसल की पहली पतन-क्रिया उसके गुरुत्व से उत्पन्न होती है, उस क्रिया से मूसल में वेग उत्पन्न होता है, इसके पश्चात् की मूसल की पतन-क्रियाएँ गुरुत्व और वेग इन दोनों से ही होती हैं।] - (द्र० ५/१/७,८;५/२/३)।

(अब सांसिद्धिक द्रवत्व से उत्पन्न स्यन्दन क्रिया का वर्णन करते हैं -) 'प्रवाहरूप जल का (ऊँचे) स्थल से जो नीचे (= गड्ढे) की ओर स्वाभाविक द्रवत्व (= पतलेपन, Liquid, Juicy) होने के कारण वहकर जाना (= फैलना) ही 'स्यन्दन' नामक क्रिया है। (प्र०) - किस प्रकार ? (उ०) - (नदी, नाले आदि के) जल किनारों के सभी अवयवों के साथ पूर्णरूप से जल के संयुक्त रहने के कारण अवयवी (रूप जल) का द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो (= रुक) जाता है। उस अवयवी के सभी अवयवों के द्रवत्व भी उस अवयवी में एकार्थसमवाय सम्बन्ध से रहने के

कारण किनारों के उसी संयोग से प्रतिरुद्ध रहते हैं। उन अवयवों के आगे-आगे के अवयवों के द्रवत्व भी उक्त संयुक्त संयोगों से प्रतिरुद्ध (=रुके) रहते हैं। किन्तु जव थोड़ा सा भी तटबन्ध (= मेंढ) काट दिया जाता है, उस समय सभी किनारों के साथ संयुक्त रहने के कारण अवयवी (= नदी आदि के सम्पूर्ण जल) एक ओर बनाये गये छोटे से मार्ग से अपना (स्यन्दन = बहाव रूप) काम नहीं कर सकता। अतः आगे-आगे के जलावयवद्रव्यों का प्रतिबन्ध हट जाने से मेंढ के कटाव के समीप में रहनेवाले जलावयवों के द्रवत्व ही अपने (स्यन्दन) कार्य करने के लिए उन्मुख रहते हैं। उसके पश्चात् बाँध के कटाव से संयुक्त जलावयवों में ही क्रमशः 'अपसर्पण' (= नीचे की ओर फैलने की) क्रियाओं की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् पहले द्रव्य का विनाश हो जाने पर संयुक्त रूप से अव्यस्थित जलावयवों से ही बड़े द्रव्य की उत्पत्ति होती है। इस बड़े द्रव्य में कारणगुण के क्रमानुसार द्रवत्व की उत्पत्ति होती है। **उसमें किनारों के साथ सम्बद्ध अवयवों का संयुक्त रूप से (पङ्क्तिबद्ध सा) गमन होने पर जो अवयवी में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी का नाम 'स्यन्दन' (= बहना) है। - (द्र० - ५/२/४)।**

(इति) = यह स्यन्दन कर्म का वर्णन पूरा हुआ।

(अब गमन क्रिया के भेदरूप भ्रमण क्रिया का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं -)

तीर इत्यादि में वेग-संस्कार से कर्म की उत्पत्ति कह चुके हैं। उसी प्रकार (वेग संस्कार से) चक्र (=मिट्टी के बर्तन बनाने का चाक, अलात चक्र) आदि में उनके अवयवों का चारों दिशा-रूप पार्श्वभागों में नियमित दिशाओं में संयोग तथा विभाग के उत्पन्न होने पर जो चक्ररूप अवयवि द्रव्य के वेग - संस्कार से अनियमित दिग्देशों के साथ (अर्थात् सभी दिशाओं के साथ) संयोग और विभागों की जनक क्रियाओं की उत्पत्ति होती है, उसी (प्रकार की क्रियाओं) को 'भ्रमण' कहते हैं।

इस प्रकार का भ्रमणकर्म है। ये सभी (= स्यन्दन, भ्रमण आदि) कर्म विशेष प्रकार के गमनरूप ही हैं।

[**विशेष :-** दण्ड के साथ संयुक्त चक्र के अवयव की आगे-आगे की क्रियाएँ संस्कार और नोदन से होती हैं। इससे भिन्न अवयवों की पहली क्रिया संस्कार एवं संयुक्तसंयोग से होती है। दण्ड के हटा लेने पर चक्र में और उसके अवयवों में जो क्रियाएँ (= चिरकाल तक भ्रमण) होती रहती हैं, उनका कारण केवल संस्कार ही है।]

जाग्रत् अवस्था में वर्तमान व्यक्ति के (शरीर के भीतर रहनेवाले) प्राण नामक वायु में इच्छा या द्वेष से उत्पन्न होने वाले प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा (,मन) तथा वायु (= प्राण) के संयोग से क्रिया उत्पन्न होती है; क्योंकि (जगे हुए व्यक्ति की सभी क्रियाओं में) इच्छा (या द्वेष) का अनुसरण देखा जाता है। किन्तु सोये हुए व्यक्ति के प्राणवायु की क्रिया (यद्यपि आत्मा, मन और वायु के संयोग से ही होती है, किन्तु उसे) जीवनधारण रूप यत्न की ही अपेक्षा होती है (इच्छापूर्वक या द्वेषपूर्वक प्रयत्न की नहीं)।

[**विशेष : -** जाग्रत् अवस्था में रेचक, पूरक आदि प्राणायाम में प्राणवायु की क्रियाएँ इच्छा के अनुरूप देखी जाती हैं। तथा जव नासिका के छिद्र में धूल आदि चली जाती है, तव उसे निकालने के लिए द्वेष से भी प्राणवायु में क्रिया देखी जाती है। किन्तु किसी कार्य में व्यस्त प्राणी की अथवा प्रसुप्त प्राणी के प्राणवायु की क्रिया आत्मा की विद्यमानता में उसके जीवन-धारण के हेतु से अनैच्छिक रूप में होती है।]

आकाश, काल, दिशा और आत्मा के (पृथिवी, जल आदि के समान) द्रव्यरूप होने पर भी ये निष्क्रिय हैं; क्योंकि ये सभी सामान्य विशेष आदि के समान अमूर्त हैं। (अर्थात् क्रियावत्त्व तथा मूर्तत्व की व्याप्ति होने से अमूर्त होने के कारण

आकाशादि निष्क्रिय हैं ।) असर्वव्यापक द्रव्य के विशेष परिमाण को **'मूर्ति'** कहते हैं । जहाँ मूर्तद्रव्य होता है, वहीं क्रिया होती है । वह (मूर्ति आकाशादि द्रव्यों में नहीं है, इसलिए इन (आकाशादि) में क्रिया का सम्बन्ध भी नहीं है । (द्र० ५/२/२१)

[**विशेष -** इन चारों अमूर्त द्रव्यों में 'आत्मा' चेतन और आकाश, काल एवं दिशा ये तीनों अचेतन हैं । इस भिन्नता के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण भी आत्मा में ही होते हैं । सो यद्यपि वाणी, हाथ, पैर आदि से अहंकार के माध्यम से विभिन्न क्रियाएँ होती हैं; किन्तु इन सब के मूल में ज्ञान, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न विशेष हेतु होते हैं । अर्थात् आत्मा के प्रयत्न के पश्चात् ही शरीर से योजनाबद्ध क्रियाएँ हो सकती हैं । इसीलिए शरीर से होने वाले पाप-पुण्य-रूप कर्मों का फल आत्मा को ही मिलता है । वही इन पाप-पुण्य के सुख-दुःख-रूप फल को भोगता है । इसीलिए सांख्यदर्शन में भी कहा है - **''अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः । चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्'** - (सांख्य० ६/५४,५५) अर्थात् अहंकार (से युक्त पुरुष ही) कर्त्ता है, (केवल) पुरुष नहीं । सुख-दुःख-रूप भोग की परिसमाप्ति चेतन में होती है; क्योंकि भोग (अहंकार-विशिष्ट) चेतन-कृत कर्मों के द्वारा ही उपार्जित होते हैं । यदि पाप-पुण्य-रूप कर्म में आत्मा का इच्छा, प्रयत्नादि रूप में उत्तरदायित्व न हो, तो उसको सुख-दुःखरूप फल मिलना अन्याय ही होगा ।]

[अब भाष्यकार मूर्त्तद्रव्य 'मन' की क्रिया का वर्णन करते हैं -] शरीर के सम्बन्ध से युक्त जागते हुए व्यक्ति के मन (= अन्तःकरण) में (चक्षुरादि) बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध के लिए क्रिया आत्मा और मन के संयोग (रूप असमवायिकारण) से होती है । यह क्रिया इच्छा अथवा द्वेषपूर्वक प्रयत्नपूर्वक निमित्तकारण की अपेक्षा से (मनरूप समवायिकारण में) उत्पन्न होती है । (प्र०.- जागते हुए व्यक्ति के मन की क्रिया इस प्रकार के प्रयत्न से क्यों मानी जाती है ? उ०-) क्योंकि मन के अभिप्राय के अनुसार ही चक्षुरादि दूसरे बाह्येन्द्रियों से विषयों का ज्ञान देखने में

आता है। [अर्थात् जिस इन्द्रिय से विषय-ज्ञान की प्राणियों के मन में इच्छा होती है, उसी इन्द्रिय से विषय की उपलब्धि होती है ; क्योंकि मन (= अन्तःकरण) का आश्रय लिए बिना चक्षुरादि इन्द्रियों से विषय का ज्ञान नहीं होता। मन और इन्द्रियों का यह सम्बन्ध, आत्मा के इच्छा या द्वेषपूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा से होता है।] (किन्तु) सोये हुए व्यक्ति के जागने के समय (उसके मन की क्रिया यद्यपि आत्मा और मन के संयोग से ही होती है, किन्तु वह संयोग) जीवन-धारणरूप प्रयत्न की अपेक्षा से होता है (इच्छा या द्वेष-जनित प्रयत्न की अपेक्षा से नहीं)।

मन की 'अपसर्पण (= दूर जाना) और 'उपसर्पण' (=पास जाना) नामक दोनों क्रियाएँ धर्माधर्मरूप अदृष्ट की अपेक्षा वाले आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती है। [अर्थात् मृत शरीर से विमुक्त होने के लिए 'अपसर्पण' (= हटने की क्रिया) और गर्भशरीर से संयुक्त होने के लिए 'उपसर्पण' (= पास जाना या प्रवेश की क्रिया) ये दोनो ही क्रियाएँ धर्म-अधर्मरूप (= अदृष्टरूप) निमित्तकारण की अपेक्षा से आत्म-मनःसंयोग - रूप असमवायिकारण से मनरूप समवायिकारण में उत्पन्न होती हैं।]

(प्र०) - (अपसर्पणादि क्रियाएँ) किस प्रकार होती हैं ?

(उ०) - जिस समय जीवन के सहायक धर्माधर्मरूप अदृष्ट का (सुख-दुःखरूप फल के) अनुभव (= भोग) से विनाश हो जाता है; अथवा दूसरे (आगामी स्थूल शरीर से उपभोग को देनेवाले बलवान् परिपक्व) कर्म से (वर्तमान उपभोग को देने के लिए प्रवृत्त प्रारब्ध शरीर के) कर्म का तिरस्कार (= भोग देने का सामर्थ्य नष्ट) हो जाता है। (जिस प्रकार तीव्रध्वनि से मन्दध्वनि का अभिभव हो जाता है); उस समय जीवन के सहायक धर्म तथा अधर्म के नष्ट होने के कारण, अदृष्टपूर्वक प्रयत्न के अभाव होने से ही प्राणनिरोध हो जाता है। (जिससे इस शरीर का पतन हो जाता है।) इसके पश्चात् दूसरे (= आगामी) शरीर के द्वारा उपभुक्त

होनेवाले धर्माधर्मरूप अदृष्ट (-निमित्तकारण) अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं, जिससे आत्म-मनःसंयोग (रूप असमवायिकारण) की सहायता से (ऐहिक= इस लोक के) मृत शरीर से विभाग की कारणभूत **अपसर्पणक्रिया** (समवायिकारण मन में) उत्पन्न होती है ।

इसके पश्चात् मृत-शरीर से निकला हुआ वही मन (अपना कार्य करने में पूर्णक्षम) उन्हीं धर्म और अधर्म से सम्पादित आतिवाहक (= सूक्ष्म) शरीर के साथ (अन्यत्र जाने के लिए) सम्बन्ध हो जाता है । उस सूक्ष्म शरीर के साथ सम्वन्ध होकर ही मन स्वर्ग या नरक को (जाता है। और वहाँ) जाकर (स्वर्ग या नरक के भोगजनक धर्म और अधर्म की) वासना के अनुरूप दूसरे स्थूल शरीर के साथ सम्वन्ध होता है । इस स्थूल शरीर के साथ मन के संयोग को उत्पन्न करने वाली मन की क्रिया का नाम ही **'उपसर्पण'**-क्रिया है ।

[**विशेष -** जिस प्रकार योग के यम-नियम आदि आठ अंगों में समाधि भी एक अंग है, फिर भी व्यास-भाष्य में कहा है - **'योगः समाधिः'** (योग. व्या. भा. १/१) । यम-नियमादि उस अन्तिम प्रधान योगांग समाधि के साधन बन जाते हैं ;उसी प्रकार यहाँ सांख्य आदि शास्त्रों के अनुसार 'मन' आतिवाहिक (= सूक्ष्म) शरीर का घटक होते हुए भी यहाँ बुद्धि को सूक्ष्मशरीर (प्रधान अंग होने के कारण) मानकर मन को सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्ध होना कहा है । अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार आदि (सूक्ष्मशरीर) के साथ आत्मा भी कर्मानुसार नये शरीर को धारण कर लेता है, यही मन की **'अपसर्पण'** क्रिया है ।

क्योंकि वैशेपिक-शास्त्र का लक्ष्य सांख्य के समान अतिसूक्ष्मता से विवचेन करना नहीं है; अतः संक्षेप में सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्ध होकर 'अपसर्पण'- क्रिया वतादी गयी है ।]

और योगियों का (योगवल = योगजसामर्थ्य से विषय ग्रहण के लिए) वाहर निकले हुए मन का अभीप्ट देश में गमन तथा पुनः प्रत्यागमन (= लौट आना) भी

अदृष्ट से ही उत्पन्न होता है। [जैसा कि योगाशास्त्र में कहा है - 'तस्य भूमिषु विनियोगः'' (योग० ३/६) अर्थात् (धारणा-ध्यान- समाधिरूप संयम के अभ्यास से जो प्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है,) उसका स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विषयों में उपयोग करना चाहिए। (यहाँ मन बिना चंचलता के नियत देश में ही भेजना और लौटाना योगज-धर्म-रूप अदृष्ट से सम्भव हो पाता है।] इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में नये शरीर के साथ मन (=अन्तःकरण) के संयोग के लिए (धर्माधर्मरूप) अदृष्ट से ही क्रिया उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार प्राणियों का उपकार या अपकार करने वाली (पृथिवी आदि चारों) महाभूतों की जिन क्रियाओं के कारणों का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से या अनुमान के द्वारा नहीं हो पाता; वे सभी क्रियाएँ भी अदृष्ट से ही उत्पन्न माननी पड़ेंगी। जैसे कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमाणुओं में होनेवाली क्रियाएँ (जो शरीर आदि की उत्पत्ति में उपकारक होती हैं); अग्नि की ऊपर की ओर जलने की क्रिया एवं वायु द्रव्य की टेड़े-मेड़े चलने की क्रिया (धर्माधर्मरूप अदृष्ट के निमित्त से उत्पन्न होती है)। तथा पृथिवी आदि लोक लोकान्तरों का चलना (घूर्णन, परिक्रमण, भूकम्प आदि) समुद्र, नदी आदि के जलों का (समुद्री तूफान, सुनामी, बाढ़ आदि के रूप में) प्रक्षोभण, वायु का (आंधी, तूफान आदि के रूप में अथवा मानसून से वृष्टि आदि के रूप में) प्रक्षोभण, अग्नि की (अत्युष्णता, लू, दावानल, वडवानल, ऐसिडिटी आदि के रूप में) प्रक्षोभण क्रियाएँ भी धर्माधर्मरूप अदृष्टकारित ही समझनी चाहिए।

इसी प्रकार उपयुक्त विधि से तैयार की गयी मणियों का (आधुनिक ट्रांसमीटर अथवा सी.सी. टी.वी. आदि के समान) चोरों की ओर जाना एवं साधारण लोहे का चुम्बक की ओर जाना - इस प्रकार की सभी क्रियाएँ धर्माधर्मरूप अदृष्ट के निमित्त से होती हैं। (सांख्यशास्त्र में भी कहा है - ''कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्'' - सां. ६/४१. अर्थात् प्राणियों के कर्म की विविधता से सृष्टि की विविधता होती है।)- (द्र० ५/२/२,१२,१३,१७)।

[विशेष -

परमाणु का इलेक्ट्रोन, प्रोटोन एवं न्यूट्रोन का ३,००,०००(तीन लाख) किलोमीटर प्रति सैकण्ड की गति से परिक्रमा करता है।
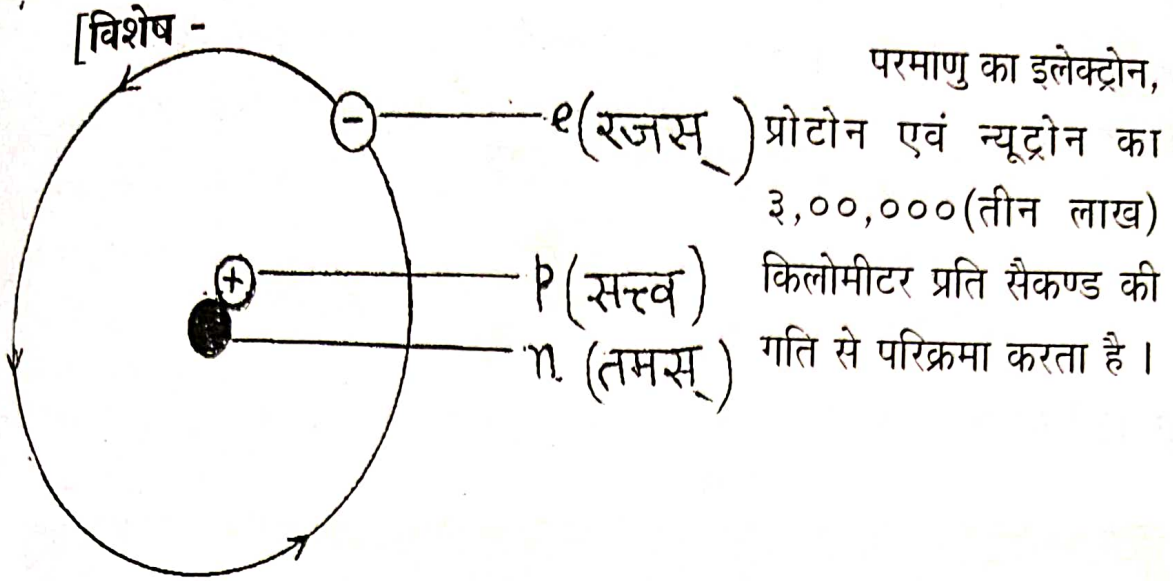
हाइड्रोजन का परमाणु

पृथिवी अपने अक्ष पर लट्टू के समान घूमती हुई लगभग १,७०० किलोमीटर प्रति घंटा की गति से लगभग २४ घंटे में परिभ्रमण (घूर्णन) कर लेती है। पृथिवी का एक उपग्रह चन्द्रमा भी २९ दिन में पृथिवी की परिक्रमा कर लेता है। चन्द्रमा को साथ लेकर पृथिवी एक वर्ष (३६५ १/४ दिन) में लगभग १,०७,००० (एक लाख सात हजार) किलोमीटर प्रतिघंटा की गति से सूर्य की (लगभग ९४ करोड़ कि.मी. की) एक परिक्रमा तय कर लेती है। इसी प्रकार बुध-शुक्र आदि ग्रह भी अपना अपना परिभ्रमण करते हुए सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं।

सूर्य भी लगभग २५ दिनों में अपना परिभ्रमण करता हुआ ३०,००० (तीस हजार) प्रकाशवर्ष दूर स्थित (एक लाख प्रकाशवर्ष व्यासवाली) आकाश-गंगा के

चन्द्रमा की गति

सूर्य, ग्रह तथा उपग्रह (की गति)
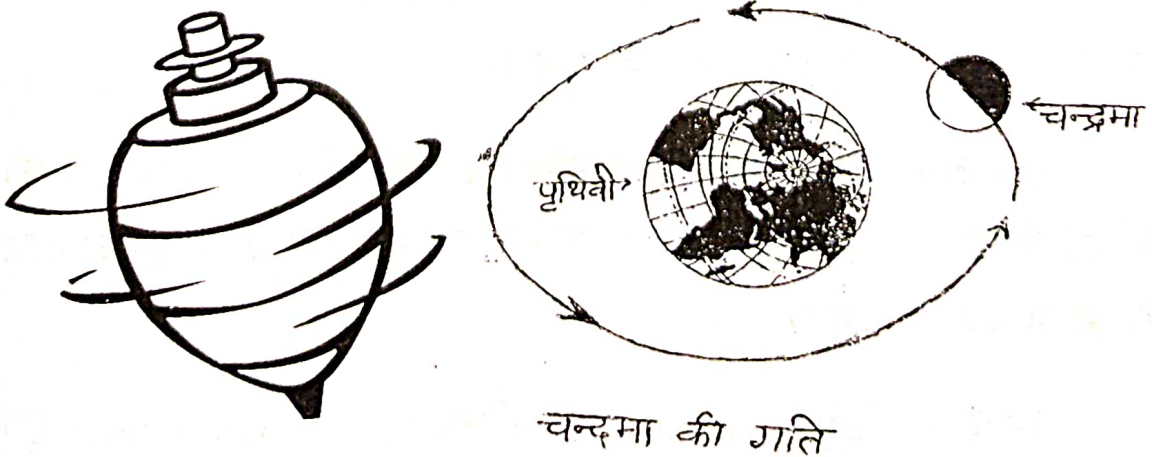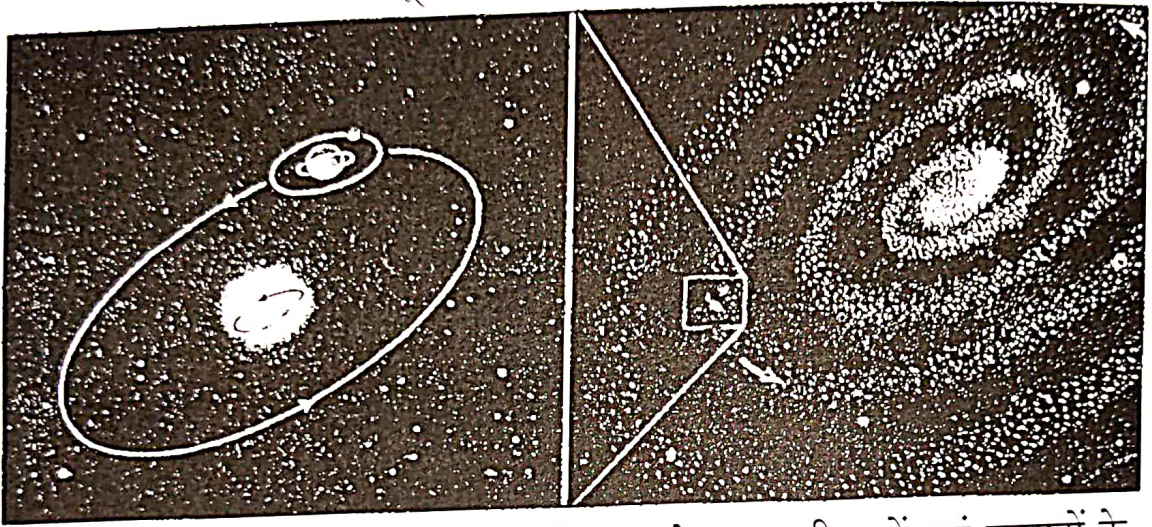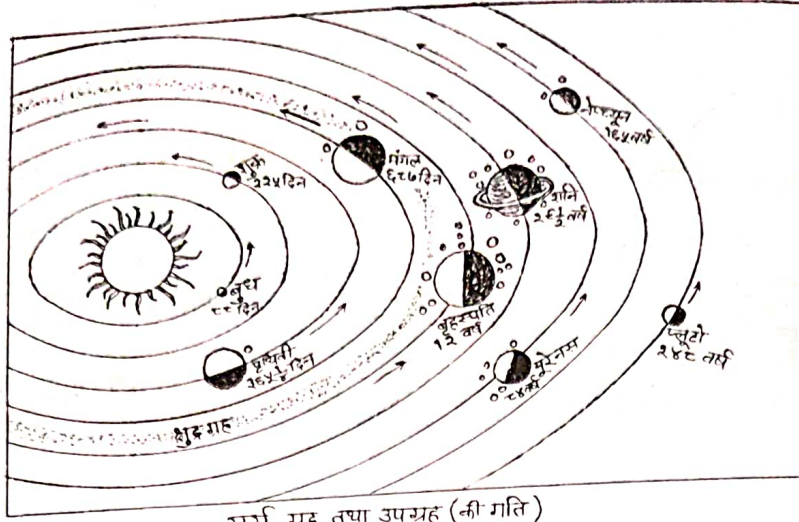
केन्द्र बिन्दु का (अपना परिभ्रमण (=घूर्णन) करते हुए सभी ग्रहों एवं उपग्रहों के साथ) एक चक्कर (एक परिक्रमा) २५,००,००,००० (पच्चीस करोड़) वर्ष में पूरा कर लेता है ।]

(इति=) यह कर्म पदार्थ का निरूपण पूरा हुआ । इस तृतीय पदार्थ, कर्मरूप महाप्रकरण में प्रायः शास्त्रोक्त तथा व्यावहारिक सभी क्रियाओं का वर्णन समाप्त हो गया है । इसमें चार अवान्तर प्रकरण हैं ।।

सुख और उसके उपायों की प्राप्ति एवं दुःख और उसके कारणों का परिहार ये दोनों, कर्म से ही होते हैं । इसलिए इस कर्मतत्त्व को प्रयत्न से हृदय में धारण कर लेना चाहिए ।।

प्रसंग :- यदि गुण और कर्म दोनों निष्क्रिय हैं, तो तन्तुओं के संयोग गुण

से वस्त्र की, रूप से रूप की, संयोग-विभाग से शब्द की, वेग-संस्कार से कर्म की तथा कर्म से संयोग-विभाग-वेग की उत्पत्ति क्यों मानी जाती है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४ ॥ (२२२)

[गुणाः] गुण [असमवायिनः] असमवायी [कारणम्] कारण [तु] तो (होते हैं) ।

गत सूत्र २३ में गुण एवं कर्म के समवायिकारण होने का निषेध किया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं, कि ये दोनों किसी प्रकार के कारण नहीं होते । वे अपने कार्य के प्रति 'असमवायिकारण' तो होते ही हैं । जैसे - तन्तुओं का संयोग-गुण वस्त्र (-कार्य) का 'असमवायिकारण' होता है । संयोग, विभाग और शब्द (-गुण) शब्द के 'असमवायिकारण' होते हैं, और वेग-संस्कार (-गुण) कर्म का 'असमवायिकारण' होता है ।

इसी प्रकार कर्म यद्यपि द्रव्यों के सीधे 'असमवायिकारण' नहीं होते **('न द्रव्याणां कर्म'** - १/१/२१) परम्परा से तो हो सकते हैं - **('कारणे समयावात् कर्माणि'** - १०/२/३) । परन्तु कुछ गुणों का 'असमवायिकारण' तो होता है - **('संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्'** - १/१/२०) ।

असमवायिकारण की दृष्टि से कर्म का क्षेत्र अल्प होने से इस सूत्र में उसका नाम नहीं लिया । गुणों को ही कर्म का उपलक्षण समझ लेना चाहिए । जैसे कि गत सूत्र - २२,२३ में एक साथ व्याख्यात हैं ॥ २४ ॥

प्रसंग :- सूत्रकार पूर्वसूत्र के विषय का दिशा में अतिदेश करते हैं -

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥ (२२३)

[गुणैः] गुणों (के व्याख्यान) से [दिक्] दिशा [व्याख्याता] व्याख्यात (समझ लेनी चाहिए)।

जिस प्रकार 'गुण' अमूर्त होने से द्रव्य और कर्म के 'समवायिकारण' नहीं होते; इसी प्रकार 'दिशा' द्रव्य होते हुए भी द्रव्य और कर्म की 'समवायिकारण' नहीं होती।

कारणत्व की दृष्टि से दोनों में अन्तर यह है, कि 'गुण' कार्य के असमवायिकारण होते हैं, जबकि दिशा कार्यमात्र का 'निमित्तकारण' होती है। हाँ! 'दिशा' द्रव्य एकत्व संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि गुणों का 'समवायिकारण' हो सकती है। क्रिया का समवायिकारण तो वही द्रव्य हो सकता है, जिसमें साक्षात् क्रिया हो रही है। ॥२५॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार दिशा के समान कारणरूप से काल को समझाते हैं -

कारणेन कालः ॥२६॥ (२२४)

यहाँ गत सूत्र से 'व्याख्याता' पद की लिंगविपर्यय से अनुवृत्ति है -

[कारणेन] (निमित्त) कारण होने से [कालः] (दिशा के समान) काल (व्याख्यात समझना चाहिए)।

जिस प्रकार दिशा कार्यमात्र का ''निमित्तकारण' होती है, वैसे ही काल भी कार्यमात्र का 'निमित्तकारण' होता है; क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी न किसी काल में ही होता है।

दिशा के समान 'काल' किसी द्रव्य वा कर्म का 'समवायिकारण' नहीं होता । किन्तु संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि गुणों का 'समवायिकारण' तो होता है ।

काल के अनित्य पदार्थों का 'निमित्तकारण' होने की यह बात गतसूत्र - **"नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति"** (२/२/९=८८) में कह दी गयी है । इस प्रकार -

सक्रिय द्रव्य - कर्म के 'समवायिकारण' ।

निष्क्रिय द्रव्य - गुणों के 'समवायिकारण' तथा कर्मों के 'निमित्तकारण'।

गुण - द्रव्य, गुण, कर्म (=कार्यमात्र) के 'असमवायिकारण' ।

कर्म - कार्य का 'निमित्तकारण' संयोग -विभाग-वेग का 'असमवायिकारण'।

किन्तु द्रव्य का कारण में समवेतत्व होने से 'असमवायिकारण' होता है, साक्षात् नहीं ।

चेतन का प्रयत्न - सर्वत्र (कार्यमात्र का) 'निमित्तकारण' ही होता है । ॥२६॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

॥पञ्चमोऽध्यायश्च समाप्तः ॥

अथ षष्ठाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग :- पाँचवें अध्याय में लौकिक-कर्म की परीक्षा हो गयी। अव वैदिक कर्म की परीक्षा के लिए, पहले वेद की प्रामाणिकता का ही परीक्षण करते हैं -

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १॥ (२२५)

[वेदे] वेद में [वाक्यकृतिः] वाक्य-रचना [बुद्धिपूर्वा] बुद्धिपूर्वक है।

इस सूत्र में 'बुद्धि' शब्द 'ज्ञान' अर्थ में है, न कि अन्तःकरण का वाचक। अर्थात् वेद में वाक्यरचना ज्ञानपूर्वक है।

'वेद' ज्ञान का भण्डार है। इस शब्द का निर्माण ही 'विद ज्ञाने' धातु से हुआ है। इसकी रचना ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा ने की है। अतः इसमें भ्रम, प्रमाद की आशंका नहीं हो सकती। जबकि मनुष्य की रचना में, भ्रम, प्रमाद, अज्ञान सम्भव है।

अतः सर्वज्ञ ईश्वर की रचना 'वेद' बुद्धिपूर्वक होने से प्रामाणिक है। इसमें मानव के लिए आवश्यक ज्ञान भरा हुआ है। अतः इसका स्वतः (= अन्य निरपेक्ष) प्रामाण्य होने से इसमें जो विहित है, वह अनुष्ठेय (= धर्म) तथा जो निषिद्ध है वह त्याज (= अधर्म) है। यहीं से धर्म का यथार्थस्वरूप जाना जा सकता है। यह वेद ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व रूप में है ॥ १ ॥

प्रसंग : 'वेद की रचना बूद्धिपूर्वक है' इस बात की पुष्टि में अन्य हेतु देते हैं -

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥ (२२६)

[ब्राह्मणे] (ऐतरेय आदि) ब्राह्मण - ग्रन्थों में [संज्ञाकर्म] संज्ञाओं (=नामों) का कर्म (=अर्थकरण =अर्थानुरूप स्पष्टीकरण =उनके अर्थों का विधानरूप कर्म) [सिद्धिलिङ्गम्] (बुद्धिपूर्वक वेदरचना की) सिद्धि में लिङ्ग (= प्रमाण)है।

''ब्राह्मण' पद यहाँ मनुष्य जाति के वर्णविशेष का वाचक नहीं, अपितु वैदिक-शब्दों के व्याख्यानरूप वैदिक-साहित्य समझना चाहिए। उन ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि वेद की रचना बुद्धिपूर्वक है। यथा -

''विश्वामित्रः सर्वमित्रः, विश्वस्य ह वै मित्रम्'' (-ऐत० ६/२०)। 'देवापिर्देवनामाप्त्या' (-निरु० २/३), 'त्रितस्तीर्णतमो मेधया' (निरु० ४/१) 'भरद्वाजस्य वाजभृतः' (आर्षेय ब्रा० १/२/१/२/२)। 'अच्छादयंस्तस्माच्छन्दांसि' (-शत० ८/५/२/१; निरु० ७/१२)।

'यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः' (शत० ६/१/३/१०)। 'मन्त्राः मननात्' 'प्राणा वै रुद्राः', 'प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति' - (जै० उ० - ४/२/६)। 'तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति' - (शत० १४/६/९/५)। अर्थात् विश्वामित्र = सब का मित्र। देवापि = देवों को प्राप्तकर्ता। त्रितः अत्यन्त मेधावी। भरद्वाजः अन्न व बल का भरण-पोषण करने वाला।

छन्द : =आच्छादित करने वाला। मन्त्र =मनन करना। रुद्र = रुलाने वाला।

इन वैदिक पदों के अर्थविशेष का बोध करने की शक्ति किसने दी ? मनुष्य इतना ज्ञानी कभी नहीं होता जो ऐसे परोक्ष शब्दों की व्याख्या कर सके। तब यह मानना पड़ता है कि ऐसी युक्तियुक्त व्याख्या ईश्वरीय रचना है। ॥२ ॥

प्रसंग :- संज्ञा (नामों) का ज्ञानपूर्वक होना बताकर अब कर्मों का भी ज्ञानपूर्वक होना वताते हैं -

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥ (२२७)

यहाँ प्रथम सूत्र से 'वेदे' की अनुवृत्ति है।

[ददाति] (वेद में) दान कर्म का निर्देश [बुद्धिपूर्वः] ज्ञान-पूर्वक है। (इसलिए वेद में निहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।)

वेद में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनमें अभ्युदय के साधनरूप में दान-कर्म विषयक विवरण मिलता है। यथा -

"अहं भूमिमददामार्यायः" - (ऋ ४/२६/२)

"अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्" - (ऋ० १०/४८/१)

यहाँ भूमि का दान आर्य (=श्रेष्ठ, वीर) के लिए कहा है; क्योंकि वही राष्ट्र का परिष्कार और शासन कर सकता है, अश्रेष्ठ और कायर नहीं। इसी प्रकार परिश्रमी के लिए भोजन का विभाजन व दान कहा है।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा।

इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ - (अथर्व० ११/१/१८)।

यह मेरा चमकता हुआ आयुवर्धक स्वर्ण, क्षेत्र से आया पका हुआ अनाज, यह मेरी कामधेनु और यह धन जगत् को सुमार्ग पर चलानेवाले ब्राह्मणों के लिए है।

"मोघमन्नं विदन्तेअप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलदी ॥" (ऋ० १०/११७/६)

यह दान का वर्णन ऐसा बुद्धिपूर्वक है, कि इसका कोई विरोध नहीं कर सकता।

यह दान-कर्म उन सभी कार्यों का उपलक्षण है, जिनसे प्राणी का अभ्युदय हो सकता है। परन्तु अज्ञानता वा अल्पज्ञता के कारण मनुष्य नहीं जानता, कि किन

कर्मों से अभ्युदय हो सकता है। स्वार्थ के कारण दान में भी मानव की प्रायः अरुचि रहती है। केवल परमेश्वर ही सर्वज्ञ होने से उन सब कर्मों को जानता है। उन्हीं अभ्युदयकारी कर्मों का विवरण परमेश्वर ने वेद में दिया है। यह विवरण ही वेद की ज्ञानपूर्वक रचना में प्रमाण है ॥३॥

प्रसंग :- अब दान देने के समान दान लेने का वर्णन भी बुद्धिपूर्वक होना दिखाते हैं -

तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥ (२२८)

यहाँ भी प्रथम सूत्र से 'वेदे' तथा तृतीय से 'बुद्धिपूर्वा' की अनुवृत्ति है।

[तथा] उसी प्रकार (वेद में) [प्रतिग्रहः] दान लेने (= स्वीकार करने) (का निर्देश भी बुद्धिपूर्वक है)।

(अतः उसमें विहित वचनों को स्वीकार करना चाहिए।)

वेद में कहा है - **'वर्चो विज्ञानमाददे'** - (अथर्व० ७/१२/३)

अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञान-विज्ञान तो सब को ग्रहण करना चाहिए।

भूमिष्ट्वा प्रतिगृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य विराधिषि ॥ - (अथर्व० ३/३०/८)।

(यहाँ दान लेने वाला दान को लक्ष्य करके कहता है -) भूमि तुझे स्वीकार करे, यह बड़ा अन्तरिक्ष तुझे स्वीकार करे (अर्थात् मैं यह धन भूमण्डल के उपकार के लिए वा यज्ञ द्वारा वायु की शुद्धि एवं पुष्टि के लिए अथवा विद्या और धर्म का प्रचार करने के लिए स्वीकार करता हूँ) जिससे कि मैं दान लेकर न प्राण से, न मन से, न सन्तति से हीन होऊँ।

यहाँ दान लेने का अधिकार उसी को दिया है, जिसके सामने भूमण्डल और वायुमण्डल को श्रेष्ठ बनाने के अतिरिक्त अपना कोई स्वार्थ न हो साथ ही ऐसा न होने पर भयंकर हानि भी दिखा दी है । तथा - **'पृणीयान्नाधमानाया तव्यान्'** (ऋ.१०/११७/५) - ये सब उदार और यथार्थ बुद्धि के चिह्न हैं ।

पूर्वोक्त हेतुओं से स्पष्ट है, कि वेद उसकी कृति है; जिसको कर्मों के लौकिक और अलौकिक फलों का यथार्थ ज्ञान है । वेद का उपदेश भ्रम और प्रमाद से रहित है । इसलिए धर्म के विषय में प्रमाण है । ।।४ ।।

प्रसंग :- धर्माधर्म में वेद की प्रामाणिकता स्थापित करके, अब वेदविहित कर्मों को स्वयं करने की प्रेरणा करते हैं -

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५ ॥ (२२९)

[आत्मान्तरगुणानाम्] एक आत्मा के गुणों (=धर्माधर्मरूप विशेषताओं) के [आत्मान्तरे] अन्य आत्मा की परिस्थितियों में [अकारणत्वात्] कारण न होने से (वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान स्वयं करना चाहिए) ।

यदि यह व्यवहार न हो, तो 'कृतहान, अकृताभ्यागम' दोष होगा, जो कि न्यायविरुद्ध है ।

इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में कहा है - **"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षण त्वात्, तस्मात् स्वयं प्रयोगःस्यात्"** (मी० ३/७/१८) ।

अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों का फल अनुष्ठाता में ही होता है, उसी के लिए विधान होने से । अतः स्वयं अनुष्ठान करना चाहिए । (दक्षिणा से क्रय करके ऋत्विजों से भी अनुष्ठान करा सकते हैं - मी ३/७/२०) ।

इस कथन से मृत व्यक्ति के निमित्त उसके पुत्र द्वारा मृत व्यक्ति की तृप्ति के

लिए तथाकथित श्राद्ध आदि के द्वारा तथाकथित पण्डितों के तर्पणादि का भी खण्डन हो जाता है; जो लालची, स्वार्थी लोगों ने चलवाया है। ॥५ ॥

प्रसंग :- अब निषिद्ध भोजन करनेवाले (=अनधिकारी) पुरुष को वैदिक सत्कर्मों के फल की अप्राप्ति दिखाते हैं -

तद् दुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥ (२३०)

[तत्] वह (= पुण्य का फल, अभ्युदयरूप फल) [दुष्टभोजने] दुष्टभोजन में = {दुष्टों के भोजन से, दुष्ट (= दूषित= विकृत = निषिद्ध) भोजन से, दुष्टों (=अपात्रों) द्वारा किये गये भोजन (= ऐश्वर्योपभोग) से, दुष्टों को दिए भोजन से} [न] नहीं [विद्यते] होता है।

'दुष्टभोजनम्' पद में अनेक प्रकार से समास - विग्रह हो सकता है। यथा - १. दुष्टानां भोजनम् - दुष्टभोजनम्, २. - दुष्टं च तद् भोजनं च = दुष्टभोजनम्, ३. दुष्टैः (कृतं) भोजनम् = दुष्टभोजनम्, अथवा ४ दुष्टेभ्यो (दत्तम्) भोजनम् = दुष्टभोजनम् । इसी के अनुसार सूत्र का अर्थ दिखा दिया है ।

जो वेदनिषिद्धं भोजन करता है अथवा कराता है, वह व्यक्ति वा समाज कैसे भी विधि-विधान से वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करे; उस व्यक्ति वा समाज को उस पुण्य कर्म का फल नहीं मिलता। वहाँ अशान्ति और संघर्ष बना रहता है। ॥६ ॥

प्रसंग :- दुष्टभोजन वा दुष्टत्व क्या है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

दुष्टं हिंसायाम् ॥७ ॥ (२३१)

[हिंसायाम्] हिंसा होने पर [दुष्टम्] (भोजन) दुष्ट होता है।

किसी प्राणी को मारकर वा दुःख देकर जो भोजन तैयार किया जाता है,

वह भोजन दुष्ट समझा जाता है; क्योंकि यह वेदविरुद्ध तथा अनुचित है। ऐसे हिंसक को भोजन देने वा हिंसक का भोजन करने से दाता और ग्रहीता दोनों को ही पुण्य - फल की प्राप्ति नहीं होती। निरपराध पशुओं को मारना वेदादि में निषिद्ध है। जैसे -

...'पशून् पाहि' (यजु० १/१) - पशुओं की रक्षा करो।

... गां मा हिंसीः' (यजु० १३/४३) - गाय को मत मारो।

... अविं मा हिंसीः' (यजु० १३/४४) - भेड़ को मत मारो।

'मा हिंसीरेकशफं पशुम्' (यजु० १३/४८) - घोड़े आदि एक शफ वालों को मत मारो।

'नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ - मनु० ५/४८

= प्राणियों की हिंसा किए बिना कहीं मांस प्राप्त नहीं होता और प्राणियों की हिंसा सुखदायक नहीं होती। इसलिए मांस का परित्याग कर देना चाहिए। तथा -

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।

प्रसमीक्ष्य निवर्वेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ - मनु० ५/४९

= मांस की उत्पत्ति एवं प्राप्ति में प्राणियों के वध व बन्धनरूप कष्ट की समीक्षा करके, प्रत्येक मनुष्य को सब प्रकार के मांस भक्षण से निवृत्त हो जाना चाहिए।

इसी प्रकार चोरी के भोजन का भी वेदादि शास्त्रों में निषेध है -

'न स्तेयमद्मि' (अथर्व. १४/१/५७)- मैं कभी चोरी का भोजन न करूँ। क्योंकि इससे दूसरे प्राणियों को दुःख होता है।

यह सब दुष्ट भोजन है। इसको देने और लेने वाला भी 'दुष्टभोजन' कहा जाता है। ॥ ७ ॥

प्रसंग - उस दुष्ट भोजन के सम्बन्ध से दोष दिखाते है -

तस्य समभिव्याहरतो दोषः ॥८॥ (२३२)

[तस्य] उस (=दुष्टभोजन) के [समाभिव्याहरतः] संसर्ग (=व्यवहार) से [दोषः] दोष होता है।

हिंसा से उत्पन्न भोजन से किसी प्रकार का संसर्ग होने से भी दोष होता है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा है -

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकः ॥ - मनु० ५/५१

अर्थात् मारने की अनुमति देने वाला, मांस को काटने वाला, पशु को मारने वाला, मांस खरीदने और बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये सब हत्या के दोषी हैं। इसी प्रकार हिंसक व्यक्ति का भोजन करने वाला, उसे देने वाला, साथ निवास वा विवाहादि व्यवहार करने वाला भी दोषी होता है। शुभ फल की तो बात ही दूर है।

अथवा श्रेष्ठ सत्कर्मी पुरुषों की समानता में समाज को हानि पहुँचाने वाले दुष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान का व्यवहार होने पर भी समाज में दोष उत्पन्न हो जाता है। बहुत से लोग उच्छृंखलता के मार्ग पर चल पड़ते हैं।

इसीलिए विचारकों का मत है, कि -

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते, पूजनीयो न पूज्यते ।

त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते, दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥ (स्क. पु. माहेश्वरखण्ड - ३/४५)

अर्थात् जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है और पूजनीयों का तिरस्कार होता है, वहाँ तीन बातें होती हैं - दुर्भिक्ष (अकाल), मृत्यु और भय ॥ ८ ॥

प्रसंग : - अब अदुष्ट भोजन में संसर्ग-दोष का अभाव दिखाते हैं -

तददुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥ (२३३)

यहाँ गतसूत्र में 'समभिव्याहरतो दोषः' की अनुवृत्ति है ।

[तद्] वह (=संसर्गदोष) [अदुष्टे] अदुष्ट भोजन में [न] नहीं [विद्यते] होता है ।

अदुष्ट (=हिंसारहित) भोजन में, अहिंसक के लिए भोजन प्रदान करने में, अहिंसक का भोजन ग्रहण करने में तथा अदुष्ट (=श्रेष्ठ, मर्यादित) आचरण करने वाले व्यक्तियों से सम्पर्क रखने में कोई दोष नहीं होता; अपितु शुभफल ही होता है । समाज भी निर्दोष बनता चला जाता है । ॥ ९ ॥

प्रसंग - यदि अज्ञान से दुष्ट (हिंसक) को भोजन करा दे, अथवा हिंसक का भोजन कर ले तो क्या करे ? इस शंका का समाधान करते हैं -

पुनः विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥ (२३४)

[पुनः] (दुष्टभोजन छोड़कर) फिर [विशिष्टे] विशेष (= अहिंसाजन्य = श्रेष्ठ) में [प्रवृत्तिः] खाने खिलाने की) प्रवृत्ति (= बर्ताव) करे ।

यदि अज्ञान से हिंसाजन्य भोजन खाया, खिलाया हो; तो उसे छोड़कर शुद्ध, सात्त्विक भोजन के खाने-खिलाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए ॥ १० ॥

प्रसंग : - यदि विशिष्ट भोजन (शुद्ध - सात्त्विक भोजन) करने में असमर्थ हो, तो क्या करे ? इस शंका का समाधान करते हैं -

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११ ॥ (२३५)

[समे] (विशिष्ट भोजन में असमर्थ होने पर) सम [वा] अथवा [हीने] हीन भोजन में [प्रवृत्ति] खाने खिलाने की) प्रवृत्ति (होनी चाहिए) ।

यहाँ केवल सात्त्विक भोजन को 'विशिष्ट', सात्त्विक और राजसमिश्रित को 'सम', केवल राजस को'हीन' तथा तामस भोजन को 'हीनतर' समझना चाहिए ।

दुष्ट भोजन (= हीनतर=तामसिक भोजन, मांस-मदिरा आदि) त्याग देने पर यदि विशिष्ट भोजन (= केवल सात्त्विक भोजन में प्रवृत्ति न हो सके, तो 'सम' भोजन में प्रवृत्ति करे । यदि 'सम' में भी प्रवृत्ति के अयोग्य हो तो 'हीन' में खाने-खिलाने की प्रवृत्ति करे । परन्तु 'हीनतर' में कभी प्रवृत्ति न करे । तीनों प्रकार के भोजन की चर्चा गीता में भी है ।

आयु : सत्त्व बलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः ।।-गीता० १७/८
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।। - गीता० १७/९

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। - गीता- १७/१०) ।।११।।

प्रसंग : - अव भोजन - सम्वन्धी पूर्वोक्त न्याय का दान लेने में अतिदेश करते हैं -

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥ (२३६)

[एतेन] इस 'हीन' आदि भोजनों में प्रवृत्ति के विवरण) से [हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः] हीन, सम, और विशिष्ट धार्मिक व्यक्तियों से [परस्वादानम्] प्रतिग्रहरूप दूसरे के धन का (दान रूप में) लेना (भी) [व्याख्यातम्] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

हिंसा आदि दुष्टकर्मों से रहित धार्मिक व्यक्तियों से ही विद्या, धर्म आदि के प्रचार-प्रसार के लिए दान लेना चाहिए । पहले यथाशक्ति 'विशिष्ट धार्मिक' से लेने का प्रयत्न करे; फिर उससे न मिलने पर 'सम (=मध्यम) धार्मिक' से और उनसे भी न मिलने पर 'हीन(=मन्द) धार्मिक' से दान लेने की चेष्टा करे । परन्तु हीनतर (=चाण्डाल आदि अधार्मिक) से कभी लेने की इच्छा न करे ॥ १२ ॥

प्रसंग : - सूत्रकार स्वयं ही धर्मविरुद्धों से दान लेने का निषेध करते हैं -

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३ ॥ (२३७)

[तथा] उसी प्रकार [विरुद्धानाम्] (धर्म से) विरुद्धों (= अधार्मिकों) के (दान का) [त्यागः] त्याग (कर देना चाहिए) ।

जो मनुष्य धर्माचरण का विरोध करते हैं, उनसे दान नहीं लेना चाहिए । अधार्मिकों का धन लेने से उनके अधर्माचरण का विरोध करना कठिन होता है । किन्तु जीवन संकट में अधार्मिकों से भी अल्पतम मात्रा में ले सकते हैं ॥ १३ ॥

प्रसंग : - यदि खाद्यवस्तु आदि एक के ही योग्य हो, किन्तु वहाँ दूसरा भी आ जाए तो क्या करे ? इस शंका का समाधान करते हैं -

हीने परे त्यागः।। १४ ।। (२३८)

[परे] अन्य व्यक्ति के [हीने] (स्वयं से) हीन होने पर [त्यागः] (खाद्य वस्तु आदि से उसका) त्याग (= निवारण = पृथक्करण) (करना चाहिए) ।

यदि खाद्य वस्तु आदि एक के योग्य हो, तो अन्य व्यक्ति के आजाने तथा यह निश्चित हो जाने पर, कि व्यक्ति मुझसे संसार का उपकार करने में तथा धर्माचरण में हीन है; तो प्राण-संकट-काल में उस पदार्थ का स्वयं ही प्रयोग कर ले, उसको न दे । क्योंकि जीवन दूसरों के उपकार के लिए है, सो जिससे अधिक लाभ हो उसका जीवन रहना ठीक है ।

किन्तु यदि संकट न हो, तो मिलकर प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् ऐसे व्यवहार में पूर्ण विवेक से कार्य करना चाहिए ।। १४ ।।

प्रसंग :- यदि आगन्तुक गुणों में बराबर हो, और उपकार भी समान ही हो तो क्या करे ? इस शंका का समाधान करते हैं -

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ।। १५ ।। (२३९)

[समे] अपने समान गुण वाले व्यक्ति (= दाता व आदाता) के प्राप्त होने पर [आत्मत्यागः] अपने (भोजन आदि) का त्याग (कर दे) [वा] अथवा [परत्यागः] दूसरे के [भोजनादि] का त्याग कर दे ।

यदि समान गुणवाला व्यक्ति प्राणसंकट में प्राप्त हो, तो चाहे स्वयं उस पदार्थ का प्रयोग करे अथवा दूसरे को करने दे । क्योंकि उपकार समान है । पुण्य-फल भी प्राप्ति में कोई भिन्नता नहीं । फिर भी आत्मत्याग उत्तम तथा परत्याग मध्यम समझना चाहिए ।। १५ ।।

प्रसंग :- यदि दूसरा व्यक्ति अपने से अधिक धर्मात्मा और परोपकारी हो, तो क्या करे ? इस शंका का समाधान करते हैं -

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥ १६ ॥ (२४०)

[विशिष्टे] (स्वयं से) विशिष्ट (गुणों वाले धार्मिक व्यक्ति) के होने पर [आत्मत्यागः] अपने भोजन आदि का त्याग (कर देना चाहिए), [इति] यह (दान, प्रतिग्रह का प्रकरण) समाप्त हुआ ।

यदि प्राण संकट में हों और दूसरा व्यक्ति स्वयं से उत्तम हो, तो अपनी चिन्ता किए बिना उसी की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए ।

इति शब्द को प्रकार अर्थ में भी मान सकते हैं, कि ऐसे अवसर पर विवेक से यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए ॥ १६ ॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रसंग :- प्रथम आह्निक में वैदिक कर्मों का संक्षेप से वर्णन किया । अब दूसरे आह्निक में उनका विस्तार से वर्णन करेंगे । पहले उन कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले फल की विवेचन करते हैं -

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥ १ ॥ (२४१)

[दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम्] दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में से [दृष्टाभावे] दृष्ट (प्रयोजन) के अभाव में [प्रयोजनम्] प्रयोजन [अभ्युदयाय] (अदृष्टरूप) अभ्युदय (कल्याण) के लिए होता है ।

इसी जन्म में होनेवाले फल का नाम 'दृष्ट' (= प्रत्यक्ष फल) है । जैसे - खेती, व्यापार आदि से होनेवाला । और अगले जन्म में होनेवाले फल को 'अदृष्ट' (= अप्रत्यक्षफल) कहते हैं । जैसे - अश्वमेध,वाजपेय आदि से होने वाला ।

जिन वैदिक कर्मों का फल दृष्ट (= प्रत्यक्ष) है, वे तो दृष्ट फल के लिए हैं; परन्तु जिनका फल दृष्ट नहीं, उनका प्रयोजन अदृष्ट रूप में आत्मसंस्कार द्वारा अभ्युदय होता है । क्योंकि वैदिक कर्मों का उपदेश परमपिता परमेश्वर द्वारा बुद्धिपूर्वक है, वह निष्फल नहीं होता ।

विशेष - दृष्ट और अदृष्ट का अन्य व्यावहारिक अर्थ भी है, कि जिन कर्मों का फल आत्म-संस्कार रूप में कर्ता को ही मिले वह 'अदृष्ट' तथा जिनका फल अन्यों को भी मिले वह दृष्ट कहाता है ।

कुछ व्याख्याताओं का कहना है, कि - कर्मों का शीघ्र प्राप्त होने वाला फल 'दृष्ट' तथा देर से मिलनेवाला फल 'अदृष्ट' कहाता है । ॥१ ॥

प्रसंग : - अब सूत्रकार दृष्ट और अदृष्ट फलवाले कुछ वैदिक कर्मों के उदाहरण देते हैं -

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षण दिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥ (२४२)

[अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदान प्रोक्षणदिङ् नक्षत्रमन्त्रकालनियमाः] स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण 'दिक्, नक्षत्र, मन्त्र, काल और नियम (आदि कर्म) [अदृष्टाय] अदृष्ट फल के लिए [च] तथा (दृष्ट फल के लिए होते) हैं ।

अभिषेचन : - नित्य शुद्ध जल से स्नान करना । इससे शरीर की शुद्धि होती है - 'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति' (मनु० ५/१०९) ।

उपवास - पेट में विकृति आने पर भोजन न करना, अथवा बुराइयों को छोड़कर गुणों के साथ रहना।

ब्रह्मचर्य - उपस्थेन्द्रियसंयम, तथा उसके विरोधी आठ प्रकार के मैथुन का परित्याग कर देना -

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदष्टाङ्गमुच्यते॥

इससे देह में पुष्टि तथा समस्त इन्द्रियों में स्फूर्ति आती है।

गुरुकुलवास - विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में रहना। विद्याध्ययन के साथ-साथ सेवा करना।

वानप्रस्थ - शास्त्रोक्त विधि से गृहस्थ को त्यागकर वन में रहते हुए यज्ञ, तप, अध्ययन आदि वेदोक्त कर्म करना।

यज्ञ - अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त वेदोक्त कर्म करना।

दान - यथासामर्थ्य अन्न, जल, वस्त्र, स्वर्ण, विद्या आदि सत्पात्रों को देना।

प्रोक्षण - यज्ञ के स्रुवा आदि पात्र, गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्न को शुद्ध करना; क्षेत्र, आम्रादि वृक्षों को सींचना; धर्मपूर्वक कमाई से भोग्यसामग्री को प्राप्त करना।

दिक् - पूर्व आदि दिशाओं में विशिष्ट कार्य करना। यथा पूर्वाभिमुख संध्या करना, उत्तर की ओर सिर करके न सोना। ये दिशा-मूलक नियम वैज्ञानिक हैं। इनके दृष्ट फल होते हैं।

नक्षत्र - नामकरण आदि संस्कारों में पुष्य, रोहिणी आदि नक्षत्रों के अनुसार कर्म करना ।

मन्त्र - मन्त्रोच्चारण पूर्वक यज्ञ आदि कर्म करना तथा अच्छी तरह विचार कर कर्म करना ।

काल - उत्तरायण आदि समयविशेष में कर्म करना । अपने कार्य नियत समय पर करना ।

नियम - समाज व शासन की व्यवस्थाओं का पालन करना, यम-नियम आदि का पालन करना ।

इसी प्रकार के अन्य कर्म दृष्ट फल के साथ-साथ अदृष्ट फल को भी देने वाले होते हैं । क्योंकि इनसे उदात्त भावनाओं की वृद्धि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शुद्धि से आध्यात्मिक मार्ग में भी प्रगति होती है । ये कर्म इस जन्म में शीघ्र तथा देर से और अगले जन्मों में भी आत्म-संस्कार द्वारा अभ्युदय को देने वाले तथा जन्म-मरण का क्रम छूटने पर मोक्ष-फल को दिलाने में भी सहायक होते हैं ।

इन कर्मों का केवल दृष्ट वा केवल अदृष्ट फल मानना अनुचित है; क्योंकि शुद्ध, पवित्र जीवनचर्या का फल दूरगामी होता है । जैसा कि योग. में भी कहा है **'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।'** (योग. २/४१) । ॥ २ ॥

प्रसंग :- वैदिक कर्मों को दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन के भेद से दो भागों में विभक्त करके अब सूत्रकार उपधा और अनुपधा के भेद से भी वैदिक कर्मों को विभक्त करते हैं, जिससे उपधारूप कर्म को त्याग सकें -

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥ ३ ॥ (२४३)

[चातुराश्रम्यम्] (ब्रह्मचर्य आदि) चारों आश्रमों में विहित कर्म [उपधाः] उपधारूप [च] और [अनुपधाः]अनुपधारूप (होकर फलप्रद होते हैं) ।

वेदादि शास्त्रों के अनुसार मानव समाज चार आश्रमों में विभक्त माना गया हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ।

१. **ब्रह्मचर्याश्रम** - प्रथम आश्रम बाल्यावस्था और छात्रावस्था है । इसमें शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास के साथ विद्याध्ययन किया जाता है ।

२. **गृहस्थाश्रम** - युवावस्था प्राप्त हो जाने पर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंशानुक्रम को आगे बढ़ाने का प्रयास किया जाता है । जीवन निर्वाह के लिए आर्थिक-साधन जुटाने का प्रयत्न किया जाता है । अन्य सब आश्रमी जीवन-निर्वाह के लिए इसी पर निर्भर रहते हैं ।

३. **वानप्रस्थाश्रम** - जब अवस्था ढलने लगती है, सन्तति भी गृहस्थ आश्रम में आकर कमाने लगते हैं; तब व्यक्ति गृहस्थ को छोड़कर एकान्त में भगवान् का ध्यान करता है । यथावसर सामाजिक सेवा में समय लगाता है । वह चौथे आश्रम की तैयारी करता है ।

४. **संन्यासाश्रम** - इस चौथे आश्रम में जब व्यक्ति स्वयं को परमेश्वर एवं समाज के लिए पूर्णतया अर्पण कर देता है, तब उसका अपना कुछ नहीं रहता । वह सबका हो जाता है और सब उसके हो जाते हैं ।

'उपधा' और 'अनुपधा' का स्पष्टीकरण अगले सूत्र में करेंगे ॥३॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार उपधा और अनुपधा की स्वयं ही व्याख्या करते हैं-

भावदोष उपधाऽदोषोनुपधा ॥ ४ ॥ (२४४)

[भावदोषः] भाव (=भावना=आशय) का दोष [उपधा] उपधा, (तथा) [अदोषः] दोष का न होना [अनुपधा] अनुपधा।

अश्रद्धा से तथा सत्कार वा लाभ की इच्छा अथवा राग द्वेष आदि दोषों से युक्त होकर कर्म करना 'उपधा' कहाता है और इसके विपरीत श्रद्धापूर्वक ईश्वर से प्रीति तथा लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कर्म करना 'अनुपधा' कहाता है।

इनमें से अनुपधा रूप कर्म अभ्युदयकारी और 'उपधा' रूप कर्म अनिष्टफल देने वाले होते हैं। ॥४ ॥

४१ (५४) - अधर्मप्रकरणम् (अधर्मवैधर्म्यम्)

धर्म नामक अदृष्ट की उत्पत्ति का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त 'अधर्म'रूप अदृष्ट का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) अधर्मोऽप्यात्मगुणः। कर्तुरहितप्रत्यवायहेतुः, अतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी। तस्य तु साधनानि शास्त्रे प्रतिषिद्धानि धर्मसाधनविपरीतानि हिंसानृतस्तेयादीनि। विहिताकरणम्, प्रमादश्च -एतानि दुष्टाभिसन्धिं चापेक्ष्यात्ममनसोः संयोगादधर्मस्योत्पत्तिः।

अधर्म भी (अहंकारविशिष्ट) जीवात्मा का ही गुण है। (वह अधर्माचरण करनेवाले) कर्त्ता के दुःख एवं दुःख के साधनरूप दोषों का कारण है। वह अतीन्द्रिय है। अन्तिम दुःख के अनुभव एवं तत्त्वज्ञान से उसका नाश होता है। शास्त्र में निषिद्ध तथा धर्म-साधन के विरोधी हिंसा, असत्य, चोरी आदि उस अधर्म के साधन हैं। शास्त्रों में अनुष्ठान के लिए निर्दिष्ट कर्मों को न करना एवं प्रमाद

(=असावधानता) ये दोनों भी अधर्म के हेतु हैं। (अधर्म के) इन सभी हेतुओं एवं कर्त्ता के दुष्ट अभिप्राय (=छल, लोभ आदि) की अपेक्षा करने वाले आत्मा और मन के संयोग से अधर्म की उत्पत्ति होती है ॥ द्र० ६/२/३,४,६,७; ६/१/७,८)

प्रसंग : - अब सूत्रकार पवित्र द्रव्य का लक्षण बताते हैं -

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥५॥ (२४५)

[यत्] जो (द्रव्य) [इष्टरूपरसगन्धस्पर्शम्] इष्ट (=मन को प्रिय लगने वाले) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला है। [प्रोक्षितम्] मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल से शुद्ध किया (अथवा अपना पसीना सींचकर कमाया) गया है [च] और [अभ्युक्षितम्] बिना मन्त्रोच्चारण के शुद्ध (अथवा पूरे समाज की स्वीकृति से प्राप्त) किया गया है, [तत्] वह [शुचि] पवित्र है।

जो द्रव्य मन को प्रिय लगनेवाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला है, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल से शुद्ध किया गया है अथवा न्यायपूर्वक अपनी गाढ़ी कमाई से पसीने से सींचकर कमाया गया है अथवा बिना मन्त्रोच्चारण के ही शुद्ध किया गया है; वह पवित्र समझना चाहिए ॥५॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अशुचि द्रव्य का स्वरूप बताते हैं -

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥ (२४६)

[शुचिप्रतिषेधः] (जो) (=पवित्र) का प्रतिषेध (=उलटा) हो [इति] वैसा (द्रव्य) [अशुचि] अशुचि (=अपवित्र) कहलाता है।

जो द्रव्य अभीष्ट रूप, रस आदि से रहित, दुर्गन्ध, मलिनता आदि से युक्त तथा अन्यायपूर्वक प्राप्त है वह 'अशुचि' कहलाता है . जो कि पूर्वसूत्रोक्त से उलटा है ॥६॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अशुचि के अन्य रूप बताते हैं -

अर्थान्तरं च ।।७।। (२४७)

[अर्थान्तरम्] अन्य अर्थ [च] भी (अशुचि माना जाता है) ।

'अशुचि' का अर्थ केवल 'शुचि' का अभाव ही नहीं, अपितु इससे भिन्न भी है । जिसका रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तो अविकृत है; परन्तु तिरस्कार, अपमान व अन्याय आदि भावदोषों से युक्त है; तो उसे भी 'अशुचि' समझना चाहिए । ऐसा भोजनादि भी उपभोक्ता को अभ्युदय और सन्तोष प्रदान करने वाला नहीं होता ।। ७ ।।

प्रसंग :- ऐसी कौन सी अन्य स्थितियाँ हैं, जब शुचि उपभोग से भी अभ्युदय नहीं होता ? सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद् विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ।। ८।। (२४८)

[अयतस्य] यमों (=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य., अपरिग्रह) का पालन न करने वाले व्यक्ति का [शुचिभोजनात्] पवित्र उपभोगों से (भी) [अभ्युदयः] अभ्युदय (= कल्याण) [न] नहीं [विद्यते] होता । [वा] और [नियमाभावात्] (शौच-सन्तोष आदि) नियमों के अभाव (में भी यमों के आचरण) से [विद्यते] (अभ्युदय) होता है [यमस्य] यमों के [अर्थान्तरत्वात्] भिन्न पदार्थ (= नियमों से उत्कृष्ट) होने से ।

इस सूत्र के विषय को मनुस्मृति में भी अच्छे प्रकार से समझाया है -

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।। मनु० ४/२०

अर्थात् यमों का सेवन नित्य करे, केवल नियमों का नहीं; क्योंकि यमों को न करता हुआ और केवल नियमों का सेवन करता हुआ भी अपने मार्ग/लक्ष्य से पतित हो जाता है (=संसार में गिरा रहता है)। इसलिए यमों का सेवन करते हुए नियमों का सेवन नित्य करना चाहिए ॥८॥

४० (५३) धर्मप्रकरणम् (धर्मवैधर्म्यम्)

संस्कार गुण का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त 'धर्म' नामक अदृष्ट गुण का निरूपण करने के लिए (वैशे० सू १/१/२; ६/२/१,२,९;६/१/५; १०/२/८ आदि के अनुसार) आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश.) धर्मः पुरुषगुणः। कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः, अतीन्द्रियोऽन्त्यसुख संविज्ञानविरोधी, पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः, वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः। तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि।

तत्र सामान्यानि धर्मे श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्वम्, सत्यवचनम्, अस्तेयम्, ब्रह्मचर्यम्, अनुपधा, क्रोधवर्जनम्, अभिषेचनम्, शुचिद्रव्यसेवनम्, विशिष्टदेवताभक्तिः, उपवासोऽप्रमादश्च।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानाम् इज्याध्ययनदानानि।

ब्राह्मणस्य विशिष्टानि प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानि, स्ववर्णविहिताश्च संस्काराः।

क्षत्रियस्य सम्यक् प्रजापालनम्, असाधुनिग्रहो युद्धेष्वनिवर्तनं स्वकीयाश्च संस्काराः।

वैश्यस्य क्रयविक्रयकृषिपशुपालनानि स्वकीयश्च संस्काराः।

शूद्रस्य पूर्ववर्णपारतन्त्र्यम्., अमन्त्रिकाश्च क्रियाः ।

आश्रमिणां तु ब्रह्मचारिणो गुरुकुलनिवासिनः स्वशास्त्रविहितानि गुरुशुश्रूषाग्नीन्धनभैक्ष्याचरणानि मधुमांसदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनादिवर्जनं च ।

विद्याव्रतस्नातकस्य कृतदारस्य गृहस्थस्य शालीनयायावर वृत्युपार्जितैरर्थैर्भूतमनुष्यदेवपितृब्रह्माख्यानां पञ्चानां महायज्ञानां सायम्प्रातरनुष्ठानम्, एकाग्निविधानेन पाकयज्ञसंस्थानां च नित्यानां शक्तौ विद्यमानायाम्, अग्न्याधेयादीनां च हविर्यज्ञसंस्थानामग्निष्टोमादीनाम्, सोमयज्ञसंस्थानां च, ऋत्वन्तरेषु ब्रह्मचर्यमपत्योत्पादनं च ।

ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य वा ग्रामान्निर्गतस्य वनवासो वल्कलाजिनकेश श्मश्रुनखरोमधारणं च । वन्यहुतातिथिशेषभोजनानि वानप्रस्थस्य ।

त्रयाणामन्यतमस्य श्रद्धावतः सर्वभूतेभ्यो नित्यमभयं दत्त्वा, संन्यस्य स्वानि कर्माणि, यमनियमेष्वप्रमत्तस्य षट्पदार्थप्रसंख्यानाद् योगप्रसाधनं प्रव्रजितस्येति ।

दृष्टं च प्रयोजनमनुद्दिश्यैतानि साधनानि भावप्रसादं चापेक्ष्य आत्ममनसोः संयोगाद् धर्मोत्पत्तिरिति ।।

धर्म पुरुष (=जीवात्मा) का गुण है। वह धर्म करने वाले प्राणियों के प्रिय (=सुख), हित (=सुख के साधन) और मोक्ष का कारण है। यह अतीन्द्रिय है। [यतः धर्म उत्पत्तिशील होने से विनाशशील है, सो उस धर्म के फलरूप में प्राप्त] अन्तिम सुख के अनुभव (= उपभोग) से उस धर्म का नाश हो जाता है। वह धर्म आत्मा तथा अन्तःकरण (= मन) के संयोग से और कपट इत्यादि दोष से रहित संकल्प से उत्पन्न होता है। ब्राह्मणादि चार वर्ण एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमियों के लिए विहित कर्म उस धर्म के निमित्त साधन हैं। वेद एवं धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों में वर्णों और आश्रमियों के साधारण धर्मों और विशेष धर्मों के साधन के लिए कहे गये द्रव्य, गुण एवं क्रियाएँ उस धर्म के साधन हैं।

उन (= सामान्य धर्मों के और विशेष धर्मों के साधनों) में से सभी वर्णों एवं सभी आश्रमियों के लिए समान रूप से धर्म के ये (१३) साधन हैं - धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणियों का उपकार, सत्यवचन, अस्तेय (= चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अनुपधा (= भावशुद्धि = दूसरे को ठगने की अनिच्छा), क्रोध न करना, स्नान, पवित्र वस्तुओं का सेवन, वेदादि शास्त्रोक्त देवता (= परमेश्वर) की भक्ति (एवं विद्वानों की सेवा), उपवास (= कभी-कभी भोजन-निवृत्ति) और अप्रमाद ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों (= द्विजों) के लिए याग, अध्ययन (= स्वाध्याय) तथा दान ये तीन (समान रूप से धर्म के साधन हैं) ।

दान लेना, पढ़ाना, यागादि कर्म कराना तथा अपने वर्ण (= ब्राह्मण) के लिए विहित संस्कार - ये सभी ब्राह्मणों के लिए विशेष धर्म के साधन हैं ।

अच्छी तरह प्रजा का पालन करना, दुष्टों का दमन, युद्धों में न लौटना (= शत्रु को देखकर न भागना) तथा अपने (= क्षत्रियों के) लिए शास्त्राओं में विहित संस्कार ये क्षत्रियों के लिए धर्म के विशेष साधन हैं ।

खरीदना, वेचना (= व्यापार), खेती करना, गौ आदि पशुओं का पालन तथा अपने (= वैश्यों के) लिए शास्त्रों में विहित संस्कार ये सभी वैश्यों के लिए धर्म के विशेष साधन हैं ।

ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के कार्यों में (उनकी योजनाओं के अनुसार) सहयोग करना/सेवा करना तथा विना मन्त्र के भी भोजनादि क्रियाएँ करना - ये शूद्रों (= प्रयत्न करने पर भी न पढ़ सके व्यक्तियों) के लिए धर्म के विशेष साधन हैं ।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि चारों आश्रमों में वर्तमान मनुष्यों में से गुरुकूल में रहनेवाले ब्रह्मचारियों के स्वशास्त्र (= विशेषकर ब्रह्मचारी के लिए ही शास्त्रों) में विहित गुरु की सुश्रूषा (= सेवा), अग्नीन्धन (= समीधाएं लाना और हवन

करना), भिक्षा माँगना एवं मधु, मांस, दिन में निद्रा, आँख में अंजन लगाना, अभ्यङ्ग (= मालिश करना) आदि (= शारीरिक सजावट के प्रयोग) - इन सब को छोड़ना ये सभी उनके विशेष (= असाधारण) धर्म के साधन हैं ।

विद्याव्रतस्नातक (= वेदाध्ययन के लिए स्वीकृत व्रतों का वेदाध्ययन के सम्पन्न हो जाने पर छोड़ देनेवाले = चीर्णविद्याव्रत) विवाहित गृहस्थों के विशेष धर्म के साधन इस प्रकार हैं **१- शालीनवृत्ति** (= स्वयं एक घड़ा अन्न - संग्रह कर लेने पर, अथवा श्रद्धा से दाता के दिए अन्न के ग्रहण) एवं **२ - यायावरवृत्ति** (= भिक्षा से प्राप्त अन्न आदि) के द्वारा उपार्जित पदार्थों से प्रातःकाल और सायंकाल भूतयज्ञ (= काक आदि प्राणियों के लिए अन्न का उत्सर्ग करना), मनुष्ययज्ञ (= अतिथिसेवा), देवयज्ञ (= हवन करना), पितृयज्ञ (= जीवित माता-पिता, दादा-दादी, आदि की श्रद्धा से सेवा सुश्रूषा करना), ब्रह्मयज्ञ (= संध्या करना, वेदपाठ) -इन पाँच नित्य महायज्ञों का अनुष्ठान करना एवं सामर्थ्य के रहने पर 'एकाग्निविधान' (=विवाह के समय गृहीत 'औपासनिक' अग्नि) से पाकयज्ञ संस्थाओं (= अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी - इन सात विशेष पाक यज्ञों) का अनुष्ठान नित्य करना; वसन्त ऋतु आदि में किये जाने वाले वैदिक शास्त्रों में विहित अग्न्याधेय आदि हविर्यज्ञसंस्थाओं (= अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास, आग्रहायणेष्टि, निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणी इन सात हविर्यज्ञसंस्थाओं) का तथा अग्निष्टोम इत्यादि (= अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम -इन सात) सोमयज्ञविशेषों का अनुष्ठान करना और ऋतुकाल से भिन्न समय में ब्रह्मचर्य का पालन करना एवं यथासमय सन्तान को उत्पन्न करना । (ये सब गृहस्थ के विशेष धर्म के साधन है ।)

[**विशेष** - १. पूर्वोक्त प्रसंग में 'शक्तौ विद्यमानायाम्' ऐसा कहने का तात्पर्य है, कि शारीरिक रूप से एवं आर्थिक रूप से असमर्थ होने पर इन पाकयज्ञों,

हविर्यज्ञों एवं सोमयागविशेषों के न करने पर भी दोष नहीं है। किन्तु पञ्चमहायज्ञ तो उनको भी यथासामर्थ्य करने चाहिए।

२. गृहस्थी व्यक्ति चार प्रकार से आर्थिक साधन जुटाकर धर्मानुष्ठान कर सकते हैं-

१. शालीनवृत्ति से, २. यायावरवृत्ति से, ३. वार्त्तावृत्ति से और ४. घोर संन्यासिका वृत्ति से।

इनमें से पहली दो वृत्तियों वाले गृहस्थियों की ही चर्चा यहाँ की गयी है। शेष दो वृत्तियों को इस प्रकार समझना चाहिए।

३. वार्तावृत्ति - कृषि, वाणिज्य एवं विविध शिल्प कलाओं से धनार्जन करते हुए धर्मानुष्ठान करना।

४. घोरसंन्यासिकावृत्ति - जंगल में स्वयं उगे हुए कन्दमूल आदि से एवं खेत में छूटे हुए अनाज के कणों को बीनकर पेट भरते हुए धर्मानुष्ठान करना।]

३. [अब क्रमप्राप्त तृतीय वानप्रस्थाश्रमियों के धर्मसाधन बताते हैं-] ब्रह्मचर्याश्रम अथवा गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ लिए हुए सभी व्यक्तियों के लिए विशेष धर्म के साधन हैं - ग्रामों से निकलकर बनों में रहना; वल्कल; (= वृक्ष की छाल) तथा अजिन (= मृगचर्म) का परिधान करना; केश, दाढ़ी-मूँछ, नख तथा रोमों का धारण करना (= न कटवाना) एवं वनों के कन्द-मूल फलों तथा होम से व अतिथियों से अवशिष्ट अन्नों का भोजन करना आदि।

४-[अब क्रम प्राप्त चतुर्थ संन्यासाश्रमियों के धर्मसाधन बताते हैं -] तीनों (= ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ - इन) में से किसी भी आश्रम से कोई भी श्रद्धावान् पुरुष जब सभी प्राणियों को सदा के लिए अपनी ओर से अभयदान देकर संन्यास लेकर, अपने अन्य सब अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़ देता है, (अहिंसा

आदि) यमों तथा (शौचादि) नियमों का विना प्रमाद के पालन करता हो, ऐसे परिव्राजक (= संन्यासी) के लिए (इस शास्त्र में वर्णित द्रव्यादि) छह पदार्थों के तत्त्वज्ञान के द्वारा योग का अनुष्ठान ही विशेष धर्म का साधन है ।

धर्म के ये साधन (सम्मान, धनलाभ आदि) दृष्ट प्रयोजनों को उद्देश्य न बनाकर अनुष्ठित होने पर चित्त - विशद्धि के अभिप्राय की अपेक्षा से आत्मा तथा मन के संयोग से धर्म की उत्पत्ति होती है । इति = इस प्रकार धर्म का प्रकरण पूरा हूआ ॥

प्रसंग :- पूर्वसूत्रोक्त विषय को दृढ़ करने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

असति चाभावात् ॥ ९ ॥ (२४९)

गत सूत्र से 'अयतस्य', 'अभ्युदयो न विद्यते' की अनुवृत्ति है ।

[असति] (यमों के) न होने पर [अभावात्] (शुचिभोजन आदि के सम्भव) न होने से [च] भी (यमाचरण से रहित व्यक्ति का कल्याण नहीं होता - यह समझना चाहिए) ।

क्योंकि यमों के विना शुद्ध भोजन आदि सम्भव नहीं, इसलिए भी पूर्व सूत्र के समान यमों के आचरण के विना अभ्युदय (= कल्याण) सम्भव नहीं है ॥ ९ ॥

प्रसंग :- धर्माधर्म की परीक्षा के अनन्तर अव सूत्रकार धर्माधर्म में प्रवृत्ति के मूल राग-द्वेष का वर्णन करते हैं -

सुखाद् रागः ॥१० ॥ (२५०)

[सुखात्] सुख से [रागः] राग होता है ।

अनुभव किए हुए विषय-सुख तथा सुख-साधनों को पुनः पाने की इच्छा, तृष्णा, लोभ को 'राग' कहते हैं । और अनुभव किए हुए दुःख तथा दुःख के साधनों

के प्रति, जो प्रतिकार करने का भाव, प्रतिहिंसा का आवेश, क्रोध होता है, उसे द्वेष कहते हैं।

सूत्र का सुख शब्द 'दुःख' का तथा 'राग' शब्द 'द्वेष' का उपलक्षण है। राग और द्वेष से मूढ़ता उत्पन्न होती है। तथा राग, द्वेष और मोह, धर्म-अधर्म में प्रवृत्ति के कारण होने से दोष कहलाते हैं। जैसा कि महर्षि गौतम ने कहा है - **'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः'** - **(न्याय० १/१/१८)**।

प्रसंग :- अब सूत्रकार राग-द्वेष की उत्पत्ति के अन्य कारण बताते हैं -

तन्मयत्वाच्च ॥ ११ ॥ (२५१)

[तन्मयत्वात्] दृढ़तर संस्कारों से [च] भी (राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है)।

सुख के साधनों का अभ्यास करने से जो दृढ़तर संस्कार (= रागमयव्यसन = रागसंस्कार का प्रावल्य = राग - संस्कार का चित्र) स्थिर होता है, उससे भी राग की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार दुःख के कारणों में द्वेष के प्रबल संस्कारों से द्वेष की उत्पति होती है।

यद्यपि ये संस्कार भी सुख-दुःख के भोग से ही उत्पन्न होते है, तथापि ये संस्कार राग-द्वेष को सतत उद्‌बुद्ध रखते हैं। इसलिए अलग कहे हैं ॥ ११ ॥

प्रसंग :- राग-द्वेष की उत्पत्ति के अन्य कारण बताते हैं -

अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥ (२५२)

[अदृष्टात्] अदृष्ट (= पूर्वजन्म में अर्जित संस्कारों) से [च] भी (राग द्वेष की उत्पत्ति होती है)।

इस जन्म में राग-द्वेष के कारणीभूत सुख-दुःख का अनुभव न करने पर भी जो राग-द्वेष प्रवृत्त होता है, उसका कारण अदृष्ट (= पूर्व जन्म में अनुभूत सुख-दुःख वा निजस्वभाव) होता है। जैसे - उत्पन्न हुए बच्चे के स्तन्य(= माँ के दूध) के प्रति अनुरागी होकर प्रवृत्ति होती है। युवावस्था में प्रायः पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति राग उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार इस जन्म में काटे विना भी सर्प से द्वेष तथा छोटे बच्चों का अन्धकार से द्वेष होता है। मृत्यु का भय भी पूर्वानुभव से होता है। ॥१२ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार राग-द्वेष की उत्पत्ति के अन्य भी कारण बताते हैं -

जातिविशेषाच्च ॥१३ ॥ (२५३)

[जातिविशेषात्] जाति-विशेष से [च] भी (राग - द्वेष की उत्पत्ति होती है)।

किसी विशेष योनि में जन्म लेने से भी प्राणी के किन्हीं नियत पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। जैसे - मृग आदि का घास, तिनकों में; सिंह-व्याघ्र आदि का मांस-भक्षण में; ऊँट-जाति के प्राणियों का कंटीले वृक्षों के आहार में तथा मानव जाति का अन्न आदि के आहार में विशेष अनुराग होता है।

इसी प्रकार जाति के कारण ही विभिन्न जातियों के प्राणियों में परस्पर द्वेष की उत्पत्ति देखी जाती है। यह शाश्वतिक विरोध कहलाता है। जैसे - ऊँट-भैंस का, साँप-नेवले का, कुत्ते-गीदड़ का, काक-उलूक का परस्पर द्वेष होता है। ॥१३ ॥

प्रसंग :- जिस प्रकार सुख-दुःख से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही राग-द्वेष से धर्म-अधर्म में प्रवृत्ति दिखाते हैं -

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥ (२५४)

[धर्माधर्मयोः] धर्म और अधर्म में [प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति (= प्रवर्तन=संलग्नता =आचरण) [इच्छाद्वेषपूर्विका] इच्छा - द्वेषपूर्वक होती है ।

सूत्र के 'इच्छा' शब्द से 'राग' का निर्देश है ।

व्यक्ति धर्म (=वेदादिविहित कर्मों) तथा अधर्म (=वेदादि में निषिद्ध कर्मों) का आचरण राग-द्वेष के कारण करता है। जैसे - राग से यज्ञ, अध्ययन, दान आदि धार्मिक कार्यों में तथा तात्कालिक सुखाभास होने पर राग से सुरापान, परदारागमन आदि अधर्मजनक कार्यों में प्रवृत्ति होती है ।

इसी प्रकार द्वेष से हिंसा आदि अधर्म (=निषिद्ध कर्मों) में तथा धनमद से अन्य से द्वेष के कारण ग्रामकामेष्टि आदि धर्मजनक कार्यों में प्रवृत्ति होती है।

प्रवृत्ति का अर्थ गौतमीय न्यायसूत्र में बताया है, कि-

'प्रवृत्तिर्वाग्वबुद्धिशरीरारम्भः' -(न्याय० १/१/१७) अर्थात् यह प्रवृत्ति वाणी, बुद्धि और शरीर तीनों से होती है। जैसे - **१ शुभ (= धार्मिक) प्रवृत्ति -**

शरीर से - दान, परित्राण (= रक्षा), परिचरण (= सेवा), ब्रह्मचर्य का पालन।

वाणी से - सत्य, प्रिय, हितकर बोलना,

मन से - दया, लोभत्याग, श्रद्धा ।

२. अशुभ (= अधार्मिक) प्रवृत्ति -

शरीर से - हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन (= व्यभिचार) ।

वाणी से - मिथ्या, कठोर-भाषण, चुगली, असम्बद्धप्रलाप (= ऊटपटांग बोलना) ।

मन से - परद्रोह (= अपकार की भावना), परद्रव्य की इच्छा, नास्तिकता (= परलोक नहीं है - ऐसी बुद्धि) । - (द्रष्टव्य- न्याय, वात्स्या. १/१/२) ॥१४॥

प्रसंग - अब राग-द्वेष-पूर्वक धर्माधर्म में प्रवृत्ति का फल वताते हैं -

तत्संयोगो विभागः ॥१५॥ (२५५)

['ततःसंयोगो विभागश्च' - चन्द्रा.]

'तत्' यह अव्यय पञ्चमी-विभक्ति के अर्थ में हेतु को कहने के लिए है ।

[तत्] उस (= धर्माधर्म- आचरण रूप हेतु) से [संयोगः] (शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा का) संयोग (=जन्म) होता है, (तथा) [विभागः] (शरीर आदि से) विभाग (= मरण) होता रहता है ।

पुनः जन्म-मरण, पुनः जन्म-मरण रूप प्रेत्यभाव चलता रहता है; जब तक कि मोक्ष वा प्रलय न हो जाय । **(पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्)** ।

जन्म-मरण की धर्माधर्म के आचरण से सतत प्रवृत्ति को दिखाने के लिए 'चकार' का अप्रयोग है ॥ १५ ॥

३३ (४६) - इच्छाप्रकरणम् (=इच्छावैधर्म्यम्)

दुःख - निरूपण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त 'इच्छा' गुण का वर्णन करते हुए सूत्र ६/२/१०आदि के अनुसार आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश.) स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा । सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वा उत्पद्यते । प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः । कामोऽभिलाषः, रागः,सङ्कल्पः, कारुण्यम्, वैराग्यम्, उपधा, भाव इत्येवमादय इच्छाभेदाः ।

मैथुनेच्छा कामः । अभ्यवहारेच्छाऽभिलाषः । पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः । अनासन्नक्रियेच्छा सङ्कल्पः । स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम् दोषदर्शनाद् विषयत्यागेच्छा वैराग्यम् । परवञ्चनेच्छा उपधा । अन्तर्निगूढेच्छा भावः । चिकीर्षाजिहीर्षेत्यादिक्रियाभेदाद् इच्छाभेदा भवन्ति ।

अपने लिए अथवा अन्य प्राणी के लिए अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की प्रार्थना (अर्थात् 'यह मुझे मिल जाय' या 'यह इस व्यक्ति को मिल जाय' - इस प्रकार की जो कामना है, वही) 'इच्छा' नामक गुण है । वह (इच्छा) सुखादि की अपेक्षा करने वाले अथवा स्मरणरूप (निमित्तकारण) की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप (असमवायिकारण से आत्मारूप समवायिकारण में) उत्पन्न होती है । (यह इच्छा) प्रयत्न, स्मरण, धर्म और अधर्मरूप कार्यों का कारण है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा एवं भाव इत्यादि इच्छा गुण के ही भेद हैं, स्वतन्त्र गुण नहीं) ।

(जैसे कि -) मैथुन की इच्छा (उपपदरहित) 'काम' शब्द है । [उपपदरूप दूसरे पद के साथ रहने पर 'काम' शब्द सामान्यरूप से कामना अर्थ में ही होता है । जैसे - 'स्वर्गकामो यजेत', 'वृष्टिकामो कारीर्या यजेत' - इत्यादि]

भोजन करने की इच्छा ही 'अभिलाषा' है । विषयों को बार-बार भोगने की इच्छा ही 'राग' है । [योगदर्शन में भी कहा है - 'सुखानुशयी रागः' - (योग० २/७)] अप्राप्त के प्राप्त करने की इच्छा ही 'संकल्प' है । अपने स्वार्थ की अपेक्षा न करके दूसरे के दुःख को छुड़ाने की इच्छा ही 'कारुण्य' है ।

विषयों में दोष के ज्ञान से उन्हें छोड़ने की इच्छा ही 'वैराग्य' है ।

दूसरे को ठगने की इच्छा ही 'उपधा' है ।

अन्तःकरण में छिपी हुई इच्छा ही 'भाव' है ।

(इसी प्रकार) चिकीर्षा (=कुछ करने की इच्छा), जिहीर्षा (=छोड़ने की इच्छा) इत्यादि भी (अपने अन्तर्गत) क्रियाओं के भेद के रहने पर भी (वस्तुतः) इच्छा के ही भेद हैं। (जैसे- पिपठिषा, जिगमिषा- इत्यादि)।। (द्र० -६/२/१०-१४)।

३४ (४७) - द्वेषप्रकरणम् (द्वेषवैधर्म्यम्)

इच्छा के पश्चात् क्रमप्राप्त 'द्वेष' गुण का वर्णन करते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश.) प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते, स द्वेषः। स चात्ममनसोः संयोगाद् दुःखापेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वोत्पद्यते। प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः। क्रोधः, द्रोहः, मन्युः, अक्षमा, अमर्ष इति द्वेषभेदाः।।

प्रज्वलन-(=सन्ताप, डाह) स्वरूप गुण 'द्वेष' कहाता है। (अर्थात्) जिसके रहते हुए प्राणी अपने आप को जलाता हुआ सा समझता है, वही 'द्वेष' गुण है। वह (द्वेष) दुःख की अपेक्षा अथवा स्मृति की अपेक्षारूप निमित्तकारण से, आत्मा और मन के संयोगरूप असमवायिकारण से (आत्मारूप समवायिकारण द्रव्य में) उत्पन्न होता हैं। (यह द्वेष) प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का कारण है। [जैसे - 'मैं' इसे मार डालूँगा'- ऐसा प्रयत्न द्वेष से उत्पन्न होता। जिसने अपकार किया द्वेष के कारण याद रखता है। वेद, शास्त्रादिकों के वास्तविक अर्थ से विपरीत अर्थ करने वालों में द्वेष से धर्म होता है तथा वेद, शास्त्रों के वास्तविक अर्थ की रक्षा करने वालों में द्वेष करने से अधर्म होता है।]

क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष (ये पाँच) द्वेष के भेद हैं।

[जैसे - शरीर, इन्द्रिय आदि में क्षणिक विकार उत्पन्न करने वाले द्वेष को 'क्रोध' कहते हैं।

जिससे शरीरादि में विकार का दर्शन नहीं होता, किन्तु जिसका कालान्तर में अपकार से पर्यवसान होता है, उस द्वेष को ही 'द्रोह' कहते हैं।

अपकार करने में असमर्थ प्राणी के अन्तःकरण में गुप्त रहने वाला द्वेष 'मन्यु' कहाता है।

दूसरे के गुणों से द्वेष को ही 'अक्षमा' कहते हैं।

अपने गुणों के तिरस्कार को सहन न करना 'अमर्ष' नामक द्वेष है।]
- (द्र० - ६/२/१०-१४)।

(योगदर्शन में भी कहा है - **"दुःखानुशयी द्वेष"** - योग २/८)॥

३५ (४८) - प्रयत्नप्रकरणम् (प्रयत्नवैधर्म्यम्)

'द्वेष' गुण के पश्चात् क्रमप्राप्त 'प्रयत्न' नामक गुण का वर्णन करते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश.) प्रयत्न : संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधः जीवनपूर्वकः, इच्छाद्वेषपूर्वकश्च।

तत्र जीवनपूर्वकः सुप्तस्य प्राणापानसन्तानप्रेरकः, प्रबोधकाले चान्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुः। अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्माधर्मापेक्षादुत्पत्तिः। इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य व्यापारस्य हेतुः शरीरविधारकश्च। स चात्ममनसोः संयोगाद् इच्छापेक्षाद् द्वेषापेक्षाद् वोत्पद्यते॥

प्रयत्न, संरम्भ (आरम्भ), उत्साह ये सभी पर्यायवाची (= समानार्थक) शब्द हैं। यह (प्रयत्न) [कारणभेद से] दो प्रकार का है -१ - (जीवनं पूर्वं कारणमस्येति जीवनपूर्वकः) जीवनधारण के लिए होने वाला तथा २ - इच्छा और द्वेष से होने वाला।

[इन दोनों भेदों को स्पष्ट करते हैं -] इन दोनों में से १ - [देह से सम्बद्ध फलोन्मुख कर्माशयसहित आत्मा का मन के साथ संयोग का नाम ही जीवन है, ऐसे] जीवित प्राणियों की निद्रावस्था में प्राणवायु, अपानवायु आदि (शरीरान्तर्वर्ती) वायुसमूह को (उचित रूप से) प्रेरित करने वाला और जाग्रदवस्था में अन्तःकरण (मन) को दूसरी -चक्षु आदि वहिरिन्द्रियों से सम्बन्ध करने वाला प्रयत्न ही 'जीवनपूर्वक प्रयत्न' है । धर्म तथा अधर्मरूप निमित्तकारण की अपेक्षा से, आत्मा और मन के संयोगरूप असमवायिकारण से [आत्मारूप समवायिकारण में] इस जीवनपूर्वक प्रयत्न की उत्पत्ति होती है ।

दूसरा (= इच्छा -द्वेषमूलक) प्रयत्न हितों की प्राप्ति एवं अहितों के परिहार करने में समर्थ उपयुक्त क्रिया एवं शरीर की स्थिति (= धारण करना) इन दोनों का कारण होता है । और वह (= इच्छाद्वेषमूलक दूसरा प्रयत्न) इच्छा या द्वेष की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होता है । [यह प्रयत्न हित के साधनों के ग्रहण करने में इच्छापूर्वक तथा दुःख के कारणों को हटाने में द्वेष से उत्पन्न होता है ।] -(द्र० ६/२/१४,१५ एवं ७/२/२५) ॥

प्रसंग :- जन्म-मरण की सतत प्रवृत्तिरूप प्रेत्यभाव की जिस अवस्था में समाप्ति होती है, उस 'मोक्ष' को वताते हुए सूत्रकार कहते हैं -

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥ (२५६)

[आत्मकर्मसु] आत्म-सम्वन्धी (=आत्मा का ज्ञान कराने वाले) कर्मों में [मोक्षः] (जन्म-मरण के सतत प्रवाह से) मोक्ष (=छुटकारा) । [व्याख्यातः] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

आत्मा और परमात्मा के श्रवण-मनन - निदिध्यासन और साक्षात्कार तथा समाधि-पर्यन्त अष्टांग योगाभ्यास को मोक्ष का साधन वताया गया है; जिसकी व्याख्या सभी मोक्षशास्त्रों में की गयी है । इन सव अनुष्ठानों से आत्मसाक्षात्कार

होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे -

'तद्भावे संयोगाभावेऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः' -वैशे.५/२/१८ (२१६)

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्यमेति' - (यजु० ३१/१८)

'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठो०१/२/१२)। (एवं कठो० २/३/८,९)।

'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः (न्याय० ४/२/४६) ॥ १६ ॥

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।
॥ षष्ठोऽध्यायश्च समाप्तः ॥

४२ (५५) - (प्रासङ्गिकं) संसारापवर्गप्रकरणम्

धर्म और अधर्म के साधनों का निरूपण करके अब उनसे होनेवाले संसार तथा अपवर्ग का वर्णन करते हुए (वैशे० ५/२/१६,१८ ६/२/१५,१६ आदि सूत्रों के अनुसार) आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश.) अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहिताद् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेष्वाशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिर्योगो भवति। तथा प्रकृष्टाधर्मात् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेष्वनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिर्योगो भवति। एवं प्रवृत्तिलक्षणाद् धर्मादधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः संसारबन्धो भवति।

ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसङ्कल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्योत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चो पभोगान्निरोधे

सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्तते । तदा निरोधाद् निर्बीजस्यात्मनःशरीरादिनिवृत्तिः । पुनःशरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति ।।

प्रवृत्त करने वाले उत्कृष्ट धर्म से थोड़े से अधर्म के सहयोग से ब्रह्म (= वेदज्ञों के), इन्द्र (= शासकों के), प्रजापति (= सुसंस्कार देते हुए सन्तान के पालकों के), पितर (= विद्वान् धार्मिक माता-पिता के) एवं मनुष्य (= साधारण मनुष्यों) के कुलों में जन्म होता है । उनमें कर्मफलभोग के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, विषय एवं सुख आदि के साथ तत्त्वज्ञान से रहित एवं राग-द्वेष से युक्त पुरुष का सम्बन्ध होता है । [अर्थात् जिसका धर्म उत्कृष्ट रहता है, उसे उत्कृष्ट शरीर मिलता है, उत्कृष्टतर धर्म वाले को उत्कृष्टतर शरीर एवं उत्कृष्टतम धर्म वाले को उत्कृष्टतम शरीर, इन्द्रिय आदि मिलते हैं ।]

इसी प्रकार थोड़े से धर्म से युक्त प्रकृष्ट अधर्म से प्रेत (=मरने के पश्चात् सूक्ष्म परोपजीवी) योनि में तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि में अहितकर शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा दुःख आदि का सम्बन्ध होता है । इस प्रकार अधर्मसहित प्रवृत्तिस्वरूप धर्म से देवों (=विद्वानों), मनुष्यों, तिर्यक् तथा नारकीय योनियों में अज्ञानी प्राणियों को बार-बार जन्म मरणरूप संसार रूप बन्धन प्राप्त होता है ।

[धर्म-अधर्म से संसारबन्ध का वर्णन करके अब धर्मविशेष से अपवर्ग (=मोक्ष) का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं -] शास्त्रज्ञानपूर्वक किये हुए फल की इच्छा से रहित (=निष्काम) कर्मों के अनुष्ठानरूप उत्कृष्ट धर्म से (जीवात्मा) विशुद्ध कुल में उत्पन्न होता है । इससे पुरुष को दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपायों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है । इस जिज्ञासा से तत्त्वज्ञानी आचार्य के पास जाकर उनसे (वैशेषिकदर्शन में कहे हुए सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों का संग्रह करने वाले) द्रव्यादि षट् पदार्थों के (साधर्म्य - वैधर्म्यरूप धर्मज्ञान के द्वारा) तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है। जिससे विरोधी अज्ञान की निवृत्ति होने के अनन्तर

(विषयों में दोषदर्शन के कारण उनसे) वैराग्य होता है। विरक्त पुरुष में राग-द्वेष की सम्भावना न रहने से राग और द्वेष से होने वाले धर्म और अधर्म की आगे उत्पत्ति नहीं होती। पहले सञ्चित धर्म और अधर्म का (सुखदुःखरूप फलों के) उपभोग से नाश हो जाने पर सन्तोषात्मक सुख तथा शरीरपरिच्छेद (= शरीर के प्रति घृणा) इन दोनों की उत्पत्ति होती है। इनसे रागादि निवृत्त होते हैं। इसके पश्चात् निवृत्तिस्वरूप केवल (= अधर्म से सर्वथा असम्बन्ध) धर्म आत्मतत्त्वज्ञान की सहायता से (परम) सुख को उत्पन्न करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। जिस समय वह धर्म निवृत्त हो जाता है, उस समय आत्मा संसार के बीज (= धर्माधर्मादि) से रहित हो जाता है, अतः उसके उपभोग के पूर्व-आयतन (= वर्तमान शरीर, इन्द्रिय आदि) की निवृत्ति हो जाती है, एवं आगे शरीरादि की उत्पत्ति रुक जाती है। लकड़ी के जल जाने पर अग्नि की निवृत्ति के समान उस समय शरीरादि का फिर से उत्पन्न न होना ही 'मोक्ष' है।

पूर्वोक्त आशय के अनुसार ही अन्य शास्त्रों में भी कहा है -

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (योग० २/१३)।
'न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य''- (न्या० ४/१/६४)।

'चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः' - (सांख्य० ३/८२)।

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' - (यजु० ३१/१८)॥

इति = इस प्रकार प्रासङ्गिक संसार तथा अपवर्ग का वर्णन पूरा हुआ।

अथ सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग : - पिछले अध्यायों में द्रव्य और कर्म की परीक्षा करके, गुणों की परीक्षा करना चाहते हुए, गुणों के कहे हुए लक्षण और उद्‌देश का स्मरण कराने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

उक्ता गुणाः ।।१।। (२५७)

[गुणाः] गुण पदार्थ [उक्ताः] कह दिए हैं ।

उद्‌देश (१/१/६) तथा लक्षण (१/१/१६) रूप में गुणों का कथन हो गया। अब उनकी परीक्षा की जाती है । ।।१।।

प्रसंग :- सूत्रकार प्रथम रूपादि चार गुणों की अनित्यता दिखाते हैं -

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ।।२।। (२५८)

[पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः] पृथिवी आदि (चार द्रव्यों) में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण [द्रव्यानित्यत्वात्] (अपने आधार) द्रव्यों के अनित्य होने से [अनित्याः] अनित्य [च] ही होते हैं ।

सूत्र के 'आदि' शब्द से जल, तेज, वायु-तीन द्रव्यों का ग्रहण होता है । ये पृथिवी आदि चारों द्रव्य परमाणु रूप में नित्य और द्व्यणुक से महाभूत पर्यन्त अनित्य होते हैं । अतः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण अवयवी (= पिण्डित) अवस्था में विद्यमान पृथिवी आदि द्रव्यों में अनित्य ही होते हैं । क्योंकि उन द्रव्यों के नाश होने पर इन गुणों का नाश होना भी अवश्यम्भावी है ।

इन गुणों में से पृथिवी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श; जल में रस, रूप, स्पर्श; अग्नि में रूप, स्पर्श और वायु में केवल स्पर्श गुण होते हैं । सूत्र के 'च' पद से

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि का संग्रह भी हो सकता है। ये गुण भी अपने आश्रय पृथिवी आदि द्रव्य के अनित्य होने से अनित्य होते हैं ॥२ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अर्थापत्ति से नित्य द्रव्यों में विद्यमान इन रूपादि गुणों को नित्य बताते हैं -

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥३ ॥ (२५९)

[एतेन] इस (अनित्य द्रव्यों में अनित्य गुणों के कथन) से [नित्येषु] नित्य द्रव्यों में [नित्यत्वम्] गुणों का नित्य होना [उक्तम्] कहा गया (समझना चाहिए)।

पिछले सूत्र द्वारा अनित्य पृथिवी आदि द्रव्यों में रूप आदि गुणों का अनित्यत्व कहा है। अतः अर्थापत्ति से यह स्पष्ट हुआ, कि कारण रूप नित्य द्रव्यों में ये गुण नित्य होते हैं ॥३॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार यह बताते हैं, कि किन नित्य द्रव्यों में रूपादि गुण नित्य होते हैं -

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥ (२६०)

[अप्सु] जलों (=जल के परमाणुओं) में, [तेजसि] तेज (= तेज के परमाणुओं में [च] और [वायौ] वायु (= वायु के परमाणुओं में [नित्याः] (रूप आदि गुण) नित्य हैं। [द्रव्यनित्यत्वात्] द्रव्यों के नित्य होने से।

जल आदि के परमाणु नित्य हैं, अतः इनमें समवेत रूप आदि गुण भी नित्य होते हैं।

इस सूत्र में पृथिवी द्रव्य का निर्देश नहीं किया, क्योंकि उसके गुणों की विशेष चर्चा सूत्रकार ने छठे सूत्र में की है। ॥४ ॥

प्रसंग - अब सूत्रकार विशेष रूप से जल आदि तीन अनित्य द्रव्यों के रूप आदि गुणों के विषय में कहते हैं -

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥ (२६१)

[अनित्येषु] (जल आदि) अनित्य द्रव्यों में [अनित्याः] (रूप आदि गुण) अनित्य होते हैं, [द्रव्यानित्यत्वात्] द्रव्यों के अनित्य होने से ।

अवयवी (= पिण्डीभूत) जल आदि द्रव्यों में रूप आदि गुण तथा अन्य संख्या, परिमाण आदि सब गुण अनित्य होते हैं; क्योंकि आश्रय द्रव्य की उत्पति के अनन्तर गुणों की उत्पत्ति तथा आश्रय के नाश से उनका नाश हो जाता है ।

यद्यपि द्वितीय सूत्र (२५८) में इसी विषय को कह दिया है, परन्तु वहाँ पृथिवीसहित चार द्रव्यों के विषय में कहा है, और यहाँ पृथिवीरहित, जल आदि केवल तीन द्रव्य के ही विषय हैं ॥ ५ ॥

प्रसंग :- पृथिवी के परमाणुओं में रूप आदि गुण, नित्य क्यों नहीं होते ? और गुणों के नित्यत्वप्रसंग में पृथिवी को क्यों छोड़ दिया ? इस शंका का समाधान करते हैं -

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥६॥ (२६२)

गतसूत्र से यहाँ 'अनित्येषु' की अनुवृत्ति लिंगवचन के भेद से है ।

[पृथिव्याम्] {परमाणु रूप नित्य पृथिवी में भी रूप आदि गुण नित्य नहीं; क्योंकि कार्य रूप (= स्थूल) अनित्य} पृथिवी में [पाकजा] पाकज गुण [कारणगुणपूर्वकाः] अपने कारण के गुणों से आए हुए होते हैं ।

क्योंकि पृथिवी आदि अनित्यों के गुण अपने - अपने परमाणुओं के गुणों के

अनुसार होते हैं, और पृथिवी-परमाणुओं के गुण अग्नि के संयोगविशेष से बदल जाते हैं।अर्थात् परमाणुरूप (= नित्य) पृथिवी के गुण नित्य (= स्थिर) नहीं होते।

अग्नि के संयोगविशेष का नाम 'पाक', तथा इस पाक से उत्पन्न रूप, रस आदि को 'पाकज' कहते हैं। कारण के गुण हैं पूर्व (= कारण) जिन कार्य-गुणों के उनको 'कारणगुणपूर्वक' कहते हैं।

विशेष - पृथिवी से भिन्न जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं के रूप आदि गुण तो नित्य होते हैं, परन्तु परमाणुरूप (नित्य) पृथिवी में ये गुण नित्य (=सदा समान अवस्था में रहने वाले) नहीं होते। अपितु अग्नि के संयोग से पूर्वरूप को छोड़कर उससे भिन्न स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

ये पृथिवी के कण (=परमाणु) अग्नि के संयोग से पकते हैं, इस पाक से इनके रूप आदि गुण बदलते हैं और वे ही बदले हुए गुण, कार्यों में उपलब्ध होते हैं। अर्थात् कार्यवस्तु के गुण, पहले कारण में प्रकट होते हैं, फिर कार्य में प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पृथिवी के परमाणुओं के भी रूप आदि नित्य नहीं होते।

जैसे - अग्नि में पकाने पर मिट्टी के घड़े आदि वर्तनों का रूप (=रंग) लाल हो जाता है। अब यदि पके हुए घड़े को तोड़ें तो उसके अन्दर के छोटे-छोटे अणु भी लाल ही निकलते हैं। इससे स्पष्ट है, कि यह नया रूप अणुओं तक बदल गया है। इससे सिद्ध होता है, कि पृथिवी के परमाणुओं के रूप आदि भी तेज के संयोग से बदल जाते हैं, अतः वे अनित्य होते हैं। पके हुए आम, पपीता आदि के तो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सभी बदल जाते हैं। जब कि जल आदि के रूप आदि गुण, पाक से नहीं बदलते। वे पूर्ववत् ही दीखते हैं।

इन रूप आदि पाकज गुणों के 'समवायिकारण' पृथिवी के परमाणु; पृथिवी-परमाणु के रूप आदि गुण अवयवी के रूप आदि गुणों के 'असमवायिकारण' और अग्नि-संयोग 'निमित्तकारण' होता है।

वैशेषिक के आधुनिक व्याख्या-ग्रन्थों में अनेकत्र 'पीलुपाक' (= परमाणु-पाक) और 'पिठरपाक' (= अवयवीपाक) का अत्यधिक बढ़ावा अनावश्यक प्रतीत होता है । ॥६ ॥

प्रसंग :- पृथिवी में ही पाकज रूप आदि गुण कारकगुणपूर्वक क्यों होते हैं ? जिसके कारण नित्य (परमाणुरूप) पृथिवी में भी रूप आदि गुण अनित्य हो जाते हैं । जल आदि में भी कारणगुण-पूर्वक रूप आदि गुण क्यों नहीं माने जाते ? इस शंका का समाधान करते हैं -

एकद्रव्यत्वात् ।।७।। (२६३)

यहाँ पूर्व सूत्र से 'पाकजाः' की अनुवृत्ति है ।

[एकद्रव्यत्वात्] पाकज गुणों के एकद्रव्य (= पृथिवी) में ही आश्रित होने से [जल आदि में पाकज (= अग्नि के संयोग से परिवर्तित होनेवाले) गुण नहीं होते] ।

पाकज गुण केवल एकद्रव्य (पृथिवी) में ही होते हैं । अर्थात् केवल पृथिवी में ही अग्नि के विशेष संयोग से विभिन्न पाकज गुण उत्पन्न होते हैं । जल आदि के कारण-गुणों से भिन्न, नित्य पृथिवी के समान पाकज गुण उत्पन्न नहीं होते । क्योंकि पाक (= दहन कर्म) में अग्नि का इन्धन होने से पृथिवी और उसके विकार ही लक्षित होते हैं । अग्नि से न तो जल दग्ध होता है (भाप बनकर ऊपर उड़ जाने से); न अग्नि से अग्नि जलती है; न वायु दग्ध होती है । इसलिए पाकज गुणों का एक पृथिवी द्रव्य ही आश्रय होने से केवल उसी में विभिन्न पाकज गुण उत्पन्न होते हैं; जल आदि में नहीं ।।७।।

६ (१९) - पाकजप्रकरणम्

अव पार्थिव परमाणुओं के रूप, रसादि की उत्पत्ति और विनाश का निरूपण करते हुए भाष्यकार (वैशे०- ७/१/६,७; ४/१/३; ५/२/१ के अनुसार कहते हैं -

(प्रश.) पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम् । घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते । तेभ्यो विभागाः; विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति । तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वग्निसंयोगाद् औष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाशः, पुनरन्यस्मादग्निसंयोगाद् औष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते ।

तदनन्तरं भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादुत्पन्नपाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते । तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः ।

न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिर्विनाशो वा सम्भवति, सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्तमानस्याग्निना व्याप्त्यभावात् । अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति, कार्यद्रव्यविनाशादिति ॥

अव पार्थिव परमाणुओं के रूप आदि (रस, गन्ध, स्पर्श) की अग्नि के संयोग से वदलने (= उत्पन्न होने) की प्रक्रिया वताते हैं -

घट, फल इत्यादि अपक्व (= कच्चे) द्रव्य का अग्नि के साथ संयोगसम्वन्ध होने पर, अग्नि के अभिघात अथवा नोदन नामक संयोग से घट आदि के उत्पादक परमाणुओं में क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं । उन क्रियाओं से परमाणुओं में विभाग होते हैं । उन विभागों से परमाणुओं के परस्पर के सव संयोग टूट जाते हैं । संयोग के उन विनाशों से कार्य द्रव्य (= घट, फल आदि) का विनाश (= रूपान्तरण, न कि अभाव) हो जाता है । उष्णता की अपेक्षा करने वाले रूपान्तरित (= वदले हुए) परमाणुओं में पुनः अग्नि के संयोग से ही श्याम, हरित आदि रूप एवं रस, स्पर्श आदि वदलकर नये रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श उत्पन्न (= प्रादुर्भूत, अभिव्यक्त) हो जाते हैं ।

[अब पाकज गुणों की उत्पत्ति में असमवायिकारण बताते हैं] उसके (= घट, फल आदि द्रव्यों के उत्पन्न होने के) पश्चात् (उन घट, फल आदि द्रव्यों का) भोग करने वाले आत्माओं के अदृष्ट (= धर्म और अधर्म) की अपेक्षा करने वाले आत्मा और परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न पाकज रूप, रस आदि विलक्षण गुण वाले परमाणुओं में क्रिया से उनमें परस्पर संयोग से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से विलक्षण गुण वाला घट, फल आदि कार्य द्रव्य उत्पन्न हो जाता है । उस परिवर्तित कार्य द्रव्य में स्वाभाविक कारणगुण के क्रम से रूप, रस, स्पर्श आदि गुणों की उत्पत्ति होती है ।

उस (कच्चे स्थूल घट, फल आदि) कार्य द्रव्य में ही अग्निसंयोग से पाकज रक्त, पीत आदि रूप एवं रसादि की उत्पत्ति, अथवा (पहले विद्यमान श्याम, हरित आदि रूप एवं अम्ल आदि रस का) विनाश नहीं हो सकता; क्योंकि अन्दर और बाहर सम्पूर्ण अवयवों में रहने वाले अवयवि द्रव्य की अग्नि से व्याप्ति नहीं हो सकती । परमाणुओं में अग्नि के प्रवेश से भी कार्यद्रव्य में अग्नि की व्याप्ति नहीं हो सकती ;क्योंकि ऐसा मानने पर भी कार्यद्रव्य नाश (= रूपान्तरण) मानना ही पड़ेगा । [इति=] इस प्रकार पाकजप्रक्रिया समाप्त हुई ।

विशेष - यहाँ पाकज प्रक्रिया को दिखाने बहुत खींचातानी प्रतीत होती है; क्योंकि १. विद्यमान तत्त्व का भी कभी अभाव नहीं हो सकता, २. अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ३. सूक्ष्म होने से अग्नि के परमाणु पार्थिव परमाणुओं को पका सकते हैं, ४. पकने पर भी परमाणुओं की पूर्वस्थिति में स्थानान्तरण नहीं होता, ५. घट आदि को तोड़ने पर भी अन्दर के अणु पके (रक्तादि) दीखते हैं ॥

प्रसंग :- रूप आदि चार गुणों की परीक्षा के अनन्तर 'संख्या' की परीक्षा अपेक्षित है; परन्तु दुरूह होने से संख्या के क्रम का उल्लंघन करके 'सूचीकटाह-न्याय' से अल्पविवेचनीय 'परिमाण गुण' की परीक्षा आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं -

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥ (२६४)

[अणोः] अणु (परिमाणवाले द्रव्य) की [च] और [महतः] महत् (परिमाण वाले द्रव्य) की [उपलब्ध्यनुपलब्धी] (क्रमशः) अनुपलब्धि (=अप्रत्यक्षता) और उपलब्धि (=प्रत्यक्षता) [नित्ये] नित्य; अथवा नित्य (प्रतिपादक ४/१/६ आदि) में [व्याख्याते] व्याख्यात (समझनी चाहिए)।

सूत्र में 'उपलब्ध्यनुपलब्धी' पद में द्वन्द्व समास है, तथा 'उपलब्धि'- शब्द में 'अल्प-अच् होने से उसका पहले प्रयोग हुआ है - 'अल्पाच्तरम्' (अष्टा० २/२/३४)। परन्तु अर्थ करते समय क्रम बदल जाएगा।

'नित्ये'- पद प्रथमा के द्विवचन और सप्तमी के एकवचन में समान है। प्रथमा के द्विवचन में अर्थ होगा कि, अणु की नित्य (= सदा) अनुपलब्धि (= अप्रत्यक्षता) और महत्परिमाण वाले द्रव्य की नित्य उपलब्धि (= प्रत्यक्षता) होती है।

और सप्तमी के एकवचन में अर्थ होगा, कि- इसकी व्याख्या नित्यत्व-प्रतिपादक चतुर्थ अध्याय (४/१/६) में समझें - ''महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः'। उपलब्धि का अर्थ है - 'इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान' ॥८॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार महत् का स्वरूप और कारण बताते हैं -

कारणबहुत्वाच्च ॥९॥ (२६५)

[कारणबहुत्वात्] कारण (= अवयवों) के बहुत्व से [च] और (प्रचय = संयोग से), (महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है)।

बहुत से अवयवों के मेल (= प्रचय) से जब एक द्रव्य उत्पन्न होता है, तो उसके अवयवों के बहुत्व से उसमें महत्परिमाण उत्पन्न होता है। अर्थात् सारे अवयव

मिलकर महत् परिमाण को उत्पन्न करते हैं और महत्परिमाण दृष्टि के योग्य हो जाता है। तब उसकी प्रत्यक्षता (= उपलब्धि) होती है। परन्तु आकाश, काल, दिशा और परमात्मा अवयवों के प्रचय (= संयोग) से रहित नित्य महत् परिमाण वाले द्रव्य हैं। ॥९॥

प्रसंग :- अब अणुपरिमाण के विषय में सूत्रकार कहते हैं -

अतो विपरीतमणु ॥१०॥ (२६६)

[अतः] इस (= महत्परिमाण) से [विपरीतम्] विपरीत (= उलटा) [अणु] अणु - परिमाण होता है।

इस महत्परिमाण से विपरीत लक्षण वाला अणु-परिमाण होता है। अर्थात् बहुत से कारणों (= अवयवों) के प्रचय (= संयोग) के न होने से परिमाण अणु ही रहता है।

परमाणु में यह अणु-परिमाण नित्य होता है और द्व्यणुक में अणुपरिमाण अनित्य (= उत्पन्न) होते हुए भी परमाणुगत द्वित्व से उत्पन्न होता है, परन्तु महत्परिमाण कारणों (= अवयवों) के बहुत्व से उत्पन्न एवं अनित्य होता है।

प्रसंग : - यदि अणुत्व, महत्त्व से विपरीत होता है, तो फिर अणुत्व और महत्त्व इकट्ठे नहीं रह सकते। परन्तु लोक में इकट्ठे प्रतीत होते हैं। जैसे - चने के दाने से आँवला बड़ा, किन्तु अनार से छोटा (= अणु) होता है। इस शंका का समाधान करते हैं -

अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥११॥ (२६७)

[अणु] 'यह अणुपरिमाण वाला है' (और) [महत्] 'यह महत् परिमाणवाला है' [इति] इस प्रकार (एक ही वस्तु में परिमाणविषयक जो व्यवहार होता है) [तस्मिन्] उस (परिमाण) में [विशेषभावात्] विशेष (= अपकर्ष = न्यूनता = कमी) के होने से (अणु-व्यवहार) [च] तथा [विशेषाभावात्] विशेष (= अपकर्ष = न्यूनता = कमी) के न होने से (महत् व्यवहार) होता है ।

जिस प्रकार आँवला चने से महत्, किन्तु कटहल वा तरबूजे से अणु होता है । परन्तु एक ही वस्तु में यह अणु-महत् का सापेक्ष व्यवहार, लौकिक-प्रत्यक्ष-ग्राह्य महत् में ही होता है । यथार्थ में वहाँ अणु-परिमाण की सम्भावना नहीं होती; क्योंकि अपकर्ष हो वा न हो, वहाँ महत् परिमाण तो विद्यमान रहता ही है । अतः ऐसे सापेक्ष स्थल में अणु-परिमाण का व्यवहार गौण ही समझना चाहिए ॥ ११ ॥

प्रसंग :- ऐसे सापेक्ष स्थलों में अणु-व्यवहार को गौण क्यों समझना चाहिए ? इस शंका का समाधान करते हैं -

एक कालत्वात् ॥१२ ॥ (२६८)

[एककालत्वात्] (एक वस्तु में अणु-महत्-व्यवहार तथा ज्ञान) एक काल में होने से (अणु-व्यवहार गौण समझना चाहिए) ।

क्योंकि एक ही वस्तु में एक ही काल में अणुत्व - महत्त्व प्रतीत होते हैं; इसलिए ये अणुत्व-महत्त्व सापेक्ष हैं । एक ही अपेक्षा से वह जिस काल में अणु है, उसी काल में वह दूसरे की अपेक्षा से महत् हो सकता है । जैसे - जिस काल में आँवले को सेव से छोटा कहते हैं, उसी काल में आँवले को चने से महत् कहते हैं । अतः यहाँ आँवले का अणुत्व गौण ही समझना चाहिए, वास्तविक नहीं ॥ १२ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार महत् परिमाण में अणु व्यवहार की गौणता सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु देते हैं -

अणु-महत् सापेक्ष
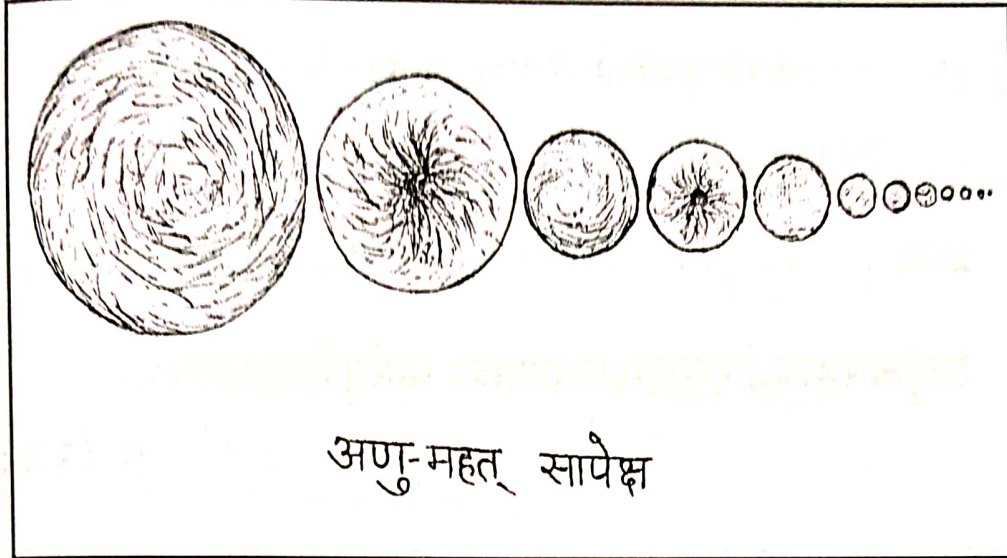
दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥ (२६९)

[दृष्टान्तात्] दृष्टान्त (= उदाहरण) से [च] भी (पूर्वोक्त कथन की सिद्धि होती है) ।

जो अणु है, वह महत् और जो महत् है, वह अणु कभी नहीं हो सकता । फिर भी अपेक्षाकृत छोटा परिमाण होने पर महत् में जो अणु व्यवहार होता है; उसे गौण ही समझना चाहिए । जैसे -

१. आँवले के एक ओर सरसों का दाना और दूसरी ओर तरबूजा रख देने पर वह आँवला एक ही समय में तरबूजे से अणु किन्तु सरसों के दाने से महत् होता है ।

२- भारत की सेना चीन की सेना से छोटी, किन्तु पाकिस्तान की सेना से महत् है ।

३. तमालवन की अपेक्षा पद्मवन में अधिक सुगन्धि है, चन्दनवन की अपेक्षा बहुत कम है ।

४. भैंस हाथी से छोटी, परन्तु बकरी से बड़ी होती है ।

५. अमरूद से सेव अधिक मीठा, किन्तु खजूर से सेव कम मीठा होता है।

इन सब आपेक्षिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है, कि महत् में अणु-व्यवहार गौण होता है, वास्तविक नहीं ॥१३ ॥

प्रसंग : - अब सूत्रकार परिमाण में परिमाणान्तर का निषेध करते हैं -

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः

॥ १४ ॥ (२७०)

[अणुत्वमहत्त्वयोः] अणु और महत् परिमाणों में [अणुत्वमहत्त्वाभावः] (अन्य) अणु और महत् परिमाण का अभाव [कर्मगुणैः] कर्म और गुणों के द्वारा [व्याख्यातः] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

जैसे उत्क्षेपण आदि कर्मों में उत्क्षेपण आदि कर्म तथा रूप आदि गुणों में रूप आदि गुण नहीं रहते; अथवा जैसे कर्मों और गुणों में गुण नहीं रहते कर्म और गुण सदा द्रव्य के ही आश्रित रहते हैं; वैसे ही अणु-परिमाण और महत् परिमाण में महत् परिमाण भी नहीं रहता ॥१४ ॥

प्रसंग :- आप कहते हैं, कि कर्म और गुणों में कर्म और गुण नहीं होते ; किन्तु वह जाता है, शीघ्र जाता है, धीरे जाता है - यहाँ पहली गति में दूसरी गति और शीघ्रता रूप गुण दीखता है, तथा यह महान् शब्द है, यह अल्प शब्द है, ये दो शब्द है, यह एक शब्द है - यहाँ महत्त्व, अल्पत्व परिमाण और एकत्व, द्वित्व संख्या - ये गुणों में गुण प्रतीत होते हैं - इस शंका का समाधान करते हैं -

कर्मभि : कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ।। (१५) (२७१)

[कर्मभिः] कर्मों से (रहित) [कर्माणि] कर्म [च] और [गुणैः] गुणों से (रहित) [गुणाः] गुण [व्याख्याताः] (पहले ही) व्याख्यात हैं ।

कर्मों और गुणों में कर्म और गुण नहीं रहते, यह पहले कहा जा चुका है -

"द्रव्याश्रय्यगुणवान्० ...." (१/१/१६)

"एकद्रव्यमगुणम् ० ...." (१/१/१७)

"गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म" (१/१/२४)

गुणों से गुण सम्बद्ध नहीं होते और क्षणिक होने से कर्म भी कर्म से सम्बद्ध नहीं होता । ये तो द्रव्य के ही आश्रित रहते हैं ।

शंका में जो शीघ्र गति और महदादि शब्दों का उदाहरण दिया है, वहाँ वस्तुतः पहली गति में दूसरी गति नहीं ; अपितु द्रव्य में ही पहली गति से विलक्षण दूसरी गति तथा आकाश के गुण एक शब्द की दूसरे शब्द से विलक्षणता दिखाई है । इसी प्रकार अणुतर और महत्तर आदि से भी द्रव्य में ही विलक्षण अणुत्व और विलक्षण महत्त्व का बोध होता है । अणुत्व में अणुत्वान्तर का और महत्त्व में महत्वान्तर का बोध नहीं होता । वह प्रयोग गौण है ।। १५ ।।

प्रसंग :- सभी गुण-कर्म अन्य गुण-कर्मों में चाहे न रहें, परन्तु यह तो लोक-व्यवहार से सिद्ध होता है, कि अणुत्व-महत्त्व गुण अन्य गुण-कर्मों में रहते हैं -

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ।।१६।। (२७२)

[अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व और महत्त्व (के व्याख्यान) से [कर्मगुणाः] कर्म और गुण [च] भी [व्याख्याताः] व्याख्यात (समझने चाहिए) ।

छोटे कर्म, बड़े कर्म, छोटे गुण, बड़े गुण इत्यादि व्यवहार से जो कर्मों तथा गुणों में अणुत्व तथा महत्त्व की प्रतीति होती है, वह भी गौणी है; क्योंकि जैसे अणुत्व में अणुत्व और महत्त्व में महत्त्व नहीं होता, वैसे ही कर्मों और गुणों में भी अणुत्व महत्त्व नहीं रहते। ये गुण - कर्म केवल द्रव्य में ही रहते हैं। ॥१६ ॥

प्रसंग :- अणुत्व - महत्त्व का वर्णन करके अब सूत्रकार उनकी तुलना ह्रस्वत्व - दीर्घत्व से करते हैं -

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥ (२७३)

[एतेन] इस (= अणुत्व-महत्त्व के व्याख्यान) से [दीर्घत्वह्रस्वत्वे] ह्रस्व और दीर्घ परिमाण [व्याख्याते] व्याख्यात (समझने चाहिए)।

जो विवेचन महत् और अणु परिमाण के विषय में किया है, वह दीर्घ और ह्रस्व परिमाण के विषय में भी समझ लेना चाहिए। जैसे - महत् अणु परिमाण के समान कारण के बहुत्व से दीर्घत्व और अल्पत्व (= न्यूनता) से ह्रस्वत्व होता है। दीर्घत्व में दीर्घत्व और ह्रस्वत्व में ह्रस्वत्व नहीं होता। दीर्घत्व और ह्रस्वत्व गुण-कर्मों में न रहकर अन्य गुणों के समान द्रव्य में ही रहते हैं। यह इससे दीर्घ है, यह इससे ह्रस्व है - इत्यादि व्यवहार भी अणुत्व-महत्त्व के समान सापेक्ष होते हैं ॥१७॥

यद्यपि जहाँ महत्त्व है, वहीं दीर्घत्व तथा जहाँ अणुत्व(=अल्पत्व) हो वहीं ह्रस्वत्व होता है। पुनरपि इन दोनों प्रकार के परिमाणों को पृथक् दिखाने का कारण यह है, कि गुरुत्व तथा विस्तार (= फैलाव) की अपेक्षा से महत्त्व - अणुत्व का व्यवहार होता है; किन्तु दीर्घत्व-ह्रस्वत्व का व्यवहार लम्बाई की अपेक्षा से होता है ।॥१७ ॥

प्रसंग :- परिमाण नित्य है वा अनित्य ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥ (२७४)

[अनित्य] (पूर्वोक्त परिमाण) अनित्य (द्रव्य) में [अनित्यम्] अनित्य होता है ।

जो द्रव्य अनित्य (= अपने कारण से उत्पन्न होते) हैं, उनमें रहने वाले परिमाण अनित्य होते हैं; क्योंकि गुण अनाश्रित नहीं रह सकता, वह आश्रय (= द्रव्य) का नाश होने पर नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अर्थापत्ति से सिद्ध नित्य द्रव्यों में परिमाण की नित्यता दिखाते हैं -

नित्ये नित्यम् ॥ १९॥ (२७५)

[नित्ये] (और वह परिमाण) नित्य (द्रव्य) में [नित्यम्] नित्य होता है ।

आश्रय के बने रहने से आश्रित (= परिमाण) भी नष्ट नहीं होता । इसलिए परमाणुरूप नित्य द्रव्य में परमाणु-परिमाण तथा आकाश आदि नित्य विभु द्रव्यों में परम महत्परिमाण नित्य होता है । अन्यत्र अणु-महत् परिमाण आश्रय के अनित्य होने से अनित्य होते हैं ॥ १९ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार यह बताते हैं, कि नित्य परिमाण वाला द्रव्य कौन सा है ?

नित्यं परिमण्डलम् ॥२० ॥ (२७६)

[परिमण्डलम्] सब ओर से गोलाकार परिमाण [नित्यम्] नित्य होता है ।

परितः सर्वतः मण्डलम् = परिमण्डलम् । अर्थात् जो सब ओर से नैसर्गिक (= स्वाभाविक) गोल आकार का परिमाण व द्रव्य है, वह नित्य है । वह अणु और

महत् दोनों प्रकार का हो सकता है । अणुत्व में परमाणु निरतिशय (= सर्वाधिक) गोलाकार होता है और महत्त्व में आकाश । अर्थात् परमाणु में केवल अणुत्व और आकाश में केवल महत्त्व नित्य होता है ।

भाष्यकार चन्द्रकान्त ने भी लिखा है -

''तच्चैतत् परिमण्डलमणुमहच्च यथाविषयं वेदितव्यम् ॥''

परिमण्डल कहने से ह्रस्व -दीर्घ परिमाण नित्य नहीं हो सकते; क्योंकि ये परिमाण परस्पर अपेक्षा से अनित्य द्रव्य में होते हैं । जैसे - 'इञ्च', 'सेण्टीमीटर' से बड़ा, किन्तु 'फुट' से छोटा होता है । ॥२०॥

प्रसंग - क्यों जी ! जिस प्रकार आँवले में तरबूजे की अपेक्षा से अणुत्व और सरसों की अपेक्षा से महत्त्व परिमाण होता है, वास्तविक अथवा निरतिशय नहीं होता उसी प्रकार परमाणु में अणुत्व और आकाश में महत्त्व परिमाण भी अन्य द्रव्य की अपेक्षा से क्यों न माना जाए ? इनके नित्यत्व में क्या प्रमाण है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२१॥ (२७७)

[च] और [अविद्या] अविद्या (= अयथार्थ ज्ञान) [विद्यालिङ्गम्] विद्या (= यथार्थ ज्ञान) का लिङ्ग (= चिह्न = अनुमापक) है ।

जिस प्रकार 'अविद्या' कहने से विद्या का अस्तित्व जाना जाता है; क्योंकि विद्या के विना अविद्या नहीं जानी जा सकती; उसी प्रकार अपकर्ष की अपेक्षा से आँवले आदि का अनित्य अणुपरिमाण, अपने से भिन्न नित्य अणुपरिमाण को सिद्ध करता है । चूँकि परमाणु में अपकर्ष निरतिशय (सर्वाधिक) है; इसलिए परमाणु में अणुपरिमाण नित्य है ।

इसी प्रकार उत्कर्ष की अपेक्षा से आँवले आदि का अनित्य महत्परिमाण अपने से भिन्न कहीं विद्यमान नित्य महत्परिमाण को सिद्ध करता है। चूँकि आकाश में उत्कर्ष निरतिशय है; इसलिए उसमें 'महत्परिमाण' नित्य है।

जिस प्रकार यहाँ 'अविद्या' के दृष्टान्त से 'नित्य परिमाण' की सिद्धि की गयी है, उसी प्रकार गत सूत्र 'अविद्या' (४/१/५) के द्वारा अनित्य से नित्य की सिद्धि की गई है ॥२१॥

प्रसंग :- आकाश में महत्परिमाण कैसे है ? उसके निरवयव होने से उस आकाश में निरतिशय अवयवोत्कर्ष तो है नहीं ! इस शंका का समाधान करते हैं -

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥२२॥ (२७८)

[विभवात्] विभव (= विभु = व्यापक) होने से [आकाशः] आकाश [महान्] (सर्वातिशायी) महत्परिमाण वाला है [च] और [तथा] वैसा ही [आत्मा] आत्मा (= परमात्मा) है।

विभव : विशेषेण भवति सर्वत्र व्याप्नोतीति विभवः, विभुत्वं व्यापकत्वं वा। - (ऋदोरप्' - अष्टा० ३/३ /५७)

सभी परिच्छिन्न (एकादेशी) द्रव्यों के साथ व्याप्त होने के गुण को 'विभव' (= विभुत्व = व्यापकत्व) कहते हैं।

आकाश सर्वत्र व्यापक (= सभी द्रव्यों के साथ संयुक्त) होने से निरतिशय महत्परिमाण वाला है। और आकाश के समान ही विभु (= सर्वव्यापक) होने से परमात्मा भी निरतिशय महत्परिमाण वाला है।

यद्यपि 'आत्मा' शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, पुनरपि यहाँ सादृश्य से परमात्मा का ही ग्रहण है। यदि अविशेष रूप से जीवात्मा,

और परमात्मा दोनों का ग्रहण होता, तो सूत्र ''विभवान्महान्तावाकाशात्मानौ' अथवा 'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मानौ' होता ॥२२॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार आकाश और परमात्मा के विपरीत मन और जीवात्मा का परिमाण बताते हैं -

तदभावादणु मनः ॥२३ ॥ (२७९)

यहाँ पूर्वसूत्र से अन्तिम भाग 'तथा चात्मा' का देहली-दीपक न्याय से सम्बन्ध है ।

[तद्भावात्] उस (= विभव = विभुत्व) के अभाव से [मनः] मन (और उसी प्रकार जीवात्मा) [अणुः] अणु-परिमाणवाला है ।

यहाँ पूर्वसूत्र से आए 'आत्मा' पद से 'जीवात्मा' का ग्रहण है; क्योंकि सर्वव्यापक, अनन्त परमात्मा से भिन्न अनन्त आत्माएँ ही अणु-परिमाण हैं । जैसा कि वैदिक साहित्य में वर्णित है -

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' - (मुं० ३/१/९)

'स य एषोऽणिमा, एतदात्म्यामिदं सर्वम्,

तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' - (छान्दो० ६/८-१५)

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

जीवो भागः स विज्ञेयः स चाननन्त्याय कल्पते ।।' - (श्वेता० ५/९)

'बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते ।

ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।।' - (अथर्व० १०/८/२५)

चन्द्रानन्दीय व्याख्या में गत (२२वें) सूत्र को दो सूत्रों के रूप में दिखाया गया है। उसके अनुसार सूत्रक्रम इस प्रकार है - **'विभवान्महानाकाशः। तथा चात्मा। तदूभावादणु मनः।** मध्यगत सूत्र का सम्बन्ध देहलीदीपक न्याय से दोनों ओर हो जाता है। जैसा कि इस व्याख्या में भी दिखाया गया है। उसका पूर्वसूत्र के साथ सम्बन्ध परमेश्वर की सर्वव्यापकता को प्रकट करता है। और अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध जीवात्मा की अणुता का प्रतिपादक है।

आत्मा के साथ सम्बद्ध होने पर 'अणु' पद भी पुल्लिंग में 'अणुः' हो जाएगा। अर्थात् विभु न होने से मन के समान प्रत्येक शरीर में रहने वाला आत्मा (जीवात्मा) अणुपरिमाण है।

इस प्रकार आकाश के समकक्ष जो आत्मा (= परमात्मा) है, वह विभु (= महत् परिमाण) तथा जो मन के समकक्ष आत्मा (= जीवात्मा) है, वह अविभु (= अणुपरिमाण) है।

यहाँ जैसे आकाश का महत्त्व, सावयव द्रव्य के समान, कारण के बहुत्व से न होकर विभुत्व से है तथा मन का अणुत्व, परमाणु के समान कारण की अल्पता से नहीं; उसी प्रकार परमात्मा का महत्त्व भी सावयव द्रव्य के समान, कारण के बहुत्व से नहीं और जीवात्मा का अणुत्व परमाणु के समान, कारण के अल्पत्व के कारण नहीं है।

न्यायदर्शन में मन का अणुत्व 'ज्ञानाऽयौगपद्य' हेतु से सिद्ध किया है। यथा - न्याः १/१/१६; ३/१/५६ - ५९) ॥२३ ॥

प्रसंग :- अव सूत्रकार अतिदेश द्वारा दिशा के नित्य परम महत्परिमाण का निर्देश करते हैं -

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥२४॥ (२८०)

[गुणैः] गुणों से [दिक्] दिशा [व्याख्याता] व्याख्यात (समझनी चाहिए)।

'यह पर (=दूर) है', 'यह अपर (=समीप): है' - इस प्रकार के दिशा के ज्ञापक गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होने से दिशा परम महत्परिमाण वाली सिद्ध होती है। और दिशा के नित्य होने से उसका परम महत्परिमाण भी नित्य समझना चाहिए ॥ २४ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार काल की व्यापकता बताते हैं -

कारणे कालः ॥२५॥ (२८१)

यहाँ लिङ्गविपर्यय के साथ 'व्याख्यातः' पद की अनुवृत्ति है।

[कारणे] कारण में [कालः] काल (व्याख्यात समझना चाहिए)।

कार्यमात्र का निमित्तकारण होने से काल को भी विभु (= महत्परिमाण) समझना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न होने वाले पदार्थ के साथ भूत, वर्तमान अथवा भविष्यत् का प्रयोग होने से काल को परम महत्परिमाण वाला माना जाता है; क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी न किसी काल में ही उत्पन्न होता है। और काल के नित्य होने से उसका विभुत्व (= परम महत्परिमाण) भी नित्य समझना चाहिए। यह'काल' युगपत्, चिर, क्षिप्र, आदि प्रतीति का कारण होता है ॥२५॥

इति सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

८(२१) - परिमाणप्रकरणम् (परिमाणवैधर्म्यम्)

अब क्रमप्राप्त 'परिमाण' गुण के लक्षण और परीक्षण के लिए वैशे० ७/१/८-१०,१८-२५ आदि सूत्रों को ध्यान में रखकर भाष्यकार विस्तार से समझाते हैं -

(प्रश.) परिमाणं मानवव्यवहारकारणम् । तच्चतुर्विधम्-अणु, महद्, दीर्घम्, ह्रस्वञ्चेति । तत्र महद् द्विविधम् - नित्यमनित्यञ्च । नित्यमाकाश-कालदिगात्मसु परममहत्त्वम् । अनित्यं त्र्यणुकादादेव । तथा चाण्वपि द्विविधम् - नित्यमनित्यञ्च । नित्यं परमाणुमनःसु । तत्तु पारिमण्डल्यम् । अनित्यं द्व्यणुक एव ।

कुवलयामलकबिल्वादिषु महत्स्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुव्यवहारः ।

दीर्घत्वह्रस्वत्वे चोत्पाद्यमहदणुत्वैकार्थसमवेते । समिदिक्षुवंशादिष्वञ्जसा दीर्घेष्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तो ह्रस्वत्वव्यवहारः ।

अनित्यं चतुर्विधमपि संख्या-परिमाण-प्रचययोनिः ।

तत्रेश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना परमाणद्व्यणुकेषु बहुत्वसंख्या तैरारब्धे कार्यद्रव्ये त्र्यणुकादिलक्षणे रूपाद्युत्पत्तिसमकालं महत्त्वं दीर्घत्वञ्च करोति ।

द्विबहुभिर्महद्भिश्चारब्धे कार्यद्रव्ये कारणमहत्त्वान्येव महत्त्वमारभन्ते न बहुत्वम् । समानसंख्यैश्चारब्धेऽतिशयदर्शनात् ।

प्रचयश्च तूलपिण्डयोर्वर्तमानः पिण्डारम्भकावयवप्रशिथिलसंयोगानपेक्षमाण इतरेतरपिण्डावयवसंयोगापेक्षो वा द्वितूलके महत्त्वमारभते न बहुत्वमहत्त्वानि, समानसंख्यापलपरिमाणैरारब्धेऽतिशयदर्शनात् ।

द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्तमाना द्व्यणुकेणुत्वमारभते ।

महत्त्ववत् त्र्यणुकादौ कारणबहुत्वमहत्त्वसमानजातीयप्रचयेभ्यो दीर्घत्वस्योत्पत्तिः । अणुत्ववद् द्व्यणुके द्वित्वसंख्यातो ह्रस्वत्वस्योत्पत्तिः ।

अथ त्र्यणुकादिषु वर्तमानयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतः को विशेषः,

द्व्यणुकेषु चाणुत्वह्रस्वत्वयोरिति ? तत्रास्ति महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतो विशेषः, महत्सु दीर्घमानीयताम् ; दीर्घेषु च महदानीयतामिति विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु परस्परतो विशेषस्तद्दर्शिनां प्रत्यक्ष इति ।

तच्चतुर्विधमपि परिमाणमुत्पाद्यमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ।।

मान (=नाप और तौल) के ज्ञान अथवा प्रयोग का असाधारण कारण ही 'परिमाण' नामक गुण है । वह परिमाण-अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व के भेद से चार प्रकार का है । उन चारों में महत् (= बड़ा परिमाण) नित्य (= अविनाशी) और अनित्य (= विनाशी) भेद से दो प्रकार का है । नित्य महत्परिमाण, आकाश, काल, दिशा और परमात्मा इन चार द्रव्यों में है । [ये चारों परममहद्रूप हैं] । अनित्य महत्परिमाण [त्र्यणुकम् आदौ यस्य] त्र्यणुकादि (= तीन अणुओं से बने अवयवि द्रव्य से लेकर घटादि) बड़े अनित्य द्रव्यों में ही होता है । उसी प्रकार अणु (=छोटा) परिमाण भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है । उन दोनों में से नित्य अणु परिमाण (पृथिवी से लेकर वायु पर्यन्त चार द्रव्यों के) परमाणुओं और मन में होता है । और वही अणुपरिमाण पारिमाण्डल्य (= परिमण्डल संज्ञा वाला) है । अनित्य (अणुपरिमाण) केवल द्व्यणुक (= दो परमाणु द्रव्यों से उत्पन्न 'द्व्यणुक' नामक) अवयविद्रव्य में है ।

कमलगट्ठा, ऑमला और बेल इत्यादि अवयविरूप महत्परिमाण में भी महत्परिमाण के उत्कर्ष के रहने तथा उत्कर्ष के न रहने की अपेक्षा से अणु (= छोटे) परिमाण का व्यवहार गौण होता है ।

जिन द्रव्यों में महत्परिमाण और अणुपरिमाण उत्पत्तिशील होते हैं, उन द्रव्यों में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व भी समवाय-सम्बन्ध से उत्पत्तिशील होते हैं । समिधा (=लकड़ी), ईख (= गन्ना) इत्यादि द्रव्यों में वास्तविक दीर्घ (= लम्बे) परिमाण

होने पर भी उनके [अन्य पदार्थ की अपेक्षा से] दीर्घ परिमाण का उत्कर्ष (= आधिक्य) रहने या न रहने की अपेक्षा से ह्रस्वत्व का गौण व्यवहार होता है।

चारों प्रकार के अनित्य परिमाण १- संख्या, २- परिमाण, तथा ३- प्रचय नामक संयोग विशेष (इन तीनों में से किसी कारण) से उत्पन्न होते हैं।

[अनित्य परिमाण के संख्यादि तीनों कारणों में से, सर्वप्रथम संख्या की कारणता दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं -] (परमाणु एवं द्व्यणुक के सम्बन्ध में यह एक है, यह एक है - इस प्रकार हमारे जैसे जीवात्माओं को दृष्टिगोचर न होने से उनकी अपेक्षाबुद्धि नहीं हो सकती। अतः) ईश्वरीय (ज्ञानरूप) अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न हुई परमाणु तथा (दो-दो परमाणुओं से उत्पन्न) द्व्यणुक रूप अवयवियों में वर्तमान बहुत्व (= अनेकत्व) संख्या, उन द्व्यणुकों से उत्पन्न हुए त्र्यणुक, चतुरणुक आदि स्वरूप में कार्यद्रव्यों में रूप, रस, आदि गुणों की उत्पत्ति के समय में ही महत्परिमाण एवं दीर्घपरिमाण को उत्पन्न करती है।

[अव अनित्य महत्परिमाण में २-परिमाण की कारणता वताते हैं -] दो या बहुत, महत्परिमाण वाले अवयविद्रव्यों से उत्पन्न कार्य द्रव्य में कारणगत 'महत्परिमाण' ही अगले कार्यद्रव्य में महत्परिमाण को उत्पन्न करता है, कारण में रहने वाली वहुत्व संख्या उस महत्परिमाण की उत्पादक नहीं होती। क्योंकि समान संख्या वाले न्यूनाधिक परिमाण वाले अवयवों से उत्पन्न हुई कार्यद्रव्यों में भी अतिशय दिखाई पड़ता है।

[जैसे - चार संख्या वाले पाव (१/४ सेर/किलो) के परिमाण मिलकर एक सेर/किलो. के महत्परिमाण को किन्तु चार संख्या वाले ही एक सेर के महत्तर परिमाण मिलकर एक आढक (= चार सेर /किलो.) के महत्तर परिमाण को उत्पन्न

कर देते हैं। अर्थात् यहाँ कारण की संख्या समान होने पर भी कार्य के महत्परिमाण में समानता नहीं होती।]

[अब प्रचय से उत्पन्न होने वाले तृतीय महत्परिमाण को बताते हुए भाष्यकार कहते हैं]

रुई के दो पिण्डों (=गोलों) में रहने वाला, उस रुई के गोले को उत्पन्न करने वाले (रुई के धुनने से) अवयवों के अत्यन्त शिथिल हुए संयोगों की अपेक्षा करने वाला अथवा रूई के पिण्डरूप अवयवों (= गोलों) के परस्पर संयोग की अपेक्षा करनेवाला, प्रचय (= प्रचय नामक द्रव्यारम्भक प्रशिथिल संयोगविशेष) भी रुई के दो गोलों के उस संयोग से उत्पन्न, एक बड़े रुई के गोलेरूप अवयविद्रव्य में महत्परिमाण को उत्पन्न करता है। उसके कारणभूत दो तूलपिण्डों में रहने वाली अनेक संख्या अथवा अधिक मात्रा उस द्वितूलक एक पिण्डरूप अवयवि - द्रव्य के महत्परिमाण को उत्पन्न नहीं कर सकते ; क्योंकि समान संख्या तथा पल (= तौल) इत्यादि परिमाण वालों से उत्पन्न हुए कार्यद्रव्यों में न्यूनाधिकता देखी जाती है।

दो परमाणुओं में रहने वाली द्वित्वसंख्या भी द्व्यणुक रूप अवयवि-द्रव्य में अणुपरिमाण को उत्पन्न करती है।

महत्परिमाण के समान त्र्यणुकादिरूप अवयवि-द्रव्यों में दीर्घ परिमाण की उत्पत्ति में भी कारणगत वहुत्व संख्या समान जाति के कारणगत महत्परिमाण तथा प्रचय नामक (= द्रव्यारम्भक) संयोगविशेष से दीर्घपरिमाण की उत्पत्ति होती है। और अणुपरिमाण के समान द्व्यणुकरूप अवयवि - द्रव्य में परमाणुगत द्वित्वसंख्या से ह्रस्वपरिमाण की उत्पत्ति होती है।

(शंका-) त्र्यणुक (= त्रसरेणु) आदि अवयवि - द्रव्यों में रहने वाले महत् तथा दीर्घ परिमाणों में परस्पर क्या भेद है ? और द्व्यणुकों में भी अणु और ह्रस्व - परिमाण में क्या भेद है ?

(समा०) - 'भारी वस्तुओं में जो लम्बा है उसे ले जाओ' और 'लम्बी वस्तुओं में जो भारी है उसे ले जाओ' - ऐसा व्यवहार ही महत्त्व और दीर्घत्व में भेद का बोधक प्रमाण है। और अणुत्व एवं ह्रस्वत्व परिमाणों का परस्पर भेद तो उन (= परमाणु तथा द्व्यणुकों) का योगबल से प्रत्यक्ष करने वाले योगियों को प्रत्यक्ष होता है, इस प्रकार दोनों में भेद है।

वह (= पूर्वोक्त) चारों ही प्रकार का परिमाण उत्पत्तिशील (= अनित्य) है और आश्रय द्रव्यों के विनाश से ही नष्ट हो जाता है। [इति=] इस प्रकार परिमाण का निरूपण समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रसंग :- अल्प विषय होने से क्रम का उल्लंघन करके परिमाण के विवेचन के पश्चात् क्रमशः संख्या आदि की परीक्षा करते हैं। सूत्रकार पहले रूप आदि गुणों से संख्या को भिन्न बताते हुए कहते हैं-

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥ (२८२)

व्यतिरेक का अर्थ है - व्यभिचार (= नियमोल्लंघन)।

[रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहितों में भी होने से [एकत्वम्] एकत्व (संख्या) [अर्थान्तरम्] (रूपादि से) अतिरिक्त (=भिन्न) अर्थ है।

जिन द्रव्यों में रूप आदि गुण होते हैं, उनमें तो एकत्व संख्या होती ही है; जैसे - एक घट, एक पट, एक पुस्तक, एक आम इत्यादि। किन्तु जहाँ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं होते, वहाँ भी एकत्व की प्रतीति होती है। जैसे - एक आकाश, एक ईश्वर, एक काल इत्यादि।

इससे सिद्ध होता है, कि एकत्व संख्या रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से पृथक् (=भिन्न) पदार्थ है।

सूत्र का 'एकत्व' पद अन्य द्वित्व आदि संख्या का उपलक्षण है। जैसे दो कपाल, तीन वस्त्र, चार पुस्तकें आदि व्यवहार रूप आदि गुणवाले पदार्थों में होते हैं, वैसे ही - दो चेतन, चार दिशाएँ, बहुत जीवात्मा इत्यादि ॥१॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार एक के समान पृथक्त्व तथा एकपृथक्त्व को भी रूप आदि गुणों से भिन्न दिखाते है -

तथा पृथक्त्वम् ॥ २॥ (२८३)

[तथा] (जैसे एकत्व है) वैसे [पृथक्त्वम्] पृथक्त्व (भी रूप आदि से भिन्न पदार्थ) है ।

जैसे रूप आदि गुणों से रहित पदार्थों में भी एकत्व संख्या होती है, वैसे ही पृथक्त्व भी रूप आदि से शून्य में भी होता है । जैसे - आकाश, काल से पृथक् है ।

एकत्व संख्या के समान ही पृथक्त्व और एकपृथक्त्व गुण नित्य द्रव्य में नित्य तथा अनित्य में अनित्य होते हैं ॥२॥

प्रसंग - अब सूत्रकार 'एकत्व' में 'एकत्व' का तथा 'एकपृथक्त्व' में 'एकपृथक्त्व' का अतिदेश द्वारा अभाव दिखाते हैं -

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाऽभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥ (२८४)

[अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व और महत्त्व (के व्याख्यान) से [एकत्वैकपृथक्त्वयोः] एकत्व और एकपृथक्त्व गुण में [एकत्वैकपृथक्त्वाभावः] एकत्व और एकपृथक्त्व का अभाव [व्याख्यातः] व्याख्यान किया गया (समझना चाहिए) ।

गत सूत्र (७-१-१४) के अनुसार जैसे अणुत्व में अणुत्व और महत्त्व में महत्त्व नहीं रहता, वैसे ही एकत्व में एकत्व और एकपृथक्त्व में एकपृथक्त्व का अभाव समझना चाहिएः क्योंकि गुण द्रव्य में ही रहते हैं, गुणों में नहीं । यहाँ भी एकत्व और एकपृथक्त्व गुण हैं, जिनका समवाय द्रव्य में ही हो सकता है, गुण में नहीं ॥३॥

९ (२२) पृथक्त्वप्रकरणम् (पृथक्त्ववैधर्म्यम्)

परिमाण का निरूपण करने के पश्चात् अब भाष्यकार क्रमप्राप्त 'पृथक्त्व' गुण का लक्षण और परीक्षण करते हुए वै. सू. ७/२/२-३ के अनुसार बताते हैं -

(प्रश.) :- पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् । तत्पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यं च । तस्य तु नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः संख्यया व्याख्याता : ।

एतावांस्तु विशेषः - एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्याभावः, संख्यया तु विशिष्यते तद्विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति ।

'अपोद्धार' अर्थात् 'यह इससे अलग (=पृथक्) है' - इस व्यवहार (=ज्ञान और शब्दप्रयोग) का कारण ही 'पृथक्त्व' नामक गुण है । वह पृथक्त्व गुण भी फिर [संख्या के समान] एक आश्रय द्रव्यों में रहने वाले और अनेक आश्रय द्रव्यों में रहने वाले के भेद से दो प्रकार का है । इसके नित्यत्व और अनिव्यत्व की सिद्धि भी संख्या गुण के समान व्याख्यात समझनी चाहिए ।

किन्तु संख्या से पृथक्त्व में इतना तो भेद है, कि जिस प्रकार एकत्व आदि संख्याओं में संख्यात्व रूप में पर-सामान्य से अतिरिक्त एकत्व आदि अपर- सामान्य भी होते हैं, वैसे पृथक्त्व में एकपृथक्त्व आदि नाम का कोई भी अपर-सामान्य नहीं होता । किन्तु संख्या के द्वारा ही 'पृथक्त्व' अन्यों से (एकपृथक्त्व, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व इत्यादि) अलग रूप में समझा जाता है, क्योंकि संख्या से युक्त होकर ही पृथक्त्व का व्यवहार देखा जाता है ।।

प्रसंग :- अब रूप आदि के समान संख्या को भी केवल द्रव्य में ही रहने वाली सिद्ध करने के लिए गुण और कर्म में उसका अभाव दिखाते है-

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ।।४।। (२८५)

[कर्मगुणानाम्] कर्मों और गुणों के [निःसंख्यत्वात्] संख्यारहित होने से (सर्वैकत्वम्) (गुण, कर्म आदि) सब पदार्थों में एकत्व संख्या [न] नहीं [विद्यते] रहती ।

एकत्व, संख्या होने से गुण है, जिसका समवाय केवल द्रव्य में हो सकता है, कर्म और गुणों में नहीं । जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा है - **''द्रव्याश्रयी - अगुणवान् ----- गुणलक्षणम्''** (१/१/१६), अर्थात् गुण में गुण नहीं रहते । तथा **'एकद्रव्यमगुणं ---- कर्मलक्षणम्''** (१/१/१७) । अर्थात् कर्म में गुण नहीं रहते ।

अतः संख्या के गुण होने से उसका गुण - कर्म में अभाव सिद्ध ही था; पुनरपि यहाँ विशेष विचार के लिए उस बात को दोहरा दिया है, जिसे आगे कहना है ।।४।।

प्रसंग :- आप कैसे कहते हैं, कि कर्म - गुणों में संख्या नहीं होतीः, जव कि लोक में 'यह एक रूप है' 'यह एक रस है' 'यह एक कर्म हैं' - इत्यादि व्यवहार देखे जाते हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

भ्रान्तं तत् ।।५।। (२८६)

[तत्] वह (= कर्म तथा गुण में संख्या की प्रतीति) [भ्रान्तम्] भ्रममूलक (अथवा गौण =लाक्षणिक) है ।

'यह एक रूप है' 'यह एक कर्म है' - इत्यादि रूप से जो गुण तथा कर्म में संख्या की प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं, अपितु जिस द्रव्य में गुण तथा कर्म समवाय - सम्बन्ध से रहते हैं, उसी में एकत्व आदि संख्या भी रहती है । इस

प्रकार आश्रयभूत द्रव्य के एक होने के कारण उस द्रव्य में आश्रित गुण तथा कर्म में उस संख्या की भ्रम से प्रतीति होती है। वस्तुतः वह संख्या गुण तथा कर्म में नहीं रहती।

यहाँ 'एकार्थसमवाय' - सम्बन्ध से ही गुण तथा कर्म में संख्या की प्रतीति है, समवाय - सम्बन्ध से नहीं।

क्रिया में एकत्व के अभाव को ध्यान में रखते हुए व्याकरण - महाभाष्य में कहा है -

''भावः क्रिया, सा चैका, इति एक वचनं भावक्रियायाम्''। ऐसा कहकर फिर भाष्यकार समाधानान्तर देते हैं **'अथवा एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते, द्विवचनबहुवचने तस्यापवादौ भविष्यत इति**।'{द्र० - **'भावकर्मणोः'** (१/३/१३) एवं **'द्व्येकयोर्द्वि०**:-(१/४/२२)} क्योंकि क्रिया में एकत्व होता ही नहीं ॥५॥

प्रसंग :- 'यह एक रूप है' इस व्यवहार के समान 'यह एक घड़ा है' - यह व्यवहार भी औपचारिक (=गौण) क्यों न मान लिया जाए ? इस शंका का उत्तर देते हैं-

एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥ (२८७)

[एकत्वाभावात्] (यथार्थरूप में) एकत्व के अभाव से तो [भक्तिः] भाक्त (=गौण = औपचारिक) प्रयोग [तु] भी [न] नहीं [विद्यते] रहता।

यदि मुख्य प्रयोग कहीं भी न हो, तो औपचारिक (=गौण = भाक्त) प्रयोग भी नहीं हो सकता; क्योंकि कहीं मुख्य (= यथार्थ) होने से ही अन्यत्र गौणप्रयोग हो सकता है। एकत्व संख्या गुण है, जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहती है। इसलिए द्रव्य में एकत्व - व्यवहार मुख्य (यथार्थ = वास्तविक) है और रूप आदि में एकत्व का व्यवहार औपचारिक गौण है ॥६॥

प्रसंग :- जिस प्रकार कार्यद्रव्य के रूप आदि गुण कारणगुण - पूर्वक होते हैं ; क्या उसी प्रकार कारण के एकत्व संख्या और एकपृथक्त्व गुण, कार्य में विद्यमान एकत्व संख्या और एकपृथक्त्व गुण के कारण होते हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥ (२८८)

[कार्यकारणयोः] (समानजातीय) कार्य और कारण के रूप में [एकत्वैकपृथक्त्वाभावात्] एकत्व और एकपृथक्त्व का अभाव होने से [एकत्वैक पृथक्त्वम्] एकत्व और एकपृथक्त्व (समान जातीय का कार्य या कारण) [न] नहीं [विद्यते] है ।

एकत्व संख्या अन्य किसी एकत्व संख्या का न कार्य होती है, न कारण । अर्थात् कार्य और कारण के रूप में एकत्व संख्या का अभाव रहता है ।

यद्यपि परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में एकत्व संख्या नित्य है, परन्तु वह कहीं अन्यत्र एकत्व संख्या का कारण नहीं बनती । और जहाँ अनित्य द्रव्यों में एकत्व संख्या अनित्य है, वहाँ कहीं भी उसका कारण समवायिकारण में विद्यमान एकत्व संख्या नहीं होती, अपितु एकत्व के आश्रय द्रव्य के समवायिकारणरूप अवयवों का संयोग उस एकत्व संख्या का उत्पादक (=असमवायिकारण) होता है ।

इस प्रकार एकत्व संख्या समानजातीय के कार्य वा कारण की कोटि में नहीं आती ।

इसी प्रकार एकपृथक्त्व गुण भी किसी अन्य एकपृथक्त्व का कार्य वा कारण नहीं होता ॥७॥

प्रसंगः- पूर्वसूत्रोक्त एकत्व और एकपृथक्त्व के कारणगुणपूर्वक न होने की व्यवस्था नित्यद्रव्यगत एकत्व के विषय में है, अथवा अनित्यगत के ? इस शंका का समाधान करते हैं-

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥ (२८९)

[एतत्] यह [अनित्ययोः] अनित्य {(तथा नित्य) एकत्व और एकपृथक्त्व के विषय में } [व्याख्यातम्] व्याख्यान (समझना चाहिए) ।

सूत्रगत 'अनित्य' पद को 'नित्य' का उपलक्षण समझना चाहिए । जैसे कि चन्द्रानन्दीय व्याख्या के सूत्रपाठ में दोनों पद पढ़े हैं --- **'एतदनित्यनित्ययोर्व्याख्यातम्'** (चन्द्रा०) ।

वस्तुतः यह 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' (२-१-१४) का अपवाद समझना चाहिए । सूत्र का तात्पर्य है, कि नित्य वा अनित्य दोनों ही प्रकार के एकत्व और एकपृथक्त्व कारण वा कार्य नहीं होते । न परमाणु आदि नित्य के, न वस्त्र आदि अनित्य के ।

विशेष - संख्या के प्रसंग में सूत्रकार ने एकत्व की परीक्षा करके ही संख्या का प्रकरण छोड़ दिया, क्योंकि एकत्व की परीक्षा हो जाने पर द्वित्व आदि की परीक्षा हो जाने पर द्वित्व आदि के परीक्षण की आवश्यकता नहीं रह जाती; एक - एक वस्तु में एकत्व का निर्धारण करके ही द्वित्व, त्रित्व आदि की गणना होती है ॥ ९॥

७ (२०) - संख्याप्रकरणम् (संख्यावैधर्म्यम्)

अब क्रमप्राप्त 'संख्या' गुण के लक्षण और परीक्षण के लिए वै. ७/२/१-८ आदि सूत्रों को ध्यान में रखकर भाष्यकार विस्तार से समझाते हैं --------

प्रश० :- एकादिव्यवहारहेतुः संख्या । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्धान्ता ।

तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकाविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाश इति । कथम् ? यदा बोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति तत्संयुक्तसमवेतसमवेतैकत्वसामान्यज्ञानोत्पत्तावेकत्व सामान्यतत्सम्बन्धज्ञानेभ्य एकगुणयोरनेकविषयिण्येका बुद्धिरुत्पद्यते, तदा तामपेक्ष्यैकत्वाभ्यां स्वाश्रययोर्द्वित्वमारभ्यते । ततः पुनस्तस्मिन् द्वित्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते । तस्माद् द्वित्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता, तत्सम्बन्धतज्ज्ञानेभ्यो द्वित्वगुणबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः ।

तत इदानीमपेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वगुणस्य विनश्यत्ता, द्वित्वगुणज्ञानम्, द्वित्वसामान्यज्ञानस्य विनाशकारणम्, द्वित्वगुणतज्ज्ञानसम्बन्धेभ्यो द्वे द्रव्ये इति द्रव्यबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः ।

तदनन्तरं 'द्वे द्रव्ये' इति द्रव्यज्ञानस्योत्पादः, द्वित्वस्य विनाशः, द्वित्वगुणबुद्धेर्विनश्यत्ता, द्रव्यज्ञानात् संस्कारस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः ।

तदनन्तरं द्रव्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धेर्विनाशः, द्रव्यबुद्धेरपि संस्कारात् ।

एतेन त्रित्वाद्युत्पत्तिरपि व्याख्याता । एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाश इति ।

क्वचिच्चाश्रयविनाशदिति । कथम् ? यदैकत्वाधारावयवे कर्मोत्पद्यते तदैवैकत्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते, कर्मणा चावयवान्तराद् विभागः क्रियते, अपेक्षाबुद्धेश्चोत्पत्तिः । ततो यस्मिन्नेव काले विभागात् संयोगविनाशस्तस्मिन्नेव

काले द्वित्वमुत्पद्यते संयोगविनाशाद् द्वित्वविनाशः सामान्यबुद्धेश्चोत्पत्तिः। ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाशस्तस्मिन्नेव काले आश्रयविनाशाद् द्वित्वविनाश इति।

शोभनमेतद्विधानं वध्यघातकपक्षे। सहानवस्थानलक्षणे तु विरोधे द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः। कथम्? गुणबुद्धिसमकालमपेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वविनाशे तदपेक्षस्य द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्यानुत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

लैङ्गिकवज्ज्ञानमात्रादिति चेत्? स्यान्मतम्। यथा - 'अभूतं भूतस्य' इत्यत्र लिङ्गाभावेऽपि ज्ञानमात्रादनुमानम्, तथा गुणविनाशेऽपि गुणबुद्धिमात्राद् ('द्वे द्रव्ये' इति) द्रव्यप्रत्ययः स्यादिति। न, विशेष्यज्ञानत्वात्। न हि विशेष्यज्ञानं सारूप्याद् विशेषणसम्बन्धमन्तरेण भवितुमर्हति। तथा चाह सूत्रकारः "समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेः श्वेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" (वैशे. ८/१/९) इति।

न तु लैङ्गिकं ज्ञानमभेदेनोत्पद्यते। तस्माद् विषमोऽयमुपन्यासः। न, आशूत्पत्तेः। यथाऽशब्दवदाकाशमित्यत्र त्रीणि ज्ञानान्याशूत्पद्यन्ते, तथा द्वित्वादिज्ञानोत्पत्तावित्यदोषः।

वध्यघातकपक्षेऽपि समानो दोष इति चेत्? स्यान्मतम्। ननु, वध्यघातकपक्षेऽपि तर्हि द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः। कथम्? द्वित्वसामान्यबुद्धिसमकालं संस्कारादपेक्षाबुद्धिविनाशादिति। न, समूहज्ञानस्य संस्कारहेतुत्वात्। समूहज्ञानमेव संस्कारकारणं नालोचनज्ञानमित्यदोषः।

ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्ग इति चेत्, स्यान्मतम् - ननु ज्ञानानां वध्यघातकविरोधे ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्ग इति। न, अविनश्यतोरवस्थानप्रतिषेधात्। ज्ञानायौगपद्यवचनेन ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्तिरविनाश्यतोश्च युगपदवस्थानं प्रतिषिध्यते। न हि वध्यघातकविरोधे ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्तिरविनश्यतोश्च युगपदवस्थानमस्तीति।

[व्यवहृतिर्व्यवहारः (= ज्ञेयस्य ज्ञानम्); व्यवह्रियतेऽनेनेति व्यवहारः (= प्रयोगः)] एक, दो तीन इत्यादि प्रतीतियों एवं एक, दो तीन इत्यादि शब्दों के प्रयोगों का कारण ही संख्या है। वह संख्या एकद्रव्या (= एक ही द्रव्य में रहने वाली) और अनेकद्रव्या (= अनेक द्रव्यों में रहने वाली) के भेद से दो प्रकार की है। उन दोनों में से एकद्रव्य के आश्रित संख्या के नित्यत्व और अनित्यत्व की सिद्धि जल, तेज आदि द्रव्यों के परमाणुओं एवं कार्यरूप द्रव्यों के समान है। किन्तु अनेकद्रव्याश्रित संख्या द्वित्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त होती है।

[एकत्वे च एकत्वानि चेति एकत्वानि (-एकशेषः) तेभ्य एकत्वेभ्यः] अनेकद्रव्या संख्या के विषय में बताते हैं, कि उस संख्या की अनेक को विषय करने वाली अपेक्षाबुद्धि से (द्वित्वादि) अनेक संख्याओं की उत्पत्ति होती है [और 'यह एक है, यह एक है' - इस प्रकार की] अपेक्षाबुद्धि के विनाश से उन द्वित्वादि संख्याओं का नाश हो जाता है। किस प्रकार [द्वित्वादि संख्या के उत्पत्ति - विनाश होते हैं] ? जिस समय ज्ञाता आत्मा के चक्षुरिन्द्रिय से दो समान जाति के अथवा विजाति के (जैसे दो घट अथवा घट और पट ऐसे) दो द्रव्यों का संयोग होने पर चक्षुरिन्द्रिय से उन दोनों द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली एकसंख्या रूप गुण में समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान एकत्वजातिरूप विशेषण का ज्ञान होने पर एकत्वजाति तथा उसके सम्बन्ध एवं ज्ञानों से अनेक को विषय बनाने वाली (यह एक है, यह एक है - इस प्रकार की) एक अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। उस समय उसी अपेक्षा -बुद्धि की अपेक्षा करके उन दोनों एकत्व नामक गुणों से उनके आश्रयरूप दोनों द्रव्यों में द्वित्व - संख्या की उत्पत्ति होती है। इससे द्वित्व संख्या में द्विसामान्य (=द्वित्वत्व) का ज्ञान होता है। द्वित्वसामान्यविषयक इस ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि के विनाश की अवस्था उत्पन्न होती है। द्वित्व संख्यारूप गुण का द्वित्वसामान्य के साथ सम्बन्ध और द्वित्व गुण में द्वित्वसामान्य का ज्ञान इन सब से गुणरूप द्वित्व - विषयक बुद्धि की उत्पत्ति की अवस्था ये सब कार्य एक काल में होते हैं।

उसके पश्चात् इसी समय अपेक्षाबुद्धि के विनाश से द्वित्वसंख्यारूप गुण की विनश्यत्ता (= विनष्ट करने वाले कारणों की समीपता) होती है; द्वित्व संख्या रूप गुण का ज्ञान, द्वित्वत्वरूप जाति (=सामान्य) ज्ञान के विनाश को करता है (यहाँ एक पदार्थ में एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान का विरोधी होने से द्वित्वसंख्यारूप गुण के ज्ञान को द्वित्वत्वरूप सामान्य ज्ञान का नाशक कहा गया है) । उक्त द्वित्व - संख्यारूप गुण, उसका ज्ञान तथा उसके सम्बन्ध से 'द्वे द्रव्ये' (-दो घट हैं अथवा घट और पट दो हैं) इस प्रकार द्रव्य-ज्ञान की (उत्पत्तिकारण के सन्निहित होने से) उत्पद्यमान अवस्था होती है - इतने कार्य एक साथ होते हैं ।

उसके पश्चात् दो द्रव्य (दो घट अथवा घट और पट दो द्रव्य) हैं, इस प्रकार द्वित्वगुण - विशिष्ट द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति होती है, द्वित्व संख्यारूप गुण का नाश होता है, द्वित्वसंख्यारूप गुणज्ञान की विनाशाभिमुख अवस्था होती है, द्वित्वविशिष्ट उक्त द्रव्यज्ञान से (भावना नामक, स्मृति के कारण) संस्कार उत्पत्यभिमुख अवस्था - ये सब कार्य एक ही काल में होते हैं ।

उसके पश्चात् उक्त द्रव्यों के ज्ञान से द्वित्वसंख्या रूप गुणबुद्धि का विनाश होता है और उस द्रव्य विषयक बुद्धि का भी भावना - संस्कार से [विनाश हो जाता है ।]

[अब द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति - विनाश की प्रक्रिया का त्रित्वादि संख्या की उत्पत्ति - विनाश की प्रक्रिया में अतिदेश करते हुए भाष्यकार कहते हैं -] इस (=द्वित्व की उत्पत्ति - विनाश के कथन) से त्रित्व, चतुष्ट्व इत्यादि संख्याओं के उत्पत्ति (और विनाश) की व्याख्या समझ लेनी चाहिए । इस प्रकार अनेक द्रव्यों में रहने वाली संख्याओं की अनेकविषयक बुद्धि के साथ रहने पर अनके एकत्वों से उत्पत्ति होती है तथा अपेक्षाबुद्धि के विनाश से इन (=अनेक द्रव्यों में रहने वाली संख्याओं) का विनाश होता है ।

और कहीं पर आश्रय के विनाश से भी संख्याएँ नष्ट होती हैं। कैसे ? जिस समय संख्यारूप एकत्व के आधारभूत द्रव्य के अवयवों में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय जातिरूप एकत्व का ज्ञान भी होता है। और कर्म एक अवयव से दूसरे अवयव को विभक्त करता है फिर अपेक्षा बुद्धि (=यह एक है, यह एक है - ऐसी बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। उससे जिस समय में उक्त अवयव - विभाग से पूर्वसंयोग का विनाश होता है, उसी समय द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। उक्त पूर्वसंयोग के विनाश से संयुक्त द्रव्य का नाश होता है, उस द्वित्व संख्या में द्वित्वत्व - रूप सामान्य के ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् जिस समय सामान्य - विषयक उक्त ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, उसी समय आश्रय के नाश से द्वित्व का नाश भी हो जाता है।

यद्यपि इस प्रकार द्वित्वविनाश की यह प्रक्रिया 'वध्यघातक' (=नाश्यनाशक) रूप विरोधि पक्ष में तो ठीक है; परन्तु ज्ञानों के साथ न रहने रूप विरोध पक्ष में तो दो द्रव्य हैं -इस ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। कैसे ? 'गुणरूप द्वित्वषियक बुद्धि के समय ही अपेक्षाबुद्धि के विनाश से, द्वित्व का नाश होने पर, उस द्वित्व की अपेक्षा करने वाले 'दो द्रव्य हैं' - इस आकार के द्रव्य ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी'

इस विषय में यदि यह कहें, कि लिङ्ग से होने वाले अनुमिति के समान (हेतुविषयक ज्ञान से ही) उक्त 'द्वे द्रव्ये' इस द्रव्यविषयक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाएगी। अर्थात् जैसे - 'अभूतं भूतस्य' (वैशे ३/१/११) इस सूत्र में हेतु के न रहने पर भी हेतु के ज्ञान से ही अनुमान होता है [यथा - बादलों के होने पर भी अविद्यमान वर्षा रूप क्रिया, वायु एवं मेघ के विद्यमान संयोग का (ज्ञापक) लिङ्ग है]; वैसे ही यहाँ भी द्वित्व गुण का नाश होने पर भी गुण के ज्ञानमात्र से ही 'द्वे द्रव्ये' ऐसा द्रव्य विषयक ज्ञान हो जाएगा। तो यह नहीं हो सकता; विशेष्य (=

विशिष्ट) का ज्ञान होने से। क्योंकि विशेष्य का ज्ञान विशेष्य में विशेषण के सम्बन्ध के बिना (विशेष्य में विशेषण की सत्ता के बिना) केवल 'सारूप्य' से अर्थात् ज्ञानरूप एक अर्थ में विशेष्य और विशेषण के केवल सामानाधिकरण्य से (=दोनों के एक ज्ञान में विषय होने मात्र से) विशेष्य ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसा कि सूत्रकार महर्षि कणाद ने कहा है - ''समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते '' (वैशे. ८/१/९) अर्थात् (श्वेतता से) समवाय - सम्बन्ध वाले (द्रव्य) की श्वेतता के कारण से और ('यह श्वेत द्रव्य है' - ऐसे) श्वेतता के ज्ञान (=बुद्धि) से (विशिष्ट) ज्ञान होता है, वे ये (= विशेषण ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान) दोनों (आपस में) कारण-कार्य रूप हैं।

परन्तु लिङ्ग से होने वाला अनुमितिरूप ज्ञान अभेद (=सारूप्य) से उत्पन्न नहीं होता [किन्तु 'श्वेतः शङ्खः' - इत्यादि के विशेष्य ज्ञान में श्वेतरूप विशेषण अभेद रूप से प्रतीत होता है]। इसलिए (विशेष्य में विशेषण के न रहने पर भी विशेषण के केवल ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि के लिए लैङ्गिक ज्ञान को) दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करना ठीक नहीं हैं। क्योंकि लैङ्गिक ज्ञान एवं विशेष्य - ज्ञान दोनों समान नहीं हैं)। [यदि द्वित्वरूप विशेषण न हो, तो उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है, अविनष्ट ही द्वित्व को विशेष्य ज्ञान का आधार मानना उचित है; यदि ऐसी शंका हो तो] यह ठीक नहीं है (='द्वे द्रव्ये' यह एक ही विशिष्ट ज्ञान नहीं है, किन्तु अलग - अलग दो ज्ञान हैं) अतिशीघ्रता से उत्पन्न होने के कारण (एक विशिष्ट ज्ञान की तरह प्रतीत होते हैं)। जैसे कि, 'शब्दवदाकाशः' (=आकाश शब्द का आधार है) इस स्थल में तीन ज्ञान (=विशेषण, विशेष्य तथा विशिष्टज्ञान) शीघ्र उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार द्वित्वादि (=द्वित्वगुण विशेषण, द्रव्यरूप विशेष्य तथा विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति शीघ्र होने से उस) के विषय में भी कोई दोष नहीं है।

(पू.) ज्ञानों के नाश्यनाशक पक्ष में भी द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिरूप दोष समान है, यदि ऐसा कहो तो; अर्थात् यदि पूर्वपक्षी का यह अभिप्राय हो, कि ज्ञानों के वध्यघातकभावरूप विरोधपक्ष में भी तो 'दो द्रव्य हैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न न होने की आपात्ति है। कैसे ? द्वित्वजाति के ज्ञान के समय ही संस्कार से अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने के कारण ।

(उ.) - [भाष्यकार आपत्ति का समाधान करते हैं -] उक्त आपत्ति नहीं आ सकती; समूहज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान (भावना)-संस्कार में कारण होने से । (अर्थात् द्वित्वगुण विशिष्ट 'दो द्रव्य हैं' ऐसा) समूह ज्ञान ही संस्कार का कारण है; न कि निर्विकल्पक आलोचनात्मक अपेक्षा ज्ञान । इसलिए (उक्त 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का अनुत्पत्तिरूप) दोष नहीं है ।

(पूर्व.)- इस पक्ष में 'ज्ञानयोगपद्य' (=दो ज्ञानों के एक साथ होने) की आपत्ति होगी - ऐसा यदि कहो तो ? अर्थात् यदि पूर्वपक्षी का मत हो, कि ज्ञानों का परस्पर नाश्य-नाशकभाव-रूप दोष होने पर तो एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति (=ज्ञानयोगपद्य) की आपत्ति होगी ।

(उ.) - यह दोष नहीं हो सकता; क्योंकि (ज्ञानयौगपद्य के खण्डन से) विनाशोन्मुख अवस्था में न रहने वाले, दो ज्ञानों का ही, एक काल में रहने का निषेध होता है । जैसा कि सूत्रकार ने कहा है 'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् [मनः]-(वै.सू. ३/२/३) अर्थात् उक्त 'ज्ञानायौगपद्य' वाक्य से एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति तथा अगले ही क्षण में विनष्ट न होने वाले ज्ञानों की स्थिति खण्डित होती है । ज्ञानों के नाश्यनाशकरूप विरोधपक्ष में दो ज्ञानों वाले अनेक ज्ञानों की एक काल में स्थिति नहीं (माननी पड़ती) । इसलिए उक्त दोष नहीं है । इस प्रकार 'संख्या' गुण का लक्षण और परीक्षण पूरा हुआ ।।

प्रसंग :- संख्या का विवेचन करके अब क्रमप्राप्त संयोग की परीक्षा करते हैं -

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ।।९।। (२९०)

[अन्यतरकर्मजः] (जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है, उन) दोनों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न [उभयकर्मजः] दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न [च] और [संयोगजः] संयोग से उत्पन्न [संयोगः] संयोग होता है ।

'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' अर्थात् पहले से अप्राप्त दो द्रव्यों की प्राप्ति (=मिल जाने) को 'संयोग' कहते हैं । यह प्राप्ति (=संयोग) कर्म के द्वारा सम्भव है । जैसा कि पहले कहा है - **'संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् (कारणम्)**- (१/१/२०) तथा 'संयोगविभागाश्च (-वेगाः) कर्मणां (कार्याणि) - (१/१/३०)। इस सूत्र में यह बताया है, कि किस किस के कर्म से संयोग गुण उत्पन्न होता है ।

१. **अन्यतरकर्मजः** - जैसे १- पक्षी के कर्म (=आकर बैठने) से पक्षी-वृक्षसंयोग । २- स्थिर लक्ष्य पर बन्दूक की गोली वा तीर के लगने से उत्पन्न संयोग ।

२. **उभयकर्मजः**- १- दो भैंसों या मैंढ़ों के आमने-सामने से आकर टकराने से, २- अखाड़े में दोनों ओर से मल्लों के भिड़ जाने से, ३- एक ही लाइन पर दोनों ओर से आने वाली रेल गाड़ियों के टकरा जाने से अथवा एक सड़क पर आमने - सामने से बस / ट्रक आदि के टकरा जाने से उत्पन्न संयोग ।

३. **संयोगजः** १- हस्तपुस्तकसंयोग से देहपुस्तकसंयोग, २- हस्तदण्डसंयोग से देहदण्डसंयोग ।।८।।

१० (२३) - संयोगप्रकरणम् (संयोगवैधर्म्यम्)

अव क्रमप्राप्त 'संयोग' नामक गुण के लक्षण और परीक्षण के लिए भाष्यकार वैशे.सू. ७/२/८, तथा १०/२/२, ५-७; १/१/२७, २९; ५/१/१-७, १०,१४,१७; ५/२/१, ५,६,८, १५ आदि के अनुसार वताते हैं -

(प्रश.) :- संयोगः संयुक्तप्रयत्ननिमित्तम् । स च द्रव्यगुणकर्महेतुः । द्रव्यारम्भे निरपेक्षस्तथा भवतीति, सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्चेति वचानात् । गुणकर्मारम्भे तु सापेक्षः - "संयुक्तसमवायाद् अग्नेर्वैशेषिकम्" (१०/२/७) इति वचनात् ।

अथ कथंलक्षणः, कतिविधश्चेति ? अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः । स च त्रिविधः- अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्च । तत्रान्यतरकर्मजः - क्रियावता निष्क्रियस्य, यथा स्थाणोः श्येनेन, विभूनां च मूर्तैः । उभयकर्मजः- विरुद्धदिक् -क्रिययोः सन्निपातः, यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा । संयोगजस्तूत्पन्नमात्रस्य, चिरोत्पन्नस्य वा निष्क्रियस्य कारणसंयोगिभिरकारणैः कारणाकारणसंयोगपूर्वकः कार्याकार्यगतः संयोगः ।

स चैकस्माद् द्वाभ्यां बहुभ्यश्च भवति । एकस्मात्तावत् तन्तुवीरणसंयोगाद् द्वितन्तुकवीरणसंयोगः । द्वाभ्यां तन्त्वाकाशसंयोगाभ्यामेको द्वितन्तुकाकाशसंयोगः। बहुभ्यश्च तन्तुतुरीसंयोगेभ्य एकः पटतुरीसंयोगः ।

एकस्माच्च द्वयोरुत्पत्तिः । कथम् ? यदा पार्थिवाप्ययोरण्वोः संयोगे सत्यन्येन पार्थिवेन पार्थिवस्यान्येन चाप्यस्य युगपत्संयोगौ भवतस्तदा ताभ्यां संयोगाभ्यां पार्थिवाप्ये द्व्यणुके युगपदारभ्येते । ततो यस्मिन् काले द्व्यणुकयोः कारणगुणपूर्वक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणाकारणगतात् संयो गादितरेतरकार्याकार्यगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते ।

किं कारणम् ? कारणसंयोगिना हि अकारणेन कार्यमवश्यं संयुज्यत इति न्यायः । अतः पार्थिवं द्व्यणुकं कारणसंयोगिनाप्येनाणुना सम्बध्यते । आप्यमपि द्व्यणुकं कारणसंयोगिना पार्थिवेनेति । अथ द्व्यणुकयो रितरेतरकारणाकारणसम्बद्धयोः कथं परस्परतः सम्बन्ध इति ? तयोरपि संयोगजाभ्यां संयोगाभ्यां सम्बन्ध इति ।

नास्त्यजः संयोगो नित्यपरिमण्डलवत्, पृथगभिधानात् यथा चतुर्विधं परमाणुमुत्पाद्यमुक्त्वाह नित्यं परिमण्डलमित्येवमन्यतरकर्मजादिसंयोगमुत्पाद्यमुक्त्वा पृथङ् नित्यं ब्रूयात्, न त्वेवमब्रवीत्, तस्मान्नास्त्यजः संयोगः। परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिरन्यतरकर्मजः संयोगः । विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति, युतसिद्ध्यभावात् । सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं चेति ।

विनाशस्तु सर्वस्य संयोगस्यैकार्थसमवेताद् विभागात्, क्वचिदाश्रय-विनाशादपि । कथम् ? यदा तन्त्वोः संयोगे सत्यन्यतरतन्त्वारम्भके अंशौ कर्मोत्पद्यते, तेन कर्मणा अंश्वन्तराद् विभागः क्रियते, विभागाच्च तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः, संयोगविनाशात् तन्तुविनाशः, तद्विनाशे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरसंयोगस्य विनाश इति ।।

(ये दोनों संयुक्त हैं, ये अनेक संयुक्त हैं - इस प्रकार की) संयुक्तविषयक प्रतीति (ज्ञान) का कारण ही 'संयोग' नामक गुण है । और यह (=संयोग) द्रव्य, गुण, कर्म तीनों पदार्थों का (=असमवायि-) कारण है । [जैसे - तन्तुओं के संयोग के बिना वस्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती, भेरी-दण्ड-संयोग के बिना शब्द गुण उत्पन्न नहीं होता, हस्त - मुसल-संयोग के बिना मुसल में कर्म नहीं हो सकता ।] (उनमें से) द्रव्य के उत्पादन में किसी दूसरे की अपेक्षा न करता हुआ असमवायिकारण होता है । - यह सूत्रकार की 'सापेक्षेभ्यः, निरपेक्षेभ्यश्च' - इन दो उक्तियों से सिद्ध होता है । किन्तु गुण एवं कर्म पदार्थ के उत्पादन में तो अपेक्षा सहित असमवायिकारण होता है । क्योंकि **'संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम्' - (१०/२/७)** ऐसा सूत्रकार का वचन है । [जैसे - कपालों का संयोग हो जाने या तन्तुओं का संयोग हो जाने के पश्चात् घट या पट रूप कार्य की अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पत्ति हो जाती है । अतः द्रव्य की उत्पत्ति में, असमवायिकारणभूत संयोग निरपेक्ष कारण है । किन्तु रूप गुण एवं उत्क्षेपण आदि कर्म की उत्पत्ति में संयोग के अतिरिक्त आश्रय आदि की भी अपेक्षा रहती है ।]

(प्रश्न) - संयोग कैसे लक्षण (=स्वरूप-) वाला है ? और उसके कितने भेद हैं ?

(उ०) - अप्राप्त (=परस्पर न मिले हुए) दो द्रव्यों की प्राप्ति (=मिलन) ही संयोग नामक गुण है। और वह तीन प्रकार का है -१- अन्यतरकर्मज (=दो में से एक की क्रिया से उत्पन्न, २- उभयकर्मज (=दोनों की क्रिया से उत्पन्न) और ३- संयोगज (=संयोग से उत्पन्न)। उन तीनों में से १- अन्यतरकर्मज संयोग का उदाहरण है - क्रिया से युक्त द्रव्य के साथ निष्क्रिय द्रव्य का संयोग। जैसे क्रियाशून्य शुष्क वृक्ष का क्रियावान् वाजपक्षी के साथ, एवं क्रियारहित आकाश आदि व्यापक द्रव्यों का क्रियावान् पृथिवी आदि मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग। २- उभयकर्मज संयोग (का उदाहरण है -) दो विरुद्ध दिशाओं में रहने वाले क्रियायुक्त दो द्रव्यों का संयोग। जैसे - (लड़ते हुए) दो पहलवानों का संयोग अथवा - (लड़ते हुए) दो मेंढों का संयोग। ३-संयोगजसंयोग (=संयोग से उत्पन्न हुआ संयोग) - तत्काल उत्पन्न हुए द्रव्य का अथवा देर से उत्पन्न हुए क्रियाशून्य द्रव्य का कारण (=अवयवों) में संयुक्त अपने अकारणभूत द्रव्यों के साथ होता है। इस (=संयोगजसंयोग) की उत्पत्ति कारण और अकारण के संयोग से होती है। यह संयोग कारण के कार्य और (उसी कारण के) अकार्य द्रव्यों में रहता है।

और वह संयोगजन्य संयोग एक संयोग से, दो संयोगों से, एवं बहुत से संयोगों से भी उत्पन्न होता है। १- एकसंयोगों से उत्पन्न (संयोगजसंयोग का उदाहरण →) वीरण (खस आदि विशेष घास, जिससे चटाई आदि बनाते हैं) और तन्तु के एक ही संयोग से दो तन्तुओं वाले एक पट और वीरण के संयोग की उत्पत्ति। (इसी प्रकार हस्त-दण्डसंयोग से शरीर - दण्डसंयोग की उत्पत्ति इत्यादि)। २) दो संयोगों से उत्पन्न (संयोगजसंयोग का उदाहरण -) दो तन्तुओं के साथ आकाश के दो संयोगों से उन दोनों तन्तुओं से बने हुए पट और आकाश के (एक ही संयोगज) संयोग की उत्पत्ति।

३- (बहुत से संयोगों से उत्पन्न (संयोगजसंयोग का उदाहरण)- तुरी (=कपड़ा बुनने का साधन) और तन्तुओं के बहुत से संयोगों से तुरी और पट के एक ही (संयोगज) संयोग की उत्पत्ति ।

[दो संयोगों से एक संयोग की उत्पत्ति के समान] एक संयोग से दो संयोगों की भी उत्पत्ति होती है । कैसे ? जब पृथिवी के एक परमाणु का जल के एक परमाणु के साथ संयोग हो जाता है, फिर वही पार्थिव परमाणु दूसरे पार्थिव परमाणु के साथ तथा वही जलीय परमाणु दूसरे जलीय परमाणु के साथ एक ही काल में संयुक्त होता है; तब (दोनों पार्थिव परमाणुओं के एवं दोनों जलीय परमाणुओं के) दोनों संयोगों से एक ही समय में पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक दोनों की उत्पत्ति होती है । इसके पश्चात् जिस समय में उन दो द्व्यणुकरूप अवयवि द्रव्यों में कारणगुणपूर्वकक्रम से रूपादि गुण की उत्पत्ति होती है, उसी समय परस्पर के कारण तथा अकारणों में वर्तमान (अर्थात् जलीय द्व्यणुक के कारण जलीय परमाणु और अकारण पार्थिव परमाणु तथा पार्थिव द्व्यणुक के कारण पार्थिव परमाणु और अकारण जलीय परमाणु इन दोनों में रहने वाले) एक ही संयोग से परस्पर कार्य और अकार्य में वर्तमान (अर्थात् पार्थिव परमाणु के कार्य पार्थिव द्व्यणुक और अकार्य जलीय द्व्यणुक इसी प्रकार जलीय परमाणु के कार्य जलीय द्व्यणुक और अकार्य पार्थिव द्व्यणुक में रहने वाले) दो संयोग एक साथ उत्पन्न होते हैं ।

(प्र.) - (एक संयोग से दो संयोगों की उत्पत्ति में) क्या कारण है ? (अर्थात् पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक इन दोनों का अपने से भिन्न जाति के परमाणु के साथ जो संयोग की उत्पत्ति होती है, उसका क्या कारण है ?)

उ.) यह न्याय (नियम, व्याप्ति) है, कि [किसी अवयवी के] समवायिकारण के संयोग (Connection) से युक्त अकारण (=विजातीय द्रव्य / परमाणु) के साथ (उस समवायिकारण का) कार्य (अवयवी) भी अवश्य संयुक्त (Connected) हो जाता है ।
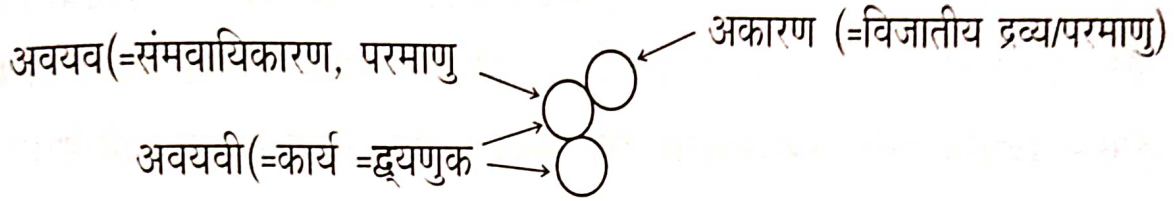
इसलिए पृथिवी सम्बन्धी द्व्यणुकरूप अवयवी द्रव्य भी उस जलीय परमाणु के साथ संयुक्त होता है, जिस (=जलीय परमाणु) का संयोग उक्त पार्थिव परमाणु के साथ है । इसी प्रकार जलीय द्व्यणुक भी अपने कारणभूत जलीय परमाणु से संयुक्त पार्थिव परमाणु के साथ संयुक्त होता है ।

(प्र.) - पार्थिव और जलीय द्व्यणुक रूप दो अवयवि द्रव्यों का, जो परस्पर के कारण एवं अकारण परमाणुओं में सम्बद्ध हैं, उनका परस्पर सम्बन्ध कैसे होता है ?

(उ.) उन दोनों द्व्यणुकों का भी दोनों संयोगज संयोगों से ही संयोग होता है ।

पार्थिव परमाणु
जलीय परमाणु
पार्थिव द्व्यणुक
जलीय द्व्यणुक
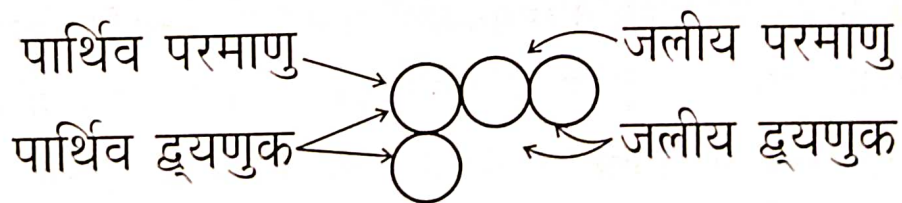
[अर्थात् पार्थिव परमाणु और जलीय परमाणु के संयोग से उत्पन्न पार्थिव द्व्यणुक का जलीय परमाणु के साथ संयोग एवं जलीय द्व्यणुक का पार्थिव परमाणु के साथ जो संयोग होता है उन दोनों संयोगजसंयोगों से पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक - इन दोनों का संयोग उत्पन्न होता है ।]

कोई अज (=नित्य = अनुत्पत्तिशील) संयोग नहीं होता; क्योंकि सूत्रकार ने नित्य परिमण्डल (=नित्य अणुपरिमाण) के समान किसी नित्य संयोग का उल्लेख नहीं किया है। अर्थात् जिस प्रकार सूत्रकार ने चार (=अणु, महत्, दीर्घ, ह्रस्व) प्रकार के अनित्य परिमाणों का उल्लेख करके 'नित्यं परिमण्डलम्' (७/१/२०) इत्यादि से नित्य अणु परिमाण का उल्लेख किया है, वैसे ही (यदि नित्य संयोग भी होता, तो) अन्यतरकर्मज इत्यादि संयोगों को कहने के पश्चात् नित्य संयोग का भी अवश्य उल्लेख करते, किन्तु वैसा नहीं किया। अतः नित्य संयोग नहीं है।

[आक्षेप -) परमाणु और आकाश का संयोग नित्य है; क्योंकि ये दोनों नित्य हैं, तथा ये दोनों कभी अलग भी नहीं होते। कणाद द्वारा नित्य संयोग का निरूपण न करना उनकी भूल भी हो सकती है।

(समा० -) उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं] - (पार्थिव आदि) परमाणुओं के साथ आकाश, काल इत्यादि व्यापक द्रव्यों का संयोग अव्याप्यवृत्ति (=एक देश के साथ) एवं अन्यतरकर्मज = दो में से एक (परमाणु) की क्रिया से होता है। [जब द्व्यणुक से परमाणु अलग होकर स्वतन्त्र भ्रमण करता है, तो उस स्वतन्त्र परमाणु का आकाश से संयोग होता है।]

आकाश, दिशा आदि विभु (=व्यापक) द्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं है, क्योंकि इन सब की युतसिद्धि (=पृथक्सिद्धि) नहीं है। [जब कि अप्राप्तों की प्राप्ति को 'संयोग' कहते हैं।] उस 'युतसिद्धि' का तात्पर्य है - दो द्रव्यों की अथवा दो में से एक द्रव्य की स्वतन्त्र गतिशीलता। [-यह नित्यों की युतसिद्धि है] या भिन्न आश्रय में आश्रित रहना (=होना) - [यह अनित्यों की युतसिद्धि है]।

सम्पूर्ण (=तीनों प्रकार के) संयोगरूप गुण का विनाश तो संयोग के आश्रयरूप एक अधिकरण में समवाय - सम्बन्ध से रहने वाले दोनों द्रव्यों के (संयोगविरोधी) विभाग से हो जाता है। परन्तु कहीं - कहीं संयोग के आश्रयभूत

द्रव्य के नाश से भी संयोग का विनाश हो जाता है। कैसे ? जिस समय दो तन्तुओं का परस्पर संयोग होने पर उन दोनों तन्तुओं में से एक तन्तु (=धागे) के उत्पादक अंशु (=रेशे, तन्तु के अवयव) में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी क्रिया से उस अंशु का दूसरे अंशु (=तन्तु के अवयवान्तर) से विभाग उत्पन्न होता है, इस विभाग से तन्तु (=धागे) के उत्पादक उन दोनों अंशुओं (=रेशों) के संयोग का विनाश होता है। अंशुसंयोग के इस विनाश से उस तन्तु (=अंशुओं के अवयवी) का नाश हो जाता है। उस तन्तु के नष्ट होने पर उस तन्तु के आश्रय से रहने वाले दूसरे तन्तु के साथ संयोग का भी नाश हो जाता है। (यदि तन्तु संयोग के नाश के समय दूसरे तन्तु में भी विभागजनक क्रिया हो तो आश्रयनाश तथा विभाग दोनों से संयोग का नाश होता है। अर्थात् कहीं केवल विभाग से, कहीं आश्रय द्रव्य के नाश से और कहीं - कहीं दोनों से संयोग का विनाश होता है।)

इति = यह 'संयोग' का प्रकरण पूरा हुआ ॥

प्रसंगः- अब सूत्रकार संयोग के समान क्रमप्राप्त 'विभाग' के विषय में बताते हैं -

एतेन विभागो व्याख्यातः ।। १० ।। (२९१)

[एतेन] इस (पूर्वोक्त संयोग के विवेचन) से [विभागः] (तीन प्रकार का) विभाग गुण [व्याख्यातः] व्याख्यात (=कहा गया) (समझना चाहिए)।

संयोग - गुण के समान विभाग - गुण भी तीन प्रकार का व्याख्यात समझना चाहिए। जैसे -

१. **अन्यतरकर्मज -** पक्षी के उड़ जाने पर पक्षी और वृक्ष अथवा पक्षी और भीत का विभाग।

२. **उभयकर्मज** - मेंढों या भैंसों के टक्कर मारकर पीछे हटने से तथा दो मल्लों के टक्कर मारकर पीछे हटने से उत्पन्न विभाग ।

३. **विभागज** : हस्तपुस्तक के विभाग से उत्पन्न शरीरपुस्तक का विभाग।

विभाग का अर्थ समझना चाहिए, कि 'प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः' अर्थात् जुड़े हुए दो द्रव्यों के अलग होने का नाम 'विभाग' है । अथवा जिस गुण से संयोग का नाश होता है, उसको 'विभाग' कहते हैं ।

दो वस्तुओं की पहले से ही पृथक् अवस्थिति का नाम 'विभाग' नहीं हो सकता; क्योंकि विभाग कर्मजन्य होता है ॥१०॥

११ (२४) विभागप्रकरणम् (विभागवैधर्म्यम्)

अव क्रमप्राप्त 'विभाग' गुण के लक्षण और परीक्षण के लिए भाष्यकार वैशे. सू. ७/२/१०,११, १३ इत्यादि के अनुसार वताते हैं

(प्रश०) - विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तम् । शब्दविभागहेतुश्च ।

प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः । स च त्रिविध : अन्यतरकर्मज उभयकर्मजो विभागजश्च विभाग इति । तत्रान्यतरकर्मजोभयकर्मजौ संयोगवत् । विभागजस्तु द्विविधः कारणविभागात् कारणाकारणविभागाच्च ।

तत्र कारणविभागात्तावत् - कार्याविष्टे कारणे कर्मोत्पन्नं यदा तस्यावयवान्तराद् विभागं करोति, न तदाऽऽकाशादिदेशात् । यदा त्वाकाशादिदेशाद् विभागं करोति, न तदावयवान्तरादिति स्थितिः ।

अतोऽवयवकर्मावयवान्तरादेव विभागमारभते, ततो विभागाच्च द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः । तस्मिन् विनष्टे कारणाभावात् कार्याभाव

इत्यवयविविनाशः । तदा कारणयोर्वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वावयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशादिदेशाद् विभागमारभते न निष्क्रियस्य, कारणाभावादुत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः ।

न तु तदवयवकर्माकाशादिदेशाद् विभागं करोति, तदारम्भकालातीतत्वात्। प्रदेशान्तरसंयोगं तु करोत्येव, अकृतसंयोगस्य कर्मणः कालात्ययाभावादिति ।

कारणाकारणविभागादपि कथम् ? यदा हस्ते कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद् विभागमकुर्वदाकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभ्य प्रदेशान्तरे संयोगानारभते, तदा ते कारणाकारणविभागाः, कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भमुखं तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागानारभन्ते । तदनन्तरं कारणाकारणसंयोगाच्च कार्याकार्यसंयोगानिति ।

यदि कारणविभागानन्तरं कार्यविभागोत्पत्तिः, कारणसंयोगानन्तरं कार्यसंयोगोत्पत्तिः । नन्वेवमवयवावयविनोर्युतसिद्धिदोषप्रसङ्ग इति । न, युतसिद्ध्यपरिज्ञानात् ।

सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, इयन्तु नित्यानाम्, अनित्यानां तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति । त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथग्गतिमत्त्वं नास्ति, युतेष्वाश्रयेषु समवायोऽस्तीति परस्परेण संयोगः सिद्धः । अण्वाकाशयोस्त्वाश्रयान्तराभावे ऽप्यन्यतरस्य पृथग्गतिमत्त्वात् संयोगविभागौ सिद्धौ । तन्तुपटयोरनित्ययोराश्रयान्तराभावात् परस्परतः संयोगविभागाभाव इति । दिगादीनां तु पृथग्गतिमत्त्वाभावादिति परस्परेण संयोगविभागाभाव इति।

विनाशस्तु सर्वस्य विभागस्य क्षणिकत्वात्, उत्तरसंयोगावधिसद्भावात् क्षणिक इति । न तु संयोगवद् ययोरेव विभागस्तयोरेव संयोगाद् विनाशो भवति । कस्मात् ? संयुक्तप्रत्ययवद् विभक्तप्रत्ययानुवृत्त्यभावात् । तस्माद् उत्तरसंयोगावधिसद्भावात् क्षणिक इति ।

क्वचिच्चाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति । कथम् ? यदा द्वितन्तुककारणावयवेंऽशौ कर्मोत्पन्नम् अंश्वन्तराद् विभागमारभते तदैव तन्त्वन्तरेऽपि कर्मोत्पद्यते, विभागाच्च तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः, तन्तुकर्मणा तन्त्वन्तराद् विभागः क्रियत इत्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव काले विभागात् तन्तुसंयोगविनाशः, तस्मिन्नेव काले संयोगविनाशात् तन्तुविनाशः, तस्मिन् विनष्टे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरविभागस्य विनाश इति ।

एवं तर्ह्युत्तरविभागानुत्पत्तिप्रसङ्गः, कारणविभागाभावात् । ततः प्रदेशान्तरसंयोगवति संयोगाभावः, इत्यतो विरोधिगुणासम्भवात् कर्मणश्चिरकालावस्थायित्वम्, नित्यद्रव्यसमवेतस्य च नित्यत्वमिति दोषः । कथम् ? यदाप्यद्व्यणुकारम्भकपरमाणौ कर्मोत्पन्नमण्वन्तराद् विभागं करोति, तदैवाण्वन्तरेऽपि कर्म । ततो यस्मिन्नेव काले विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, तदैवाण्वन्तरकर्मणा द्व्यणुकाण्वोर्विभागः क्रियते । ततो यस्मिन्नेव काले विभागाद् द्व्यणुकाणुसंयोगस्य विनाशः, तस्मिन्नेव काले संयोगविनाशाद् द्व्यणुकस्य विनाशः । तस्मिन् विनष्टे तदाश्रितस्य द्व्यणुकाणुविभागस्य विनाशः । ततश्च विरोधिगुणासम्भवान्नित्यद्रव्यसमवेतकर्मणो नित्यत्वमिति ।

तन्त्वंश्वन्तरविभागाद् विभाग इत्यदोषः । आश्रयविनाशात् तन्त्वोरेव विभागो विनष्टो न तन्त्वंश्वन्तरविभाग इति । एतस्मादुत्तरो विभागो जायते, अङ्गुल्याकाशविभागाच्छरीराकाशविभागवत्, तस्मिन्नेव काले कर्मसंयोगं कृत्वा विनश्यतीत्यदोषः ।

अथवा अंश्वन्तरविभागोत्पत्तिसमकालं तस्मिन्नेव तन्तौ कर्मोत्पद्यते, ततोंऽश्वन्तरविभागात् तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः, तन्तुकर्मणा च तन्त्वन्तराद् विभागः क्रियत इत्येकः कालः । ततः संयोगविनाशात् तन्तुविनाशः, तद्विनाशाच्च तदाश्रितयोर्विभागकर्मणोर्युगपद् विनाशः ।

तन्तुवीरणयोर्वा संयोगे सति द्रव्यानुत्पत्तौ पूर्वोक्तेन विधानेनाश्रयविनाशसंयोगाभ्यां तन्तुवीरणविभागविनाश इति ॥

'ये दोनों पदार्थ विभक्त हैं' - इस प्रकार की प्रतीति (= ज्ञान) का कारण ही 'विभाग' नामक गुण है । वह शब्द एवं विभाग का भी हेतु (= कारण) है ।

प्राप्ति (= संयोग) के पश्चात् उत्पन्न अप्राप्ति ही विभाग कहलाती है । वह विभाग भी तीन प्रकार का है -

१. अन्यतरकर्मज (= दो में से एक की क्रिया से उत्पन्न),

२. उभयकर्मज (= दोनों की क्रिया से उत्पन्न) और

३. विभागज (= विभाग से उत्पन्न) । उन तीनों में से अन्यतरकर्मज तथा उभयकर्मज विभाग (उक्त नामवाले दोनों) संयोगों के समान हैं [जैसे - १ - वृक्ष और पक्षी इन दोनों में से केवल वृक्षस्थ पक्षी की क्रिया (= पक्षी के उड़ जाने) से वृक्ष तथा पक्षी का विभाग हो जाता है; एवं २. दोनों मल्लों या मेषों की क्रिया से (= दोनों के पीछे हट जाने से) दोनों का परस्पर पृथक् होना] ३. किन्तु विभागज विभाग दो प्रकार का है - १. कारणों के विभाग से उत्पन्न और २. कारण एवं अकारण - इन दोनों के विभाग से उत्पन्न ।

उन दोनों विभागज विभागों में से प्रथम कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न होने वाले विभाग का निरूपण करते हैं - कार्य से सम्बद्ध कारण (=अवयव) में उत्पन्न क्रिया जिस समय अपने आश्रयरूप अवयव द्रव्य में दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय [विभक्त अवयवों में]आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न नहीं करती । किन्तु जिस समय वही (= पृथक्करण की) क्रिया अवयवों में आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय एक अवयव में दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न नहीं करती । अतः अवयव में रहने वाली क्रिया उसमें

[अवयवी के] दूसरे अवयव से ही विभाग को उत्पन्न करती है । [जैसे - खिलती हुई कमल की कली की पंखुड़ी दूसरी पंखुड़ी से ही अलग होती है, उस स्थान या डाली से पृथक् नहीं होती; किन्तु वही कली जब बेल के डंठल से तोड़कर वहाँ से अलग कर दी जाती है, तो उसकी पंखुड़ियों में और विभाग नहीं होता ।] उस विभाग से (अवयवी-) द्रव्य के उत्पादक - संयोग का नाश हो जाता है । उस संयोग के विनष्ट हो जाने पर (असमवायि-) 'कारण के अभाव से कार्य का अभाव (=नाश) हो जाता है' - इस न्याय से अवयवी द्रव्य का विनाश हो जाता है । उस समय (= अवयविरूप द्रव्य के नष्ट हो जाने पर) [अवयवी] के कारणभूत दोनों अवयवों में रहने वाला विभाग, अवयविरूप कार्य के विनाश से युक्त काल की अथवा स्वतन्त्र रूप से केवल अवयव के साहाय्य की अपेक्षा करके, कार्य से संयुक्त आकाशादि प्रदेश से, क्रियायुक्त अवयवों के ही विभाग को उत्पन्न करता है - वह क्रियारहित अवयवों में विभाग को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि क्रियारूप कारण के न होने से उत्तरसंयोगरूप कार्य की उत्पत्ति न होने पर विभागोत्पत्ति की अनुपभोग्यता (=निष्प्रयोजनता) की आपत्ति आ जाएगी । [क्योंकि क्रिया का पूर्वसंयोग की निवृत्ति करके उत्तर - संयोग की उत्पत्ति करना ही प्रयोजन है, किन्तु निष्क्रिय का उत्तरसंयोग न हो सकने से पूर्वसंयोग की निवृत्ति अर्थात् विभागोत्पत्ति निष्प्रयोजन हो जाएगी ।]

किन्तु वह अवयव की क्रिया आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकती; क्योंकि उसका विभाग को उत्पन्न करने का काल ही व्यतीत हो जाता है । [क्रिया का यह स्वभाव है, कि वह असमवायिकारण होने से अपने उत्पत्ति के अव्यवहित (= व्यवधानरहित) उत्तरक्षण में ही विभाग को उत्पन्न करती है, अन्य क्षण में नहीं । वह उसका विभाग को उत्पन्न करने वाला समय, द्वितीय विभाग के उत्पत्तिक्षण में व्यतीत हो चुका है, अतः उस क्रिया से आकाशादि प्रदेश से विभाग नहीं हो सकता] किन्तु [वह अवयव की क्रिया] दूसरे प्रदेशों के साथ संयोग को तो

अवश्य उत्पन्न करती है; क्योंकि जब तक वह संयोग को उत्पन्न न कर दे, तब तक उस क्रिया का समय व्यतीत (=समाप्त) नहीं होता ।

(प्र.) कारण (=अवयव) तथा अकारण (=आकाशादि प्रदेश) के विभाग से भी [विभागज विभाग] किस प्रकार उत्पन्न होता है ?

(उ.) जिस समय हाथ में उत्पन्न हुई क्रिया शरीर के दूसरे अवयवों से विभाग को उत्पन्न न करते हुए आकाश आदि प्रदेशों से विभागों को उत्पन्न करके दूसरे आकाशादि उत्तर-देश में संयोगों को उत्पन्न करती है, उस समय वे (= विभाग) कारण (= अवयव) तथा अकारण (= शरीर के अकारण रूप आकाशादि प्रदेश इन दोनों के विभाग हैं । क्रिया जिस दिशा में (उत्तरसंयोगरूप) कार्य को करने के लिए अग्रसर होती है, उसी दिशा की सहायता से वे [कारण और अकारण के विभाग] कार्य (=शरीर) और अकार्य (= आकाशादि प्रदेशों) के विभागों को उत्पन्न करते हैं [क्योंकि भित्ति से हाथ के पृथक् होने पर शरीर भी भित्ति से पृथक् हो जाता है ।] । उसके पश्चात् (वे ही कारण और अकारण के विभाग) कारणों और अकारणों के संयोगों की सहायता से (उन कारणों = अवयवों से उत्पन्न अवयवी = शरीर रूप) कार्य और (उन अवयवों से अनुत्पन्न = आकाशादि प्रदेशरूप) अकार्य द्रव्यों में संयोगों को भी उत्पन्न करते हैं । [क्योंकि अन्य भित्ति आदि से हाथ का संयोग होने पर शरीर और भित्ति का भी संयोग हो जाता है । ये शरीर के भित्ति आदि से विभाग एवं संयोग शरीर की क्रिया से नहीं होते, अपितु हाथ की क्रिया से होते हैं । अतः विभागज विभाग तथा संयोगज संयोग हैं ।]

(शंका-) - यदि कारण (=अवयव) के विभाग के पश्चात् (अवयविरूप-) कार्य के विभाग की उत्पत्ति होती है एवं (अवयवरूप-) कारण के संयोग के पश्चात् (अवयविरूप-) कार्य के संयोग की उत्पत्ति होती है; तो शंका है कि ऐसा मानने से अवयव और अवयवी में युतसिद्धि (= पृथक् सिद्धि) रूप दोष की आपत्ति आ जाएगी ?

(समा.) - (यह आपत्ति) नहीं है, (शंका करने वाले को) युतसिद्धि का यथार्थ ज्ञान न होने से ।

दोनों द्रव्यों की अथवा दो में से किसी एक द्रव्य की गतिशीलता (=क्रिया की योग्यता) यह नित्य द्रव्यों की 'युतसिद्धि' है । [जैसे - दो परमाणुओं में से दोनों में गतिशीलता है तथा परमाणु एवं आकाश इन दोनों में से केवल एक (=परमाणु) में ही गतिशीलता है।] किन्तु दो द्रव्यों अथवा दो में से किसी एक द्रव्य का परस्पर से भिन्न अन्य आधार में समवेत होना - यह अनित्य द्रव्यों की 'युतसिद्धि' है ।

[जैसे - घट एवं पट दोनों का, तथा आकाश एवं घट इन दोनों में से घट का अपने विभिन्न अवयवों रूप आश्रय में समवेत रहना देखा जाता है ।] त्वगिन्द्रिय और शरीर इन दो अनित्य द्रव्यों में (यद्यपि परमाणु आदि नित्य द्रव्यों के समान) स्वतन्त्र गतिशीलता नहीं है, किन्तु पृथक् आश्रयों में उनकी समवेतता है । अर्थात् वे अपने-अपने अवयवरूप आश्रयों में रहते हैं, इसलिए [अन्य अनित्य द्रव्यों के समान युतसिद्धि होने से] उन (=शरीर और त्वगिन्द्रिय) का परस्पर संयोग (ही) सिद्ध होता है, (समवाय नहीं) ।

किन्तु परमाणु और आकाश इन दोनों में से कोई भी पृथक् आश्रय में नहीं रहता [क्योंकि दोनों का कोई आश्रय (=अवयव) है ही नहीं] पुनरपि दोनों में एक (=परमाणु) में स्वतन्त्र गति है, इसलिए परमाणु और आकाश इन दोनों में संयोग की सिद्धि और (संयोगसिद्धि के कारण ही) विभाग की भी सिद्धि होती है ।

परन्तु अनित्य तन्तु और अनित्य पट - इनके अलग से स्वतन्त्र आश्रय न होने से यह सिद्ध होता है, कि (तन्तु और पट दोनों में) परस्पर संयोग और (संयोगमूलक) विभाग नहीं होते ।

दिशा, काल आदि व्यापक द्रव्यों की तो पृथक् गतिशीलता न होने से ही उनमें परस्पर संयोग तथा विभाग नहीं होते (वे अपने स्वरूप से ही स्थित होते हैं)। इति = इस प्रकार पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान पूरा हुआ । अर्थात् हाथ चलने

से शरीर नहीं चलता, केवल इतने से ही उनकी युतसिद्धि नहीं हो सकती। यदि हाथ और शरीर दोनों पृथक् आश्रय में आश्रित होते तो वे दोनों युतसिद्ध होते, किन्तु वैसा नहीं है; अतः हाथ-पैर आदि में शरीर आश्रित (= अयुतसिद्ध) होने के कारण समवाय-सम्बन्ध से है। हाथ और शरीर में संयोग-सम्बन्ध नहीं है।

विशेषः- १. युतसिद्धों (= पृथक् सिद्धों) में संयोग-सम्बन्ध एवं विभाग होते हैं।

२. अयुत-सिद्धों (= अपृक्सिद्धों) में ही समवाय - सम्बन्ध होते हैं।

३ - अवयव और अवयवी में अयुतसिद्ध होने से परस्पर समवाय-सम्बन्ध ही होता है, संयोग नहीं।

४ - अवयवी के अवयवों में युतसिद्ध होने से परस्पर संयोग या विभाग ही होता है, समवाय - सम्बन्ध नहीं होता।

[अब भाष्यकार विभाग का विनाश बताते हैं] अन्यतरकर्मज इत्यादि तीनों प्रकार के विभाग के क्षणिक (=आशुतर विनाशी = उत्पत्ति के तृतीय क्षण में नष्ट होने वाला) होने से 'विभाग' का विनाश हो जाता है। (विभाग के समवायिकारणरूप दोनों द्रव्यों का) उत्तर देश के साथ संयोग होने तक ही सत्ता (=अस्तित्व) होने से सभी प्रकार के विभाग क्षणिक (= आशुतरविनाशी) हैं। जिस प्रकार संयोग का विनाश उसके दोनों आश्रयों (=द्रव्यों) के विभाग से ही होता है, उसी प्रकार विभाग का विनाश विभाग के दोनों आश्रयों से ही नहीं होता (अपितु विभाग के आश्रयों का उत्तर देश के साथ संयोग से भी होता है अर्थात् उत्तर-संयोग होते ही विभाग का नाश हो जाता है। इस प्रकार विभाग का विनाश विभाग के आश्रय द्रव्यों के पुनः संयोग से अथवा उन आश्रयों का अन्य द्रव्य के साथ संयोग से हो जाता है।) (प्र.) क्यों? (उ.) क्योंकि संयोग से युक्त दो द्रव्यों में 'ये दोनों संयुक्त हैं' - इस प्रकार की प्रतीति के समान, विभक्त हो जाने वाले दो द्रव्यों में 'ये दोनों विभक्त

हैं' - इस प्रकार की प्रतीति चिरकाल तक नहीं रहती । इसलिए उत्तर देश से संयोग होने तक ही विभाग की सत्ता होने से 'विभाग' क्षणिक है ।

[इस प्रकार संयोग से विभाग का विनाश समझाकर अव आश्रय के विनाश से विभाग का विनाश विस्तार से बताने के लिए भाष्यकार कहते हैं -]

और कहीं-कहीं आश्रय के विनाश से ही विभाग का विनाश हो जाता है, इसलिए (विभाग) क्षणिक है । (प्र.) - किस प्रकार (आश्रय के विनाश से विभाग का विनाश होता है)? (उ.) - जिस समय दो तन्तुओं से उत्पन्न पटरूप कार्य के कारणभूत तन्तु के अवयवरूप एक अंशुनामक अवयव में उत्पन्न हुई क्रिया दूसरे अंशु (=रेशे) से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय उक्त पट के अवयवरूप दूसरे तन्तु में भी क्रिया उत्पन्न होती है, इस विभाग से दोनों तन्तुओं के उत्पादक अंशुओं में रहने वाले संयोग का विनाश हो जाता है । एवं तन्तु की क्रिया से इस तन्तु का दूसरे तन्तु से विभाग उत्पन्न होता है । इतने कामों का एक काल होता है । उसके पश्चात् दोनों तन्तुओं के विभाग से (पट के उत्पादक दोनों) तन्तुओं के संयोग का विनाश होता है, उसी समय (अंशुओं के) संयोग के विनाश से तन्तु का भी विनाश होता है । उस (=तन्तु) का विनाश हो जाने पर उसके आश्रित रहने वाले दूसरे तन्तु से उत्पन्न हुए विभाग का विनाश हो जाता है । इस प्रकार कहीं-कहीं आश्रय के विनाश से भी विभाग गुण का विनाश हो जाता है ।

[आश्रय के विनाश से भी विभाग का विनाश बताने पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है -]

यदि पूर्वोक्त प्रकार से उक्त स्थल में आश्रय के विनाश से ही विभाग का विनाश मानें, तो फिर तन्तु का आकाशादि देशों के साथ जो (विभागज) विभाग उत्पन्न होता है, वह नहीं हो सकेगा; (विभागज) विभाग के कारणभूत दोनों तन्तुओं का विभाग न होने (=विनष्ट हो जाने) से । (इससे दो दोष आ जायेंगे -) १. उत्तर

देश के साथ (अपने विनाश के लिए) संयोग की अपेक्षा करने वाले कर्म (=क्रिया के आश्रय द्रव्य) में उत्तर - देश से संयोग का अभाव होगा; इस कारण (उत्तरसंयोगरूप, क्रिया के) विरोधी (=नाशक) गुण के असम्भव होने से (विभाग के आश्रयभूत अनित्य द्रव्य में) क्रिया का चिरकालस्थायित्व (=तीन क्षण से अधिक समय तक ठहराव) होगा। [अर्थात् क्रिया का विनाश करने वाले उत्तर-संयोग के न होने से, जब तक आश्रय-द्रव्य का नाश नहीं हो जाता, तब तक वह बनी रहेगी।] तथा २ - परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में रहने वाली क्रिया तो नित्य ही हो जाएगी।

[अब प्रश्नपूर्वक पूर्वपक्षी उक्त दोष का समर्थन करता है -](प्र.) कैसे ? (अर्थात् नित्य द्रव्य में रहने वाली क्रियाओं के नित्यत्व की आपत्ति किस प्रकार एवं किस स्थिति में होगी ?) (उ.) - जिस समय [जहाँ] जलीय द्व्यणुकरूप अवयविद्रव्य के उत्पन्न करने वाले जलीय परमाणु में उत्पन्न क्रिया (जलीय द्व्यणुक के अनुत्पादक) दूसरे परमाणु के साथ (जलीय द्व्यणुक के) विभाग को उत्पन्न करता है, उसी समय में (जलीय द्व्यणुक के) उत्पादक निष्क्रिय दूसरे परमाणु में भी (केवल विभागजनक) क्रिया उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् जिस समय में (नाशक क्रिया से उत्पन्न) विभाग से (जलीय द्व्यणुकरूप-) द्रव्य के उत्पादक पूर्वसंयोग का विनाश होता है; उसी समय में (जलीय द्व्यणुक के अनुत्पादक) दूसरे परमाणु की क्रिया से जलीय द्व्यणुक और (उदासीन) परमाणु इन दोनों का विभाग किया जाता है। उसके पश्चात् जिस समय में (इस जलीय द्व्यणुक और उदासीन परमाणु के) विभाग से जलीय द्व्यणुक और (उदासीन) परमाणु इन दोनों के पूर्व संयोग का नाश होता है; उसी समय में (द्व्यणुक) के उत्पादक दोनों जलीय परमाणुओं के) संयोग के नाश से जलीय द्व्यणुकरूप अवयविद्रव्य का भी विनाश हो जाता है। उस जलीय द्व्यणुक के विनष्ट हो जाने पर उसमें रहने वाले जलीय द्व्यणुक और उदासीन परमाणु के विभाग का भी विनाश होता है। और इस कारण (उत्तरसंयोगरूप) विरोधी गुण के असम्भव होने से परमाणुरूप नित्य द्रव्य में रहने वाली क्रिया में

नित्यत्व की आपत्ति होगी। इति = यह [आश्रय के विनाश से भी विभाग के विनाश की मान्यता पर पूर्वपक्षी का आक्षेप पूरा हुआ]।

(समा.) - [आश्रय के विनाश से विभागविनाश के प्रसंग में जो उत्तर - विभाग की अनुत्पत्ति एवं क्रिया के स्थायित्व का दोष दिया गया था, उसका समाधान है, कि]

(दो तन्तुओं से बने पट के कारणभूत एक तन्तु में उत्पन्न हुई क्रिया, आकाशादि देशों से दूसरे तन्तु के साथ एवं उस तन्तु के साथ संयुक्त अंशु के साथ भी विभाग को उत्पन्न करती है, इस प्रकार) तन्तु और तन्तु के अनारम्भक दूसरे अंशु, इन दोनों के विभाग से 'उत्तर-विभाग' उत्पन्न होता है, अतः (उत्तर-विभागानुत्पत्ति रूप) दोष नहीं है; क्योंकि आश्रय के विनाश से दोनों तन्तुओं का विभाग ही नष्ट होता है, इससे तन्तु तथा (उसके अनुत्पादक) दूसरे तन्तु - इस दोनों के विभाग का नाश नहीं होता। इसी विभाग से आकाशादि देशों के साथ तन्तु का वह उत्तर-विभाग उत्पन्न होता है। जैसे कि अंगुलि और आकाश (=भित्ति आदि) के विभाग से शरीर और आकाश (= भित्ति आदि) का विभाग उत्पन्न होता है। उसी समय क्रिया उत्तर (देश) - संयोग को उत्पन्न करके स्वयं भी विनष्ट हो जाती है। इस प्रकार (तन्तु आदि अनित्य द्रव्यों की क्रिया में चिरस्थायित्व परमाणुओं की क्रियाओं में नित्यत्व रूप दोनों) दोषों का निराकरण हो जाता है।

[आश्रय के विनाश से विभाग के विनाश की दूसरी प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं -] जिस समय (तन्तु के उत्पादक एक अंशु का) दूसरे अंशु के साथ विभाग उत्पन्न होता है, उसी समय (उन्हीं अंशुओं से उत्पन्न) उसी तन्तु में क्रिया उत्पन्न होती है; उसके पश्चात् एक अंशु का दूसरे अंशु के विभाग से तन्तु के उत्पादक (दोनों अंशुओं के) संयोग का विनाश हो जाता है और तन्तु की क्रिया से एक तन्तु का दूसरे तन्तु से विभाग उत्पन्न हो जाता है। - इतने कामों का एक ही समय है। इसके पश्चात्

(दोनों अंशुओं के विभाग से उत्पन्न दोनों अंशुओं के) संयोग के विनाश से तन्तु का विनाश हो जाता है, और उस तन्तु के विनाश से उसमें रहने वाले विभाग और क्रिया - इन दोनों का एक ही समय में विनाश हो जाता है । [इसलिए इस पक्ष में क्रिया में चिरस्थायित्व की आपत्ति भी नहीं है ।]

[अब विजातीय द्रव्यों के संयोग के उदाहरण से समाधान करते हैं -] अथवा (ऐसी स्थिति में भी आश्रय के विनाश से विभाग का विनाश हो सकता है, जहाँ) तन्तु और वीरण (= तृणविशेष) में संयोग होता है । इस संयोग से किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती; (क्योंकि यह विजातीय दो द्रव्यों का संयोग है ।) पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार आश्रय के विनाश और संयोग - इन दोनों से तन्तु और वीरण के विभाग का विनाश हो जाता है ।

[इस प्रकार क्रिया आकाश आदि देश से विभाग को उत्पन्न करने से पूर्वसंयोग की निवृत्ति द्वारा उत्तर-संयोग को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है । इसलिए क्रिया में चिरस्थायित्व एवं नित्यता का दोष नहीं हो सकता ।]

इस प्रकार आक्षेप-समाधान - सहित विभाग का प्रकरण पूरा हुआ ॥

प्रसंग :- अव सूत्रकार अतिदेश द्वारा संयोग में संयोग और विभाग में विभाग का अभाव दिखाते हैं -

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥ (२९२)

[संयोगविभागयोः] संयोग और विभाग में [संयोगविभागाभावः] संयोग और विभाग का अभाव [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व और महत्त्व (के व्याख्यान) से [व्याख्यातः] व्याख्यात (= कहा गया) (समझना चाहिए) ।

गत सूत्रों (७/१/१४-१६) में जैसे अणुत्व परिमाण में अणुत्व और महत्त्व में

महत्त्व का अभाव दिखाया है; क्योंकि - गुण में गुण नहीं रहता, उसी प्रकार संयोग - गुण में संयोग - गुण और विभाग - गुण में विभाग-गुण नहीं रह सकता। अतः संयुक्तों का फिर अन्य से संयोग और विभाग के फिर विभाग का जो कथन होता है, वह व्यवहारमात्र ही है; क्योंकि वहाँ भी द्रव्यों में ही संयोग और विभाग होते हैं॥ ११॥

प्रसंग :- संयोग-विभाग में अणुत्व-महत्त्व रहते हैं या नहीं इस शंका का समाधान करते हैं -

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति
॥ १२ ॥ (२९३)

यहाँ 'व्याख्यातः' की गतसूत्र से अनुवृत्ति है।

[कर्मभिः] कर्मों से [कर्माणि] कर्म [गुणैः] गुणों से [गुणाः] गुण (रहित = असम्बद्ध हैं) [इति] यह [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व - महत्त्व के द्वारा (कह दिया है)।

यह गत सूत्रों (७/१/१५, १६) में कह चुके हैं; कि कर्म के साथ कर्म एवं गुणों के साथ गुण नहीं रहते तथा अणुत्व-महत्त्व भी कर्म-गुणों के साथ नहीं रहते।

इसी प्रकार संयोग-विभाग में भी अणुत्व-महत्त्व परिमाण नहीं रहते; क्योंकि संयोग-विभाग भी गुण और अणुत्व-महत्त्व भी गुण हैं। फिर भी जो 'अणुसंयोग' 'महान् संयोग', 'अणु विभाग' 'महान् विभाग' - इत्यादि व्यवहार होता है; उसे औपचारिक ही समझना चाहिए, वास्तविक नहीं॥ १२॥

प्रसंग :- अब कार्य द्रव्य और कारणद्रव्य तथा अवयव और अवयवी में परस्पर संयोग-विभाग का निषेध करते हैं -

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥ १३ ॥ (२९४)

[कार्यकारणयोः] कार्यद्रव्य और कारणद्रव्य दोनों के [संयोगविभागौ] (परस्पर) संयोग और विभाग [न] नहीं [विद्येते] होते [युतसिद्ध्यभावात्] युतसिद्धि (=स्वतन्त्रस्थिति) के न होने से ।

परस्पर सम्बन्ध से रहित दो द्रव्यों की स्वतन्त्र स्थिति को 'युतसिद्धि' कहते हैं । जैसे - दो घड़े या दो पुस्तक परस्पर सम्बन्ध से रहित स्वतन्त्र रूप से अवस्थित होते हैं । वे अपनी स्थिति के लिए दूसरे घट या पुस्तक की अपेक्षा नहीं करते । परन्तु कार्य-कारणभाव सम्बन्ध वाले द्रव्यों में युतसिद्धि असम्भव हैं; क्योंकि कार्यद्रव्य अपने कारणों को छोड़कर (=उनकी उपेक्षा करके = स्वतन्त्र) नहीं रह सकता । अर्थात् कारण को छोड़कर कार्य का अस्तित्व नहीं । इसी प्रकार जब केवल कारण द्रव्य है, तब कार्य का अस्तित्व नहीं होता । जैसे - मिट्टी और (उस मिट्टी से उत्पन्न) घड़े का, एवं रोटी और (उसके उपादान) आटे का संयोग सम्बन्ध नहीं होता । अतः कार्य और कारण की पृथक् - पृथक् स्वतन्त्र स्थिति न होने से इनका संयोग होना नहीं कहा जा सकता । जब संयोग नहीं, तो विभाग का प्रश्न ही नहीं उठता । फलतः कार्य-कारण अथवा अवयव-अवयवी में परस्पर संयोग-विभाग नहीं रहते । क्योंकि ये अयुतसिद्ध माने जाते हैं, जिनका कि परस्पर समवाय-सम्बन्ध माना जाता है । संयोग-विभाग युतसिद्धों के ही होते हैं ॥ १३ ॥

प्रसंग :- प्रसंग-वश शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निर्धारण करने के लिए संयोग-सम्बन्ध का खण्डन करते हैं -

गुणत्वात् ॥ १४ ॥ (२९५)

यहाँ सूत्र १८ से 'शब्दार्थौ' का उत्कर्ष है ।

[गुणत्वात्] (शब्द के) गुण होने से (शब्द और अर्थ का संयोग-सम्बन्ध नहीं है) ।

शब्द के गुण होने से किसी अर्थ के साथ शब्द का संयोग-सम्वन्ध सम्भव नहीं है । यह सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों का परस्पर होता है; द्रव्य और गुण का नहीं ॥ १४ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार शब्द और अर्थ का परस्पर संयोग-सम्वन्ध न होने में अन्य हेतु देते हैं -

गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥ (२९६)

[गुणः] (शब्द के द्वारा रूप, रस, आदि) गुण [अपि] भी [विभाव्यते] प्रकट (= बोधित) किया जाता है ।

जैसे घट, पट आदि शब्दों के द्वारा घट, पट आदि द्रव्यों का बोध कराया जाता है; वैसे ही रूप, रस, स्पर्श आदि शब्दों के द्वारा रूप आदि गुणों का भी बोध होता है । और शब्द भी गुण है । शब्द एवं (रूप आदि) अर्थ दोनों के गुण होने से तो दोनों का संयोग-सम्बन्ध सर्वथा ही असम्भव है ॥ १५ ॥

प्रसंगः- शब्द और अर्थ का संयोग-सम्बन्ध न होने में अन्य कारण बताते हैं -

निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥ (२९७)

[निष्क्रियत्वात्] शब्द के क्रियारहित होने से (शब्द और अर्थ का संयोग-सम्बन्ध नहीं होता) ।

संयोग-सम्वन्ध क्रिया के अनन्तर होता है; क्योंकि वह अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज वताया है । परन्तु शब्द में क्रिया होती ही नहीं; क्योंकि वह गुण है । और जहाँ अर्थ भी क्रियाहीन हो, जैसे - आकाश , वहाँ दोनों के क्रियाहीन होने से संयोग-सम्वन्ध सर्वथा असम्भव होगा ॥ १६ ॥

प्रसंग :- शब्द और अर्थ का संयोग-सम्बन्ध न होने में सूत्रकार अन्य हेतु देते हैं -

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥ (२९८)

[असति] {अर्थ (= वस्तु) के} न होने पर [न] नहीं [अस्ति] है [इति] ऐसा [प्रयोगात्] प्रयोग होने से [च] भी (शब्द का अर्थ के साथ संयोग - सम्बन्ध नहीं है) ।

जिस प्रकार 'पुस्तक है', 'वस्त्र है' - इत्यादि उदाहरणों में वर्तमान वस्तु का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग होता है , उसी प्रकार 'घड़ा नहीं है', 'घड़ा था', 'घड़ा बनेगा' - इत्यादि उदाहरणों में वस्तु के वर्तमान न होने पर अर्थात् वस्तु की अभाव, अतीत वा अनागत अवस्था में भी शब्द का प्रयोग होता है ।

यदि वस्तु का शब्द के साथ संयोग-सम्बन्ध होता, तो वस्तु की अविद्यमानता में शब्द का कभी प्रयोग न हो पाता; क्योंकि संयोग-सम्बन्ध के लिए सम्बन्धियों का वर्तमान होना आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है, कि शब्द और अर्थ का परस्पर संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

प्रसंग :- अनेक हेतु देकर अब सूत्रकार साध्य प्रतिज्ञा को कहते हैं; जिसकी चर्चा १४ वें सूत्र से आरम्भ की थी -

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥ (२९९)

[शब्दार्थौ] शब्द और अर्थ दोनों [असम्बन्धौ] संयोग - सम्बन्ध वाले नहीं हैं।

पूर्वोक्त हेतुओं से सिद्ध है, कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग-सम्बन्ध नहीं है और न 'समवाय-सम्बन्ध' है ।

न विद्यते सम्बन्धो ययोः तौ - असम्बन्धौ =शब्दोर्थौ - (नञ् - बहुवीहि समासः) ॥ १८ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार उदाहरण से शब्द और अर्थ में परस्पर संयोग तथा समवाय दोनों सम्बन्धों का निषेध करते हैं -

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥ १९ ॥ (३००)

[दण्डात्] दण्ड (देखने) से [संयोगिनः] (दण्ड से) संयोगी (पुरुष) का [च] और [विशेषात्] विशेष (=अवयव) से [समवायिनः] समवाय - सम्बन्ध वाले (= अवयवी) का (ग्रहण होता है, वैसे शब्द से अर्थ का ग्रहण नहीं होता। अतः शब्द - अर्थ का संयोग तथा समवाय-सम्बन्ध नहीं है)।

यदि शब्द का अर्थ के साथ संयोग अथवा समवाय - सम्बन्ध होता, तो जैसे दण्ड को देखकर दण्ड से संयुक्त (=दण्डी) पुरुष का ज्ञान होता है, तथा हस्त (=सूँड) को देखने से अवयवी (=हस्ती) का ज्ञान होता है; वैसे ही शब्द के श्रवण से अर्थ की प्रतीति होती। किन्तु नहीं होती। इसलिए सिद्ध है, कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग तथा समवाय दोनों सम्बन्ध नहीं।

यदि शब्द और अर्थ का प्राप्ति-रूप (=संयोग, समवाय) सम्बन्ध हो, तो 'मोदक' शब्द कहने पर लड्डू से मुँह भर जाना चाहिए। 'अग्नि' शब्द के उच्चारण से मुँह जल जाए। तलवार कहने से मुँह कट जाए। परन्तु ऐसा न होने से सिद्ध होता है, कि शब्द और अर्थ का संयोग तथा समवाय-सम्बन्ध नहीं है ॥ १९ ॥

प्रसंग :- तो फिर शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है ?

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥ (३०१)

[शब्दात्] शब्द से [अर्थप्रत्ययः] अर्थ का ज्ञान [सामयिकः] समय (= संकेत) से होता है।

'इस शब्द का यह अर्थ जानना' - इस प्रकार के निर्देश को 'समय' (= संकेत) कहते हैं। इस प्रकार के संकेत से आदि सृष्टि में तो ईश्वरीय प्रेरणा से परम

पवित्र ऋषियों के हृदय में वेद का शब्दार्थ ज्ञान होता है। उसके अनन्तर आप्त-पुरुष बहुत से शब्दों से अर्थों का वस्तु के गुणानुसार निर्देश करते हैं। जिसके अनुसार लोक व्यवहार चलता रहता है।

यह संकेत भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। इसी भेद के कारण भाषाओं की भिन्नताएँ हो जाती हैं। इन संकेतों के न समझने वाले व्यक्ति को शब्द सुनकर भी अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

जैसे - फारस देश के लोग चन्द्रलोक को 'महताव', अंग्रेज लोग 'मून' तथा आर्य लोग 'शशि', 'कलानिधि', 'मृगांक', 'चन्द्र'-इत्यादि शब्दों से जानते वा संकेतित करते हैं। कहीं एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ भी देखा जाता है। जैसे - बंगला भाषा में पिता को 'बाबा' और बड़े भाई को 'दादा' कहते हैं; जब कि हिन्दी भाषा में ये शब्द 'पितामह' के वाचक हैं। तेलुगु भाषा में पिता को 'नाना' कहते हैं जबकि हिन्दी में यह मातामह (=माँ के पिता) का वाचक है।

इसी प्रकार का 'हिन्दू' शब्द है; जिसका अर्थ अरबी कोश में चोर, काला, असभ्य, काफिर (नास्तिक) आदि है। फारसी कोश (=लुगात) में - श्रेष्ठ, आर्य, पवित्रात्मा, वेदानुयायी आदि तथा संस्कृत भाषा में - 'हिनस्ति दुरितानि', 'हिनस्ति दुष्टान्', 'हिनस्ति दुर्गुणानिति वा स 'हिन्दुः' अर्थात् जो सामाजिक बुराइयों को दूर करे, दुष्टों की दुष्टता को (-दण्ड आदि द्वारा) दूर करे और निजी दुर्गुणों को नष्ट करे, वह 'हिन्दू' है अर्थात् आर्य, श्रेष्ठ, धार्मिक, वेदानुयायी आदि। 'काका' शब्द भी ऐसा ही है, जिसका अर्थ पंजाबी में 'भतीजा' वा 'बच्चा' है; जबकि अन्य क्षेत्रों में इसका अर्थ - 'चाचा' (= पिता का छोटा भाई) है। 'ताई' शब्द का अर्थ मराठी में 'दीदी' होता है, जबकि हिन्दी में इसका अर्थ ताऊ की पत्नी (बड़ी माँ) होता है। एवं 'मीठा' शब्द गुजराती, मराठी में 'नमक' का वाचक है; जबकि हिन्दी में गुड़, चीनी आदि मधुर पदार्थ का वाचक है ॥ २० ॥

प्रसंग :- प्रसंगवश शब्दार्थ-सम्बन्ध को बताकर अब सूत्रकार क्रमप्राप्त परत्व-अपरत्व की परीक्षा करते हैं -

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ॥ २१ ॥ (३०२)

[एकदिक्काभ्याम्] एकदिशा में होने वाले दो द्रव्यों के, (तथा) [एककालाभ्याम्] एक काल में होने वाले दो द्रव्यों के [सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्याम्] (एक दूसरे की अपेक्षा, वहाँ) समीप और दूर होने से [परम्] परत्व गुण [च] और [अपरम्] अपरत्व गुण (उत्पन्न वा व्यवहृत होते हैं) ।

परत्व और अपरत्व दो प्रकार का होता है - दैशिक (=देशकृत) और कालिक (=कालकृत) । एक ही दिशा में द्रष्टा अथवा किसी निश्चित अवधि की अपेक्षा से दो वस्तुओं में से जो दूर हो उसमें परत्व का तथा जो समीप हो उसमें अपरत्व का व्यवहार होता है ।

यहाँ वे द्रव्य (=वस्तुएँ) परत्व-अपरत्व के 'समवायिकारण', द्रव्य और दिशा का संयोग 'असमवायिकारण' तथा अन्य अपेक्षित कारण 'निमित्तकारण' होते हैं ।

इसी प्रकार काल की अपेक्षा से जो एक को बड़ा (=पर) और दूसरे को छोटा (=अपर) कहते हैं । ये परत्व-अपरत्व व्यवहार कालकृत होते हैं ।

जैसे - देवदत्त, यज्ञदत्त से बड़ी अवस्था का है अर्थात् देवदत्त पिण्ड से सूर्यादि का सम्बन्ध अधिक रहा है । यहाँ देवदत्त में परत्व और यज्ञदत्त में अपरत्व गुण है ।

यहाँ यज्ञदत्त-देवदत्त पिण्ड परत्व -अपरत्व के 'समवायिकारण' तथा काल (=सूर्य-) पिण्ड-संयोग 'असमवायिकारण', शेष अन्य 'निमित्तकारण' कहे जाते हैं ।

यह दैशिक परत्वापरत्व भिन्न दिशाओं में भी स्थिति वा दूरी की अपेक्षा से हो सकता है ॥ २१ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार दोनों प्रकार के परत्वापरत्व से पर - अपर व्यवहार की सिद्धि दिखाते हैं -

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥ (३०३)

यहाँ गतसूत्र से 'परमपरं च' की अनुवृत्ति है ।

[कारणपरत्वात्] कारण {= निमित्त, अवधि (= निर्धारित देश अथवा काल)} से परत्व (= दूरी वा अधिकता) होने के कारण [च] और [कारणापरत्वात्] कारण {= निमित्त, अवधि (= निर्धारित देश अथवा काल)} से अपरत्व (=समीपता वा न्यूनता) होने के कारण (पर और अपर व्यवहृत होते हैं) ।

दैशिक परत्व, अपरत्व में निश्चित अवधि (=सीमा) से दो वस्तुओं में से जिस वस्तु की दूरी अधिक है, उसमें परत्व का तथा जिस वस्तु की दूरी कम है, उसमें अपरत्व का व्यवहार होता है । जैसे - दिल्ली से एटा पर और अलीगढ़ अपर है । यहाँ दिल्ली से अलीगढ़ की अपेक्षा से एटा में परत्व और एटा की अपेक्षा से अलीगढ़ में अपरत्व होगा, निरपेक्ष नहीं । इसी प्रकार विजयवाड़ा से हैदराबाद में परत्व और वरंगल में अपरत्व एक दूसरे की अपेक्षा से है ।

कालिक (= कालकृत) परत्व-अपरत्व में भी वर्तमान अथवा अन्य निश्चित काल से दो वस्तुओं में से जिसकी कालकृत अधिकता है, अर्थात् जिसका जन्म पहले हुआ है, उसमें परत्व और जिसकी कालकृत न्यूनता है, अर्थात् जिसका जन्म बाद में हुआ है, उसमें अपरत्व का व्यवहार होता है । यह ज्येष्ठ-कनिष्ठ में परत्व-अपरत्व का व्यवहार भी एक-दूसरे की अपेक्षा से ही होता है, निरपेक्ष नहीं ॥ २३ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अणुत्व-महत्त्व के अतिदेश से परत्व-अपरत्व में परत्व-अपरत्व का अभाव दिखाते हैं -

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ २३ ॥ (३०४)

[परत्वापरत्वयोः] परत्व और अपरत्व में [परत्वापरत्वाभावः] परत्व और अपरत्व का अभाव [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व और महत्त्व (के व्याख्यान) से [व्याख्यातः] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

जैसे अणु-परिमाण में अणु-परिमाण तथा महत्-परिमाण में महत्-परिमाण नहीं होता; वैसे ही परत्व में परत्व तथा अपरत्व में अपरत्व भी नहीं होता; क्योंकि गुण में गुण नहीं रहता, अपितु द्रव्य में ही गुण रहता है । यह व्याख्यान पहले (७/१/१४) किया जा चुका है ॥ २३ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार कर्म में परत्व, अपरत्व का अभाव दिखाते हैं -

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥ (३०५)

यहाँ गत सूत्र से 'व्याख्यातः' की लिङ्गविपर्यय से अनुवृत्ति है ।

[कर्मभिः] कर्मों के साथ [कर्माणि] कर्म (तथा गुण सम्बद्ध नहीं, यह पहले कह चुके हैं) ।

इस व्याख्यान से कर्म में परत्व-अपरत्व गुण नहीं होता, यह स्पष्ट हो जाता है । यह गत सूत्रों (७/१/१५, १६; १/१/१७) में व्याख्यान कर दिया है ॥ २४ ॥

प्रसंग :- अब परत्व-अपरत्व का गुणों में अभाव दिखाते हैं -

गुणैर्गुणाः ॥ २५ ॥ (३०६)

यहाँ भी 'व्याख्यातः' की अनुवृत्ति है ।

[गुणैः] गुणों के साथ [गुणाः] गुण (सम्बद्ध नहीं, यह पहले कह चुके हैं) ।

गत सूत्रों (७/१/१५; १/१/१६) में समझा चुके हैं, कि गुणों में गुण नहीं रहते। ये परत्व-अपरत्व भी गुण हैं; अतः ये परत्व-अपरत्व में अथवा अन्य किसी गुण में नहीं रहते ॥ २५ ॥

१२(२५) - परत्वापरत्वप्रकरणम् (परत्वापरत्व-वैधर्म्यम्)

अब क्रमप्राप्त 'परत्व' और 'अपरत्व' नामक दो गुणों के लक्षण तथा परीक्षण के लिए भाष्यकार वैशे.सू.७/२/२१-२५ इत्यादि के अनुसार विस्तार से बता रहे हैं।

यहाँ यह विशेष है, कि ये 'परत्व' और 'अपरत्व' दोनों गुण परस्पर सापेक्ष है; इसलिए यहाँ दोनों का एक साथ निरूपण किया जा रहा है; जिससे दूर-पास, बड़ा-छोटा इत्यादि परस्पर सापेक्षा व्यवहारों का ज्ञान स्पष्टता से हो सके -

(प्रश०) :- परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतं देशविशेषप्रत्यायकम् । कालकृतं च वयोभेदप्रत्यायकम् ।

तत्र दिक्कृतस्योत्पत्तिरभिधीयते । कथम् ? एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः संयुक्तसंयोगबह्वल्पभावे सत्येकस्य द्रष्टुः सन्निकृष्टमवधिं कृत्वा 'एतस्माद् विप्रकृष्टोऽयम्' इति परत्वाधारेऽसन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः ।

तथा विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वा 'एतस्मात् सन्निकृष्टोऽयम्' इत्यपरत्वाधारे इतरस्मिन् सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्यापरेण दिक्प्रदेशेन संयोगाद् अपरत्वस्योत्पत्तिः ।

कालकृतयोरपि कथम् ? वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयो

रूढश्मश्रुकार्कश्यबलिपलितादिसान्निध्ये सत्येकस्य द्रष्टुर्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेने संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः । स्थविरं चावधिं कृत्वा यूनि सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्यापरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति ।

विनाशस्त्वपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यनाशात् ।

अपेक्षाबुद्धिविनाशात् तावदुत्पन्ने परत्वे यस्मिन् काले सामान्यबुद्धिरुत्पन्ना भवति ततोऽपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता, सामान्यतज्ज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः परत्वगुणबुद्धे रुत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततोऽपेक्षाबुद्धेर्विनाशो गुणबुद्धेश्चोत्पत्तिः, ततोऽपेक्षाबुद्धि विनाशाद् गुणस्य विनश्यत्ता, गुणज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यो द्रव्यबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततो द्रव्यबुद्धेरुत्पत्तिगुणस्य विनाश इति ।

२. संयोगविनाशादपि कथम् ? अपेक्षाबुद्धिसमकालमेव परत्वाधारे कर्मोत्पद्यते । तेन कर्मणा दिक्पिण्डविभागःक्रियते । अपेक्षाबुद्धितः परत्वस्योत्पत्तिरित्येकः कालः । ततः सामान्यबुद्धेरुत्पत्तिः दिक्पिण्डसंयोगस्य च विनाशः । ततो यस्मिन् काले गुणबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले दिक्पिण्डसंयोगविनाशाद् गुणस्य विनाशः ।

३. द्रव्यविनाशादपि कथम् ? परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नं यस्मिन्नेव कालेऽवयवान्तराद् विभागं करोति, तस्मिन्नेव कालेऽपेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते । ततो विभागाद् यस्मिन्नेव काले संयोगविनाशः, तस्मिन्नेव काले परत्वमुत्पद्यते । ततः संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः, तद्विनाशाच्च तदाश्रितस्य गुणस्य विनाशः ।

४. द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद् विनाशादपि कथम् ? यदा परत्वाधारावयवे कर्मोत्पद्यते तदैवापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते । कर्मणा चावयवान्तराद् विभागः क्रियते, परत्वस्योत्पत्तिरित्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव कालेऽवयवविभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशस्तस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धिरुत्पद्यते । तदनन्तरं

संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः, सामान्यबुद्धेश्चापेक्षाबुद्धिविनाश इत्येकः कालः। ततो द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्विनाशात् परत्वस्य विनाशः।

५. द्रव्यसंयोगविनाशादपि कथम् ? यदा परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद् विभागं करोति, तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मापेक्षा बुद्ध्योर्युगपदुत्पत्तिः। ततो यस्मिन्नेव काले परत्वस्योत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डस्य च विभागः क्रियत इत्येकः कालः। ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धिरुत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् पिण्डविनाशः, पिण्डविनाशाच्च पिण्डसंयोगविनाशः। ततो गुणबुद्धिसमकालं पिण्डदिक्पिण्डसंयोगविनाशात् परत्वस्य विनाशः।

६ - संयोगापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद् विनाशादपि कथम् ? यदा परत्वमुत्पद्यते, तदा परत्वाधारे कर्म, ततो यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यबुद्धिरुत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डविभागः क्रियते, ततः सामान्यबुद्धितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशः, विभागाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाश इत्येकः कालः। ततः संयोगापेक्षाबुद्ध्योर्विनाशात् परत्वस्य विनाशः।

७ - त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां युगपद् विनाशादपि कथम् ? यदापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते तदा पिण्डावयवे कर्म, ततो यस्मिन्नेव काले कर्मणाऽवयवान्तराद् विभागः क्रियतेऽपेक्षाबुद्धेः परत्वस्य चोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले पिण्डेऽपि कर्म, ततोऽवयवविभागात् पिण्डारम्भकसंयोगविनाशः, पिण्डकर्मणा च दिक्पिण्डविभागः क्रियते, सामान्यबुद्धेश्चोत्पत्तिरित्येकः कालः।

ततः संयोगविनाशात् पिण्डविनाशः, विभागाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाशः, सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाश इत्येतत् सर्वं युगपत् त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां विनाशात् परत्वस्य विनाश इति ॥

'यह इससे पर (= दूर अथवा ज्येष्ठ) है', 'यह इससे अपर (= समीप

अथवा कनिष्ठ) है' - इन शब्दों के प्रयोग और इनके ज्ञानों का (असाधारण) कारण ही क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' नामक दो गुण हैं । वे दोनों ही गुण दो प्रकार के हैं - १-दिक्कृत (= दिशा के निमित्त से उत्पन्न) और २ - कालकृत (=काल के निमित्त से उत्पन्न) । उन दोनों भेदों में से दिक्कृत (परत्व और अपरत्व) विशेष दिशा के बोधक होते हैं, और कालकृत (परत्व और अपरत्व, वस्तुओं के) वयस् (= अवस्था) के भेद के बोधक होते हैं ।

उन दोनों में से दिशा के निमित्त से उत्पन्न परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति का प्रकार कहा जाता है । (प्र.) - किस प्रकार (इनकी उत्पत्ति होती है) ? (उ.) - एक दिशा में वर्तमान दो कार्य द्रव्यों में (इन द्रव्यों के आश्रयभूत प्रदेश के साथ) संयुक्त (प्रदेशों) के संयोग की अधिकता तथा न्यूनता के रहने पर एक दर्शक पुरुष के समीप (प्रदेश) को अवधि (= मर्यादा) मानकर परत्व के आधारद्रव्य में 'इससे यह दूर है' - इस प्रकार की दूरत्वविषयक बुद्धि उत्पन्न होती है । उसके पश्चात् उसी बुद्धि के सहयोग से दूसरे दिशाप्रदेशों के संयोग के द्वारा (दिक्कृत) परत्वविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है । फिर इसी परत्वविषयक बुद्धि को अवलम्बन बनाकर दूर के दिक्प्रदेशों के संयोग से दिक्कृत परत्व गुण की उत्पत्ति होती है ।

इसी प्रकार दूर रहने वाले पदार्थ को अवधि मानकर 'इससे यह समीप है' - इस प्रकार की बुद्धि अपरत्व के आधार द्रव्य में उत्पन्न होती है । फिर इस बुद्धि को अवलम्बन मानकर 'अपर' (= समीपवाले) प्रदेशों के संयोग से दिक्कृत अपरत्व (गुण) की उत्पत्ति होती है ।

(प्र.) [अव यह वताइए कि -] काल के सम्बन्ध से होने वाले परत्व की भी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? (उ.)- वर्तमान समय में रहने वाले, किसी भी दिक्प्रदेश के साथ संयुक्त युवक और वृद्ध पुरुष में (से, युवा पुरुष में रहने वाले) मूँछों के कड़ेपन और देह के कड़े गठन, एवं (वृद्ध पुरुष की) झुर्रियाँ (= सिकुड़न

और शरीर की शिथिलता) तथा पके हुए (= श्वेत) केश आदि की स्थिति, इन दोनों स्थितियों को देखने वाले पुरुष को उक्त युवा पुरुष की अपेक्षा उक्त वृद्ध पुरुष में विप्रकृष्ट - बुद्धि अर्थात् कालकृत परत्व (=ज्येष्ठत्व) की बुद्धि उत्पन्न होती है। फिर उसी बुद्धि की सहायता से दूर के कालप्रदेश के साथ संयोग से (वृद्ध पुरुष में) कालकृत 'परत्व' (=ज्येष्ठत्व) गुण की उत्पत्ति होती है। और इसी वृद्ध पुरुष की अपेक्षा से युवा पुरुष में सन्निकृष्ट बुद्धि अर्थात् कालकृत अपरत्व (=कनिष्ठत्व) की बुद्धि उत्पन्न होती है। फिर इसी बुद्धि की सहायता से निकट के कालप्रदेश के साथ (युवा पुरुष के) संयोग से कालकृत 'अपरत्व' (=कनिष्ठत्व) गुण की उत्पत्ति होती है।

[इस प्रकार 'परत्व'-'अपरत्व' गुणों की उत्पत्ति का प्रकार दिखाकर, अब उन दोनों गुणों के विनाश की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं -] (परत्व और अपरत्व इन दोनों गुणों का विनाश तो - अपेक्षाबुद्धिरूप (निमित्तकारण), संयोगरूप (असमवायिकारण) एवं द्रव्यरूप (समवायिकारण) के विनाश से होता है। [स्वतन्त्र एवं संयुक्त भेद से परत्व और अपरत्व का विनाश इन सात प्रकार के विनाशक्रमों में से ही किसी से होता है। अर्थात् परत्व और अपरत्व का विनाश - १. अपेक्षा - बुद्धि के विनाश से, २ - संयोग के विनाश से, ३ - द्रव्य के विनाश से, ४ - द्रव्य और अपेक्षा-बुद्धि इन दोनों के विनाश से, ५ - द्रव्य और संयोग इन दोनों के विनाश से, ६ - संयोग और अपेक्षा-बुद्धि इन दोनों के विनाश से एवं ७ - अपेक्षा-बुद्धि, द्रव्य और संयोग इन तीनों के विनाश से होता है।]

१ - पहले अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारण के विनाश से परत्व-अपरत्व का विनाश बताते हैं - परत्व (या अपरत्व) गुण के उत्पन्न होने पर जिस क्षण में (परत्व अथवा अपरत्व में रहने वाले) सामान्य (=परत्वादि जातियों) की बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी क्षण में अपेक्षा-बुद्धि रूप निमित्तकारण को नष्ट करने वाले कारणसमूह

इकट्ठे हो जाते हैं (अर्थात् विनाशाभिमुख अवस्था आ जाती है); एवं (परत्वादि में रहनेवाले उक्त) सामान्य, उस (= सामान्य) का ज्ञान और परत्वादि गुणों के साथ उक्त सामान्य का सम्बन्ध इन सब से परत्वादि गुणविषयक के उत्पादक कारणसमूह एकत्र हो जाते हैं। (अर्थात् परत्वादि गुण ज्ञान की उत्पत्ति के अभिमुख अवस्था आ जाती है)। ये सभी कार्य एक समय में होते हैं। उसके पश्चात् (एक ही समय में) अपेक्षाबुद्धि का विनाश और (परत्वादि) गुणविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् अपेक्षाबुद्ध के विनाश से परत्वादि गुणों के विनाशक कारणसमूह का एकत्र होना (अर्थात् परत्वादि गुणों की विनाशाभिमुख अवस्था होना); परत्वादि गुण, उसके ज्ञान एवं द्रव्य के साथ परत्वादि गुणों का सम्बन्ध इन सब से (परत्वादि गुणों से युक्त) द्रव्यविषयक बुद्धि के उत्पादक कारणसमूह एकत्र हो जाते हैं। ये सभी कार्य एक समय में होते हैं। इसके पश्चात् (परत्वादि गुणविशिष्ट) द्रव्य विषयक (विशिष्ट) बुद्धि की उत्पत्ति और परत्वादि गुणों का विनाश ये दोनों कार्य एक ही समय होते हैं।

२ - (प्र.) संयोगरूप असमवायिकारण के विनाश से भी (परत्व और अपरत्व का विनाश) किस प्रकार होता है ?

(उ.) - अपेक्षाबुद्धि के समय में ही (जहाँ) परत्वादि गुणों के आधारभूत द्रव्य में क्रिया होती है। उस क्रिया के द्वारा उस द्रव्य और दिक्प्रदेश का विभाग किया जाता है और अपेक्षाबुद्धि के द्वारा परत्वादि गुणों की उत्पत्ति होती है - ये सब एक ही समय में होते हैं। उसके पश्चात् (परत्वादि गुणों में रहनेवाले) सामान्यविषयक बुद्धि की उत्पत्ति, उक्त द्रव्य और पूर्व दिक्प्रदेश इन दोनों के संयोग का विनाश होता है। उसके पश्चात् जिस समय परत्वादिगुणविषयक (विशिष्ट) बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी समय (कथित) दिक्प्रदेश और (परत्वादि गुणों के आधारभूत) द्रव्य इन दोनों के संयोग रूप असमवायिकारण के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश होता है।

३ - (प्र.) .. (समवायिकारणरूप) द्रव्य के विनाश से (परत्वादि गुणों का) विनाश किस प्रकार होता है ? (उ.) - परत्वादि गुणों के आधारभूत द्रव्य (के एक अवयव) में उत्पन्न हुई क्रिया जिस समय एक अवयव का दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय अपेक्षाबुद्धि भी उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् जिस समय विभाग से (परत्वादि के आधारभूत द्रव्य के उत्पादक दोनों अवयवों के) संयोग का विनाश होता है, उसी समय (अपेक्षाबुद्धि के द्वारा) परत्वादि गुणों की भी उत्पत्ति होती है । उसके पश्चात् (उक्त) संयोग के विनाश से (परत्वादि के आधारभूत) द्रव्य का विनाश होता है, और द्रव्य के विनाश से उसमें रहने वाले परत्वादि गुणों का भी विनाश हो जाता है ।

४ - (प्र.) - एक ही समय में (परत्वादि के आधारभूत) द्रव्य और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश किस प्रकार होता है ?

(उ.) - जिस समय (जहाँ) परत्व के आधारभूत द्रव्य के अवयव में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय अपेक्षा-बुद्धि उत्पन्न होती है। एवं क्रिया उसी समय दोनों अवयवों में विभाग को उत्पन्न करती है और (अपेक्षाबुद्धि से) परत्वादि गुणों की उत्पत्ति होती है । ये सब काम एक ही समय होते हैं । इसके पश्चात् जिस समय अवयवों के विभाग से द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश होता है, उसी समय (परत्वादिगुणों में रहनेवाली) सामान्य (= जाति) - विषयक बुद्धि भी उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् (उक्त) संयोग के नाश से द्रव्य का विनाश एवं (उक्त) सामान्यविषयक बुद्धि और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों का भी विनाश होता है । - इतने सब काम एक ही समय में होते हैं। इसके पश्चात् उक्त द्रव्य के विनाश और अपेक्षा बुद्धि के विनाश से परत्व आदि गुणों का विनाश हो जाता है ।

५ - (प्र.) - द्रव्य और संयोग इन दोनों के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश (कहाँ और) कैसे होता है ?

(उ.) - जिस समय (जहाँ) परत्वादि के आधारभूत द्रव्य के अवयव में उत्पन्न क्रिया उसके दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय (परत्वादि के आधारभूत अवयवि) द्रव्य में भी (विभागजनक) क्रिया एवं अपेक्षाबुद्धि दोनों की उत्पत्ति एक साथ ही होती है। इसके पश्चात् जिस समय में परत्वादि गुणों की उत्पत्ति होती है, उसी समय अवयव-विभाग से द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश और (उक्त अवयविरूप) पिण्ड की क्रिया से पिण्ड (अवयवि) का भी पूर्वदिक्प्रदेश से विभाग किया जाता है। इतने सब कार्य एक ही समय होते हैं। इसके पश्चात् जिस समय (परत्व गुण में रहने वाले) सामान्य का ज्ञान होता है, उसी समय (अवयवि) द्रव्य के उत्पादक संयोग के विनाश से (परत्वादि के आश्रयभूत अवयवि) पिण्डद्रव्य का विनाश और पिण्ड के विनाश से (पूर्वदिक् - प्रदेश के साथ) पिण्डसंयोग का विनाश भी होता है। इसके पश्चात् (परत्वादि) गुणविषयक बुद्धि की उत्पत्ति के समय (परत्वादि के आश्रयभूत) पिण्ड के विनाश और पिण्ड का (पूर्वदिक्प्रदेश के साथ) संयोग का नाश - इन दोनों से परत्वादि गुणों का विनाश होता है।

६ - (प्र.) - एक ही समय में (असमवायिकारण) संयोग और (निमित्तकारण) अपेक्षाबुद्धि - इन दोनों के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश किस प्रकार होता है ?

(उ.) - जिस समय परत्वादि की उत्पत्ति होती है, उसी समय परत्व (और अपरत्व) के आधारभूत द्रव्यों में क्रिया भी उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् जिस समय परत्वादि गुणों में रहने वाले सामान्य का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समय (परत्वादि के आधारभूत) द्रव्य में रहने वाली क्रिया से पूर्वदिक्प्रदेश के साथ पिण्ड (=द्रव्य) का विभाग भी उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् उक्त सामान्यविषयक ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का विनाश, और उक्त विभाग से पूर्वदिक्प्रदेश के साथ पिण्ड के संयोग का विनाश - इतने कार्य एक समय में होते हैं। इसके पश्चात् (उक्त दिशा एवं पिण्ड का) संयोग तथा अपेक्षाबुद्धि इन दोनों के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश होता है।

७ - (प्र.) - समवायिकारण (परत्वादि के आधारभूत द्रव्य), असमवायिकारण (दिक्पिण्ड-संयोग) और निमित्तकारण (अपेक्षाबुद्धि) - इन तीनों के एक ही समय में विनाश से परत्वादि गुणो का विनाश किस प्रकार होता है ?

(उ.) - जिस समय अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है, उसी समय (परत्वादि के समवायिकारण) पिण्ड के अवयव में क्रिया उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् जिस समय उक्त क्रिया से (एक अवयव का) दूसरे अवयव से विभाग उत्पन्न होता है, तथा अपेक्षाबुद्धि एवं परत्वादि गुण - इन दोनों की उत्पत्ति होती है; उसी समय पिण्ड (=अवयवि) में भी क्रिया उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् अवयवों के उक्त विभाग से पिण्ड के उत्पादक संयोग का विनाश होता है। और अवयवी (=पिण्ड) की विभाजक क्रिया से उसका पूर्वदिक्प्रदेश के साथ पिण्ड (=द्रव्य) का विभाग किया जाता है और परत्वादि सामान्य की भी उत्पत्ति होती है। -- इन सब कार्यों का एक ही समय है।

इसके पश्चात् (द्रव्योत्पादक पूर्व-) संयोग के विनाश से पिण्ड (=अवयवी) का विनाश, पूर्वदिशा और पिण्ड के विभाग से (इन दोनों=) दिशा और पिण्ड के संयोग का विनाश होता है, सामान्यज्ञान से अपेक्षा-बुद्धि का विनाश होता है। इस प्रकार एक ही समय में समवायिकारण (=परत्वादि का आधारभूत पिण्ड द्रव्य), असमवायिकारण (उक्त पिण्ड का पूर्वादि दिक्प्रदेशों के साथ संयोग) और निमित्तकारण (अपेक्षाबुद्धि) - इन सभी तीनों के विनाश से (भी) परत्वादि गुणों का विनाश होता है।

- यह सातों प्रकार की प्रक्रिया दैशिक एवं कालिक परत्व तथा अपरत्व गुण के विनाश में समझ लेनी चाहिए।

प्रशस्तपादार्चायोक्त इस परत्वापरत्व के स्वतन्त्र-भाष्य की व्याख्या भी पूरी हुई ॥

प्रसंगः- द्रव्यों में गुण समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं - यह अनेक वार कहा गया है। यह समवाय क्या होता है ? इस छठे पदार्थ समवाय-विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिए सूत्रकार क्रमप्राप्त 'बुद्धि' की परीक्षा का उल्लंघन करके वताते हैं -

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ २६ ॥ (३०७)

[कार्यकारणयोः] कार्य और कारण में (परस्पर) [इह] इस (=आधार) में [इदम्] यह (=आधेय) है [इति] इस प्रकार का (ज्ञान वा व्यवहार) [यतः] जिस (सम्बन्ध) से (होता है) [सः] वह [समवायः] समवाय है।

कार्यकारण से यहाँ अवयवावयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् तथा नित्य द्रव्य (=परमाणु) - विशेष अभिप्रेत हैं; जिनका कि नित्य-सम्बन्ध है। ये अवयव-अवयवी आदि अयुत-सिद्ध हैं। अर्थात् जिनमें से एक, सदा दूसरे के आश्रय से ही रहता है, स्वतन्त्र होकर कभी नहीं रहता, उन सबका सम्बन्ध **'समवाय'** है।

संयोग - सम्वन्ध से समवाय-सम्बन्ध में भेद यह है, कि संयोग-सम्बन्ध उन द्रव्यों का होता है, जो पहले अलग हुए-हुए फिर जुड़ें अर्थात् युतसिद्ध (=स्वतन्त्र रूप से उपलव्ध होकर मिले) हों; किन्तु समवाय-सम्बन्ध अयुत-सिद्धों अर्थात् कभी स्वतन्त्ररूप से उपलब्ध न होने वालों का होता है। जैसे-एक घट का दूसरे घट से संयोग - सम्वन्ध तथा तन्तुओं का वस्त्र के साथ समवाय -सम्बन्ध है। अर्थात् जैसे - 'ये दोनों संयुक्त हो गए' - यह व्यवहार संयोग-सम्बन्ध से होता है; वैसे ही 'इह इदम्' (= इसमें यह है) इस प्रकार के व्यवहार का हेतु 'समवाय-सम्बन्ध' है। अर्थात् इसमें यह है, ऐसे नित्य-सम्बन्ध को समवाय-सम्बन्ध कहते हैं ॥ २६ ॥

प्रसंग :- अव 'समवाय' नामक पदार्थ को द्रव्य, गुण आदि से भिन्न वताते हैं -

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २७ ॥ (३०८)

[द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधः] द्रव्य होने और गुण होने का प्रतिषेध [भावेन] भाव (=सत्ता जाति) (के व्याख्यान) से [व्याख्यातः] व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

सूत्र में पठित 'द्रव्यत्व-गुणत्व' कर्मत्व का भी उपलक्षण (=ग्राहक) समझना चाहिए ।

पिछले (१/२/८-१०) सूत्रों के अनुसार जैसे सत्ता-जाति 'द्रव्य-गुण-कर्म' से अर्थान्तर (=भिन्नपदार्थ) है, वैसे ही 'समवाय' भी द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न है; क्योंकि यह द्रव्यादि से विलक्षण प्रतीत होता है । जैसे - 'वस्त्र रूप वाला है' - यहाँ 'वाला' (समवाय-सम्बन्ध) वस्त्र और रूप से भिन्न है ॥ २७ ॥

प्रसंगः-अब पूर्वोक्त समवाय-सम्बन्ध का सत्ता के समान एक होना बताते हैं -

तत्त्वं भावेन ॥ २८ ॥ (३०९)

[तत्त्वं चेति' - (पाठा.) - चन्द्रा.]

यहाँ पूर्वसूत्र से 'व्याख्यातः' की लिंगभेद से अनुवृत्ति है ।

[तत्त्वम्] (समवाय का) एक होना [भावेन] भाव (=सत्ता - जाति) से (व्याख्यात समझना चाहिए) ।

(१/२/१७) सूत्र के अनुसार जैसे 'सत् सत्' - इस एकाकार प्रतीति से सत्ता एक है; वैसे ही द्रव्य में गुण समवेत है, कर्म समवेत है; इसी प्रकार गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, व्यक्ति-जाति आदि सब जोड़ों में समवाय एक होने से तथा कोई भेदक प्रमाण न होने से समवाय भी एक है ।

विशेष :- यद्यपि समवाय-सम्बन्ध एक है, तथापि विभिन्न पदार्थों के समवाय के कारण उनमें भेद प्रतीत होता है । जैसे - पृथिवी में गन्ध समवेत है,

अग्नि में उष्णता समवेत है, आकाश में शब्द समवेत है। फिर भी समवेतत्व एक होने से समवाय को एक ही समझना चाहिए ॥ २८ ॥

६- अथ समवायपदार्थनिरूपणम्

'विशेष' नामक पदार्थ के निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त अन्तिम पदार्थ 'समवाय' के लक्षण और परीक्षण के लिए आचार्य प्रशस्तदेव वैशे. - ७/२/२६, २७, २८ एवं ५/२/२३ आदि सूत्रों के अनुसार कहते हैं -

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानां वाऽयुतसिद्धानामाधार्याधारभावेनावस्थितानामिहेदमिति बुद्धिर्यतो भवति, यतश्चासर्वगतानामधिगतान्यत्वानाम् अविष्वग्भावः स समवायाख्यः सम्बन्धः। कथम् ? यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययः सम्बन्धे सति दृष्टः, तथेह तन्तुषु पटः, इह वीरणेषु कटः, इह द्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम्, इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषा इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते।

न चासौ संयोगः, सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वाद् अन्यतरकर्मादिनिमित्तासम्भवात्, विभागान्तत्वादर्शनात्, अधिकरणाधिकर्तव्ययोरेव भावादिति।

स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थन्तरं भाववल्लक्षणभेदात्। यथा भावस्य द्रव्यत्वादीनां स्वाधारेषु आत्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावः, तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थेष्विहेति प्रत्ययदर्शनात् तेभ्यः पदार्थान्तरत्वमिति। न च संयोगवन्नानात्वम्। भाववल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च। तस्माद् भाववत् सर्वत्रैकः समवाय इति।

ननु यद्येकः समवायः, द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिविशेषणैः सह सम्बन्धैकत्वात् पदार्थसङ्करप्रसङ्ग इति ?

न, आधाराधेयनियमात् । यद्यप्येकः समवायः सर्वत्र स्वतन्त्रः तथाप्याधाराधेयनियमोऽस्ति । कथम् ? द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वम्, गुणेष्वेव गुणत्वम्, कर्मस्वेव कर्मत्वमिति । एवमादि कस्मात् ? अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् । इहेति समवायनिमित्तस्य ज्ञानस्यान्वयदर्शनात् सर्वत्रैकः समवाय इति गम्यते । द्रव्यत्वादिनिमित्तानां व्यतिरेकदर्शनात् प्रतिनियमो ज्ञायते यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वे भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः ।तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयनियम इति ।

सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्वं भाववदकारणत्वात् । यथा प्रमाणतः कारणानुपलब्धेर्नित्यो भाव इत्युक्तम्, तथा समवायोऽपीति । न ह्यस्य किञ्चित् कारणं प्रमाणत उपलभ्यत इति ।

कया पुनर्वृत्त्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तते ? न संयोगः सम्भवति, तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । नापि समवायः, तस्यैकत्वात् । न चान्या वृत्तिरस्तीति?

न, तादात्म्यात् । यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति । एवमविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति, तस्मात् स्वात्मवृत्तिः । अत एवातीन्द्रियः, सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्, स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च । तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवाय इति ।।

।। इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायपदार्थः समाप्तः ।।

अयुतसिद्ध (= पृथक् न रहने वाले) आश्रित एवं आश्रयरूप पदार्थों का जो सम्बन्ध 'इस (आधार) में यह (आधेय=आश्रित) रहता है' - इस प्रकार की प्रतीति का कारण (होता है), वही 'समवाय' नामक सम्बन्ध (छठा पदार्थ) है । [यह

व्याख्या उद्देशप्रकरण में भी की जा चुकी है ।] (अर्थात् -) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष-इन सब में से जो (दो वस्तु यथासम्भव) परस्पर कार्यकारणभावापन्न हो अथवा (आत्मा और धर्म आदि के समान) कार्यकारणरूप न हों (= स्वतन्त्र ही हों; किन्तु अयुतसिद्ध (=पृथक्सिद्ध न) हों एवं आधार-आधेय रूप हों, उन दोनों में से एक (=आधेय) का दूसरे (=आधार) में 'यह यहाँ है' - इस प्रकार की प्रतीति जिससे होती हो वही 'समवाय' - सम्बन्ध है । (और साथ ही) नियतदेश में ही रहने वाले (=अव्यापक) एवं परस्पर भिन्न रूप में ज्ञात होने वाली दो वस्तुओं की स्वतन्त्रता जिस सम्बन्ध से समाप्त हो जाती है, वही सम्वन्ध 'समवाय' है ।

(प्र.) - (इस सम्बन्ध के अस्तित्व में) क्या प्रमाण है ? (उ.) - जिस प्रकार 'इस कुण्डी (= कटोरी) में दही है' - यह प्रतीति (दही और कटोरी में संयोग) सम्बन्ध के रहते ही होती है; उसी प्रकार 'इन तन्तुओं में पट है', 'इन वीरणों (= तृणविशेषों) में चटाई है', 'इस द्रव्य में गुण और कर्म हैं', 'यहाँ द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता जाति है', 'इस (घटादि) द्रव्य में द्रव्यत्व जाति है', 'इस (रूपादि) गुण में गुणत्व जाति है', 'इस (चलन) क्रिया में कर्मत्व जाति है', 'इन नित्य द्रव्यों में अन्त्य-विशेष पदार्थ हैं' - इत्यादि निश्चित प्रतीतियाँ सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं । इन (प्रतीतियों के समान अनुमान-प्रमाण से अयुतसिद्धों के आधार-आधेय आदि) का भी समवाय-सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

यह (= पूर्वोक्त अयुतसिद्ध अवयव-अवयवी आदि पदार्थों का सम्बन्ध) संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता; क्योंकि उक्त अवयव-अवयवी आदि सम्बन्धिपदार्थ पृथक् सिद्ध नहीं हैं । (जबकि संयोग-सम्बन्ध पृथक् सिद्ध पदार्थों का ही होता है ।) समवाय-सम्बन्ध की उत्पत्ति दो में से किसी एक की क्रिया से, दोनों की क्रिया से तथा संयोग से नहीं होती (जबकि संयोग-सम्बन्ध की उत्पत्ति उक्त तीनों में से किसी एक निमित्त से होती है) । विभाग से (इस समवाय-सम्बन्ध का) नाश नहीं देखा जाता (जबकि संयोग-सम्बन्ध का विभाग से नाश हो जाता है) । और

समवाय-सम्बन्ध आश्रय-आश्रित पदार्थों का ही होता है (जबकि संयोग-सम्बन्ध ऊपर उठी हुई दो अंगुलियों के संयोग के समान स्वतन्त्र पदार्थों का ही होता है) । (इस प्रकार अपृथक्सिद्ध अवयव-अवयवी आदि पदार्थों का समवाय-सम्बन्ध ही होता है; संयोग-सम्बन्ध नहीं ।)

सत्ता जाति के समान लक्षण भिन्न होने से वह (= समवाय) भी द्रव्यादि पाँचों पदार्थों से सर्वथा भिन्न (= स्वतन्त्र) पदार्थ है । जिस प्रकार सत्तारूप परसामान्य एवं द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप सामान्यविशेषों (= अपर-सामान्यों) का अपने-अपने आश्रय द्रव्यादि व्यक्तियों में 'सत् है, सत् है'; इसी प्रकार पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्य रूप आश्रयों में 'द्रव्य है, द्रव्य है'; रूप, रस आदि चौबीस गुणों में 'गुण है, गुण है' एवं उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में 'कर्म है, कर्म है' - ऐसी अपने-अपने अनुरूप जो प्रतीति होती है, उन प्रतीतियों के करने के कारण सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व सामान्य का अपने-अपने आधार रूप द्रव्य, गुण और कर्मों से तथा परस्पर में भी भेद है; उसी प्रकार समवाय नामक सम्बन्ध का भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष - इन पाँच पदार्थों में पूर्वोक्त 'इह तन्तुपु पटः' (= इन तन्तुओं में पट है) आदि प्रतीतियाँ दिखाई देने के कारण द्रव्यादि पाँचों पदार्थों से भेद सिद्ध होता है ।

किन्तु यह (= समवायसम्बन्ध) संयोगसम्बन्ध के समान अनेक नहीं हैं; अपितु सत्ता जाति के समान (समवायसम्बन्ध का भी) एक ही लक्षण है तथा इस (= समवायसम्बन्ध) में अवान्तरभेद का ज्ञापक कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता । इसलिए सत्ता जाति के समान (वैशेषिकों के मत में) समवाय - सम्बन्ध नामक पदार्थान्तर भी एक ही है ।

(शंका) - यदि (अपने सभी अनुयोगियों में रहने वाला) समवाय-सम्बन्ध एक ही है; तो द्रव्य, गुण एवं कर्म पदार्थों के द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्वादि रूप

विशेषणों के साथ (समवायरूप) सम्वन्ध के एक होने से द्रव्य, गुण इत्यादि पदार्थों का साङ्कर्यदोष आ जाएगा। (अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों में एक समवाय के मानने पर जो द्रव्यत्व जाति का पृथिवी इत्यादि नौ द्रव्यों में समवाय-सम्वन्ध है, वही रूपादि चौबीस गुणों में गुणत्व आदि का भी है; जिससे पृथिवी में द्रव्यत्व के सम्वन्ध के समान गुणपदार्थ में भी द्रव्यत्व हो जाएगा, एवं कर्म में भी द्रव्यत्व तथा गुणत्व हो जाऐंगे। इस प्रकार पदार्थों में परस्पर सङ्करदोष आ जाएगा।)

(समाधान) :- समवाय-सम्वन्ध को एक मान लेने पर भी पदार्थों का उक्त साङ्कर्य दोष) नहीं होगा; क्योंकि (एक ही समवाय सम्वन्ध में) कौन किसका आधार है और कौन किसका आधेय है, ये दोनों नियमित हैं। अर्थात् यद्यपि द्रव्यादि सभी अनुयोगियों में एक ही समवाय स्वतन्त्र रूप से है, (संयोग के समान विविधता नहीं है।) फिर भी आधार तथा आधेय का नियम होने से उक्त सांकर्य दोष नहीं हो सकता।

(प्र.) (सभी में समवाय के एक होने का नियम) कैसे है ?

(उ.) - क्योंकि नौ द्रव्यों में ही द्रव्यत्व जाति है, चौबीस गुणों में ही गुणत्व जाति है तथा पाँच कर्मों में ही कर्मत्व जाति है (इस प्रकार द्रव्य, गुण एवं कर्म पदार्थ-रूप आधारों में क्रमशः द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व जाति-रूप आधेयों की वर्तमानता का नियम है)।

(प्र.) - इस प्रकार का नियम किस हेतु से है अर्थात् द्रव्यों में द्रव्यत्व है - इत्यादि आश्रयों में आश्रितों का नियम कैसे जाना ?)

(उ.) - अन्वय और व्यतिरेक के दीखने से यह नियम सिद्ध होता है। (अर्थात्) द्रव्यत्वजाति के निमित्त से होने वाले ज्ञान का पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ही अन्वय (= सम्वन्ध) है, किन्तु रूप आदि चौबीस गुणों से द्रव्यत्व का व्यतिरेक

(= अभाव) है । इसी प्रकार 'यहाँ यह है' - इस प्रकार का समवाय-सम्वन्ध के निमित्त से होने वाले ज्ञान के सम्वन्ध देखे जाने से सम्पूर्ण स्थलों में एक ही समवाय है - ऐसा जाना जाता है । द्रव्यत्वादि निमित्तों का (गुण आदि में) अभाव देखे जाने से व्यवस्था का भेद भी ज्ञात होता है । जिस प्रकार कुण्ड और दधि दोनों में एक ही संयोग के रहते हुए भी आधार कुण्ड ही होता है, दधि नहीं एवं आधेय दधि ही होता है कुण्ड नहीं; उसी प्रकार द्रव्यत्वादि जातियों का भी समवाय-सम्वन्ध एक होने पर भी व्यक्त होने वाले तथा व्यक्त करने वाले के सामर्थ्य के भेद से सभी समवेत वस्तुओं का आधार-आधेय भाव नियमित होता है ।

[(प्र.) - समवाय-सम्वन्ध संयोग के समान अनित्य है या सत्ता जाति के समान नित्य है?]

(उ.) - सम्वन्धियों (= अनुयोगियों एवं प्रतियोगियों) के अनित्य होने पर भी संयोग के समान समवाय अनित्य नहीं है; क्योंकि सत्ता जाति के समान उसके भी कारण नहीं दीखते । (अर्थात्) जिस प्रकार किसी भी प्रमाण से कारणों की उपलब्धि न होने से सत्ता जाति नित्य मानी जाती है, उसी प्रकार समवाय को भी नित्य समझना चाहिए; क्योंकि इस समवाय की भी उत्पत्ति का कोई कारण, किसी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता । [जैसा कि वैशेषिक शास्त्र में बताया है - 'सदकारणवन्नित्यम्' - (वैशे. ४/१/१) अर्थात् भावरूप पदार्थ जिसका कोई (उपादानादि) कारण न हो, (वह पदार्थ) नित्य होता है । सत्ता जाति एवं समवाय की उत्पत्ति का भी कोई कारण नहीं है । ये अपने सम्बन्धियों के नष्ट हो जाने पर भी विनष्ट नहीं होते । इसलिए ये दोनों पदार्थ नित्य हैं ।]

(शंका) - किस सम्वन्ध से द्रव्यादि पदार्थों में समवाय रहता है ? अपने आश्रय के साथ उसका संयोग-सम्वन्ध तो हो नहीं सकता; क्योंकि संयोग-सम्वन्ध गुण है, अतः वह (संयोग) द्रव्य में ही रह सकता है । समवाय-सम्बन्ध से भी

समवाय नहीं रह सकता; क्योंकि समवाय एक है । (संयोग और समवाय को छोड़कर) अन्य (कोई तीसरा) सम्बन्ध है नहीं । (अतः समवाय है ही नहीं ।)

(समाधान) - (ऐसा) नहीं है; क्योंकि समावाय तादात्म्य (= स्वरूप) - सम्बन्ध से ही अपने सम्बन्धियों में रहता है । (अर्थात् समवाय स्वयं ही सम्बन्ध स्वरूप है ।) जैसे कि द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थों में सत्तारूप जाति के लिए ('सत्' 'सत्' - ऐसी अनुगम बुद्धि के कारण) दूसरे सत्ता सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती; इसी प्रकार विभागरहित (= एक ही स्वरूप के) सम्बन्धरूप समवाय का अन्य सम्बन्ध नहीं है । अतः समवाय अतीन्द्रिय है । अर्थात् जिस प्रकार सत्ता, द्रव्यत्व इत्यादि जातियों के प्रत्यक्ष पदार्थों में रहने से उनका (संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष से) इन्द्रियों से ग्रहण होता है; उस प्रकार का प्रत्यक्ष पदार्थों में भी कोई अलग से सम्बन्ध न होने से समवाय का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता । तथा जिस प्रकार संयोग का इन्द्रियों से ग्रहण होता है, उस प्रकार इन्द्रियों से समवाय का ग्रहण नहीं होता; क्योंकि उसके दोनों सम्बन्धियों की उपलब्धि पिण्डीभूतरूप (= समुदित रूप = ऐक्यरूप) में ही होती है (जबकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष के लिए उसके दोनों सम्बन्धियों का स्वतन्त्ररूप से प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, जो कि समवाय के सम्बन्धियों में नहीं होता । अतः समवाय अतीन्द्रिय है ।) इस कारण 'इह तन्तुषु पटः' (= इन तन्तुओं में वस्त्र है, मृत्तिका में घट है) - इत्यादि बुद्धि (=प्रतीति) से समवाय का अनुमान ही होता है ।

इस प्रकार आचार्य प्रशस्तदेव के (पदार्थधर्मसंग्रहरूप) प्रशस्तपाद भाष्य में छठे 'समवाय' - पदार्थ का वर्णन समाप्त हुआ ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

॥ समाप्तश्चायं सप्तमोऽध्यायः ॥

अथाष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग :- परत्व - अपरत्व की परीक्षा के अनन्तर अव क्रमप्राप्त बुद्धि की परीक्षा करते हैं -

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ।। १।। (३१०)

[द्रव्येषु](पृथिवी आदि) द्रव्यों में [ज्ञानम्] ज्ञान [व्याख्यातम्] कह दिया है ।

यहाँ बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि शब्द पर्यायवाचक हैं । यह ज्ञान प्रात्यक्षिक और नैमित्तिक (= लैंगिक, आनुमानिक) दो प्रकार का व्याख्यात हो चुका है । उनमें प्रात्यक्षिक - जैसे - 'महत्यनेकद्रव्यवत्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः' (४/१/६)

इस प्रात्यक्षिक ज्ञान के उदाहरण -

'रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी' (२/१/१) ।

'रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः' (२/१/२) ।

'तेजो रूपस्पर्शवत्' (२/१/३) ।

आनुमानिक ज्ञान -

'स्पर्शवान् वायुः' (२/१/४) । '(शब्दः) परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य' (२/१/२७) । 'अपरस्मिन् परं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि' (२/१/६) । 'इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम्' (२/२/१०)। 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य (आत्मनः) हेतुः' (३/१/२) । 'प्राणापाननिमेष०..... आत्मनो लिङ्गानि' (३/२/४)।'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्' (३/२/१) ।

इन द्रव्यों के लक्षण-प्रकरण में ही इनका ज्ञान व्याख्यात समझना चाहिए, जो कि द्रव्यों के अनुसार प्रात्यक्षिक अथवा लैंगिक होता है ।

विशेष - यद्यपि द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य - इन चारों पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, विशेष तथा समवाय का नहीं; तथापि गुण, कर्म और सामान्य का द्रव्य के अधीन होने से ''द्रव्यगुणकर्मसामान्येषु ज्ञानं व्याख्यातम्' के स्थान पर 'द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम्' कहा है ।। १ ।।

प्रसंगः- अब पृथिवी आदि द्रव्यों में से जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता, उनका कथन करते हैं -

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ।।२।। (३११)

[तत्र] उन (पृथिवी आदि नौ द्रव्यों) में से [आत्मा] आत्मा (= जीवात्मा, परमात्मा) [मनः] मन [च] और वायु, आकाश, काल, दिशा तथा परमाणु [अप्रत्यक्षे] प्रत्यक्ष नहीं होते ।

पृथिवी आदि द्रव्यों में से वायु, आकाश, काल, दिशा, जीवात्मा, परमात्मा, मन तथा परमाणु प्रत्यक्ष नहीं होते; क्योंकि इनमें रूप उद्भूत नहीं होता । तथा आकाश, काल, दिशा और परमात्मा - निरवयव, विभु (= परममहत्परिमाण) हैं । अर्थात् पृथिवी, जल, तेज का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

शंका - गत सूत्रों (३/२/१४,१७) में 'अहमस्मि' अथवा 'अहं जाने' इस प्रतीति के अनुसार प्रत्यक्ष कहा है, फिर आत्मा को यहाँ अप्रत्यक्ष क्यों कहा ?

समा. - (१) 'अहम्' की प्रतीति जब स्थूल कृश, लम्बा, ठिगना, काला, गोरा आदि भावनाओं के साथ होती है; तब उसमें देह की ही प्रतीति होती है, आत्मा की नहीं ।

(२) जिस प्रकार अपने शरीर में आत्मा की प्रतीति होती है , वैसे पर शरीर में नहीं होती और न कहीं पर घट, पट आदि के समान प्रत्यक्ष होता है। ऐसी स्थिति में आत्मा को लिंग (= पहचान, विशेष गुण) द्वारा ही जाना जा सकता है । जैसे (३/१/२,४) आदि ।

यहाँ सांख्य- शास्त्रोक्त योगियों के अबाह्य= आन्तरिक आत्मप्रत्यक्ष की चर्चा नहीं है ।। २ ।।

प्रसंग :- ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ।।३।। (३१२)

[ज्ञाननिर्देशे] (प्रात्यक्षिक और लैंगिक) ज्ञाननिर्देश के प्रकरण में [ज्ञाननिष्पत्तिविधिः] ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार [उक्तः] बता दिया गया है ।

ज्ञान-निर्देश के प्रकरण में प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति (= प्राप्ति) की विधि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' - (३/१/१८) में तथा आनुमानिक ज्ञान की उत्पत्ति (= प्राप्ति) की विधि लिंग (चिह्न) - दर्शन से (३/१/९-१४) में कही है । जैसे वायु - २/१/११,१२; आकाश - २/१/२०,२७; काल - २/२/१६; दिशा - २/२/१०; जीवात्मा ३/१/२, ३/२/४; मन - ३/२/१ से होती है । यह उन्हीं स्थलों में समझ लेना चाहिए ।।३।।

प्रसंग :- द्रव्यों के ज्ञान का प्रकार बताकर अब गुणों और कर्मों के ज्ञान का प्रकार बताते हैं -

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पतेर्द्रव्यं कारणम् ।।४।। (३१३)

[गुणकर्मसु] (इन्द्रियों से) गुणों और कर्मों के [सन्निकृष्टेषु] सम्बन्ध होने पर

[द्रव्यम्] द्रव्य [ज्ञाननिष्पत्तेः] (गुणों और कर्मों के) ज्ञान की उत्पत्ति का [कारणम्] कारण होता है ।

इन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध द्रव्य से होता है, द्रव्यों में गुण-कर्म रहते हैं । इस प्रकार इन्द्रियों का गुण और कर्म से सम्बन्ध होता है । जैसे - 'लाल घोड़ा चल रहा है'- इस उदाहरण में नेत्र का घोड़े से संयोग सम्बन्ध है । उस घोड़े में उसका रंग और चाल समवेत हैं । अर्थात् संयोग-सम्बन्ध से घोड़े का और संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध से घोड़े के रंग और गति का प्रत्यक्ष होता है । इसलिए गुण-कर्म - विषयक ज्ञान में इन्द्रियों के लिए द्रव्य कारण होता है ॥४॥

प्रसंग :- द्रव्य, गुण, कर्म का ज्ञान दिखाकर अब सामान्य और विशेष का ज्ञान बताते हैं -

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात् तत एव ज्ञानम् ॥५॥ (३१४)

[सामान्यविशेषेषु] सामान्य और विशेषों में [सामान्यविशेषाभावात्] सामान्य-विशेष के अभाव से [ततः] उस (सामान्य विशेष स्वरूप) से [एव] ही [ज्ञानम्] (सामान्य - विशेष-विषयक) ज्ञान होता है ।

सामान्य (= सत्ता जाति) में सामान्य नहीं रहता, तथा विशेष (= घट, पट आदि अन्त्यविशेष) में विशेष नहीं होते, क्योंकि सामान्य और अन्त्यविशेष सदा अपने स्वरूप से ही उपलब्ध (= ज्ञात) होते हैं ।

जिन व्यक्तियों (= वस्तुओं) में सामान्य -विशेष धर्म रहते हैं, उन व्यक्तियों (= वस्तुओं) का ज्ञान तो सामान्य - विशेष की अपेक्षा से होता है; परन्तु सामान्य विशेष का अपना ज्ञान सामान्य-विशेष के अपने स्वरूप से होता है; किसी अन्य धर्म से नहीं ॥५॥

प्रसंग :- अब सामान्य की अपेक्षा से द्रव्य - गुण-कर्म में ज्ञान बताते हैं -

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥ (३१५)

यहाँ गत सूत्र से 'ज्ञानम्' की अनुवृत्ति है।

[द्रव्यगुणकर्मसु] द्रव्य, गुण और कर्म के विषय में [सामान्यविशेपापेक्षम्] सामान्य - विशेष की अपेक्षा वाला (ज्ञान) होता है।

'यह द्रव्य है' - यह ज्ञान, द्रव्य को गुण-कर्म से अलग कराने वाला है। यह तभी हो सकता है, जब द्रव्य का कोई ऐसा धर्म ज्ञात हो जाए, जो गुणों वा कर्मों में न पाया जाए। किन्तु द्रव्यों में से सभी में पाया जाए। वही 'सामान्य-विशेष' धर्म द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' है। इसी धर्म की अपेक्षा से द्रव्य-ज्ञान होता है। इसी प्रकार 'गुणत्व'- इस सामान्य-विशेष धर्म की अपेक्षा से 'गुण'; और 'कर्मत्व' - इस सामान्य-विशेष धर्म की अपेक्षा से कर्म-ज्ञान होता है।

इसी प्रकार गौ, नीला, गमन इत्यादि जातिवाचक द्रव्य, गुण, कर्म में ज्ञान समझना चाहिए; क्योंकि द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्य और पृथिवी आदि विशेष; गुणों में 'गुणत्व' सामान्य और रूप आदि विशेष तथा कर्मों में 'कर्मत्व' सामान्य और उत्क्षेपण आदि विशेष होते हैं, जिनकी अपेक्षा से द्रव्य, गुण, कर्म का ज्ञान होता है।

प्रसंग :- अब सूत्रकार कार्यद्रव्य-विषयक ज्ञान में अन्य कारण भी बताते हैं -

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥ (३१६)

[द्रव्ये] (कार्य) द्रव्य में (ज्ञान) [द्रव्यगुणकर्मापेक्षम्] द्रव्य, गुण, कर्म की अपेक्षा वाला (भी) होता है।

'हाथी' जो द्रव्य है, उसके विषय में 'घण्टेवाला है' - यह ज्ञान घण्टे (द्रव्य) की अपेक्षा से, 'काला है'- यह गुण की अपेक्षा से, 'गतिमान् है' - यह कर्म की अपेक्षा से होता है।

इस प्रकार द्रव्य के विशिष्ट ज्ञान में विशेषणभूत द्रव्य, गुण, कर्म के ज्ञान की अपेक्षा रहती है ॥ ७ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार गुण-कर्म के ज्ञान के विषय में बताते हैं -

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥ (३१७)

यहाँ भी 'ज्ञान' की अनुवृत्ति है ।

[गुणकर्मसु] गुणों और कर्मों में [गुणकर्माभावात्] गुणों और कर्मों के न होने से (गुणकर्मविषयक ज्ञान) [गुणकर्मापेक्षम्] गुण-कर्म की अपेक्षा वाला [न] नहीं [विद्यते] होता ।

जैसे - द्रव्य में गुण, कर्म समवाय -सम्बन्ध से रहते हैं, वैसे गुण में गुण तथा कर्म और कर्म में गुण तथा कर्म नहीं रहते । जैसा कि आरम्भिक सूत्रों (१/१/ १६,१७) में कहा है । इसलिए गुण-विषयक ज्ञान में गुण एवं कर्म तथा कर्म-विषयक ज्ञान में गुण एवं कर्म विशेषणरूप में कभी अपेक्षित नहीं होते ॥८॥

प्रसंग :- अब विशेषण ज्ञान को विशिष्ट ज्ञान का कारण बताते हैं -

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥९॥ (३१८)

[समवायिनः] (श्वेतता से) समवाय-सम्बन्ध वाले (द्रव्य) की [श्वेत्यात्] श्वेतता के कारण से [च] और [श्वैत्यबुद्धेः] श्वेतता के ज्ञान (= बुद्धि) से [श्वेते] श्वेत- (-गुणयुक्त द्रव्य) में [बुद्धिः] (विशिष्ट) ज्ञान होता है, [ते] वे [एते] ये (विशेषण ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान) दोनों [कार्यकारणभूते] (आपस में) कारण-कार्य रूप हैं ।

यहाँ नपुंसकलिंग में द्विवचन है । 'ईदूदेद् ' (अष्टा. १/१/१) से प्रगृह्यसंज्ञा

होने से अयादेश (सन्धिकार्य) नहीं हुआ।

विशेषण के ज्ञान के विना विशिष्ट (= विशेषण से युक्त) का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे -दण्ड के ज्ञान के विना दण्डी (= दण्ड वाले) का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार 'श्वेत:पटः', श्वेतः शंखः' (= वस्त्र श्वेत है, शंख श्वेत है) आदि में भी पहले समवाय सम्बन्ध वाले श्वेतत्व गुण (-विशेषण) का ज्ञान होता है, फिर श्वेतविशिष्ट (= श्वेतता युक्त) का ज्ञान होता है। और जैसे वहाँ दण्डरूप विशेषण का ज्ञान कारण एवं दण्डी रूप विशिष्ट का ज्ञान कार्य है; वैसे ही यहाँ श्वेतता विशेषण का ज्ञान कारण एवं श्वेतगुण से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान कार्य है ॥९॥

प्रसंग :- क्या विशेषण ज्ञान व विशिष्ट ज्ञान के समान क्रम से होने वाले घट-ज्ञान व पट-ज्ञान का भी परस्पर कारण-कार्यभाव होता है ?

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥१०॥ (३१९)

यहाँ गतसूत्र से 'बुद्धि' की अनुवृत्ति है।

[द्रव्येषु] अनेक द्रव्यों में (क्रमिक ज्ञान) [अनितरेतरकारणाः] एक दूसरे के कारण नहीं होते।

जैसे विशेषण ज्ञान पूर्व होने से कारण तथा विशिष्ट ज्ञान उसका कार्य होता है, वैसे घट-ज्ञान पहले होने पर भी पश्चात् होने वाले पट-ज्ञान का कारण नहीं होता ॥१०॥

प्रसंग :- अव सूत्रकार घट, पट आदि क्रमिक ज्ञानों में कार्य-कारणभाव न होने का हेतु देते हैं -

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ।।११।। (३२०)

[घटपटादिबुद्धीनाम्] घटज्ञान, पटज्ञान आदि का [क्रमः] (पूर्वापरीभावरूप) क्रम [हेतुफलभावात्] (परस्पर) कारण-कार्य भाव से [न] नहीं (होता, अपितु) [कारणायौगपद्यात्] कारणों के युगपत् (=एक साथ) न होने से [च] और [कारणक्रमात्] कारणों के क्रमपूर्वक होने से होता है ।

आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध, ज्ञान का कारण है । अतः घट-ज्ञान के पीछे जो पट-ज्ञान होता है; वह इसलिए नहीं, कि घटज्ञान पटज्ञान का कारण है । यदि ऐसा होता, तो घटज्ञान के बिना कभी पटज्ञान न होता; परन्तु होता है । यह क्रमिक ज्ञान इसलिए हुआ है, कि नेत्रादि का घट, पट आदि के साथ एक साथ संयोग नहीं हुआ, अपितु क्रम से हुआ है । अर्थात् नेत्र का संयोग पहले घट से हुआ, फिर पट से हुआ है ।

हाँ ! जहाँ किसी द्रव्य की विशेषण रूप से प्रतीति होती है, वहाँ वह ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान का कारण होता है । जैसे - दण्ड-ज्ञान, दण्डी-ज्ञान का कारण है ।।।११।।

।। इत्यष्टमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।।

अथाष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रसंग :- प्रात्यक्षिक और लैंगिक (= आनुमानिक) ज्ञान बताकर, अब बुद्धि की अपेक्षावाले सांकेतिक ज्ञान को बताते हैं -

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ।।१।। (३२१)

[अयम्] यह [एषः] (कुछ दूर स्थित) यह [त्वया] तुमने [कृतम्] किया

[एनम्] इसको [भोजय] खिलाओ [इति] ऐसा {सांकेतिक (=प्रयोगजन्य) ज्ञान} [बुद्ध्यपेक्षम्] बुद्धि (= पूर्वानुभूत ज्ञान) की अपेक्षा वाला होता है।

'यह देवदत्त है, यह यज्ञदत्त है, यह महाविद्वान् है, तुमने कार्य किया, इसको खिलाओ'- इत्यादि प्रयोगों में 'यह, वह, इसको, उसको'- इत्यादि सांकेतिक ज्ञान बुद्धि (= पूर्वानुभूत ज्ञान) की अपेक्षा से होता है जो कि प्रयोक्ता (= निर्देशकर्त्ता) की बुद्धि में स्थित रहता है । प्रात्यक्षिक वा लैंगिक नहीं होता ।

'एनम्' यह अन्वादेश है, जो किसी पदार्थ के विषय में पहले कुछ ज्ञात होने पर प्रयुक्त होता है ॥१॥

प्रसंग :- यह सांकेतिक ज्ञान, बुद्धि (पूर्वानुभूत ज्ञान) की अपेक्षा से क्यों माना जाता है ? इस शंका का समाधान करते हैं -

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥२॥ (३२२)

[दृष्टेषु] देखे हुओं में [भावात्] होने से [अदृष्टेषु] न देखे हुओं में [अभावात्] न होने से {सांकेतिक ज्ञान बुद्धि (=पूर्वज्ञान) की अपेक्षा वाला मानना चाहिए} ।

शब्द और शब्द से संकेतित अर्थ का पहले से ज्ञान होने पर उनके प्रयोग से ज्ञान होता है । यदि शब्द और अर्थ का पहले से ज्ञान न हो, तो अर्थ का ज्ञान न प्रयोक्ता को होगा, न श्रोता को । इस अन्वय - व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है, कि शब्द के संकेत (= प्रयोग) से जो ज्ञान होता है, वह शब्द और अर्थ के पूर्व ज्ञान की अपेक्षा से होता है ॥२॥

प्रसंगः- इस शास्त्र में 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य बताते हैं -

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥ (३२३)

[अर्थः] अर्थ [इति] यह (शब्द) [द्रव्यगुणकर्मसु] द्रव्य, गुण, कर्म में (प्रयुक्त होता है) ।

वैशेषिक शास्त्र में 'अर्थ' शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का ग्रहण होता है । इन्द्रियार्थ सम्बन्ध (३/१/१८;३/२/१) में 'अर्थ' शब्द से इन तीनों का ही ग्रहण समझना चाहिए ॥३॥

प्रसंग :- अब शरीरादि कार्य द्रव्यों को पाञ्चभौतिक बताते हैं -

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वम् ॥४॥ (३२४)

"...............प्रतिषिद्धम्"- पाठा. ।

[द्रव्येषु] (शरीर आदि कार्य) द्रव्यों में [पञ्चात्मकत्वम्] पञ्चतत्त्वामक होना कहा है ।

गत (४/२/४) सूत्र में शरीरादि कार्य द्रव्यों को पञ्चात्मक कह दिया है । क्योंकि शरीरादि कार्य द्रव्यों में पांचों भूतों के अंश तथा कार्य मिलते हैं । शरीरादि के पाँचों भूत समवायिकारण वा उपादानकारण होते हैं ।

"............... प्रतिषिद्धम्" - इस पाठान्तर के अनुसार अर्थ होगा -

[द्रव्येषु] (पृथिवी आदि कार्य) द्रव्यों में [पञ्चात्मकत्वम्] पञ्चात्मक होना [प्रतिषिद्धम्] निषिद्ध है ।

पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों का पाँच भूतों से उत्पन्न होना गत (४/२/२,३) सूत्रों में निषिद्ध है । कोई पार्थिव पिण्ड, पार्थिव परमाणुओं से एवं जल वा बर्फ का पिण्ड, जलीय परमाणुओं से बनते हैं । ये पांचों भूतों से मिलकर नहीं बनते । घट मिट्टी से ही बनता है ।

परन्तु इसमें शरीर, वनस्पति आदि की पञ्चात्मकता का निषेध नहीं होता । अर्थात् घट, बर्फ आदि एक एक भूत से बनते हैं और शरीर आदि पाँचों भूतों से ।।४।।

प्रसंग :- अब पहले 'घ्राण' इन्द्रिय को पृथिवी का कार्य बताते हैं -

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ।।५।। (३२५)

[गन्धज्ञाने] गन्धज्ञान के साधन (घ्राण-इन्द्रिय) (की उत्पत्ति) में [पृथिवी] पृथिवी [प्रकृतिः] समवायिकारण है, [भूयस्त्वात्] (जल आदि की अपेक्षा) अधिकता होने से [च] और [गन्धवत्त्वात्] गन्धवती होने से ।

सूत्र के 'गन्धज्ञान' पद का अर्थ है - घ्राण इन्द्रिय 'गन्धो ज्ञायतेऽनेन, इति 'गन्धज्ञानं' घ्राणम् ।' अर्थात् जिससे गन्ध का ज्ञान हो, वह गन्धज्ञान =गन्ध का ग्राहक इन्द्रिय घ्राण ।

यह इन्द्रिय साधारण रूप से पाञ्चभौतिक होने पर भी पृथिवी भाग की अधिकता के कारण 'पार्थिव' है । अर्थात् घ्राण-इन्द्रिय पृथिवी का कार्य है । यही दिखाने के लिए सूत्र में 'भूयस्त्वात्' पढ़ा है ।

जिस इन्द्रिय का अधिकता से जो प्रकृति-द्रव्य (= समवायिकारण) है, वह इन्द्रिय उसके विशेष गुण की ग्राहक होती है । यह दिखाने के लिए सूत्र में 'गन्धवत्वात्' पढ़ा है । और पृथिवी गन्ध-ग्राहकता में किसी को सन्देह भी नहीं है ।।५।।

प्रसंग :- अब अतिदेश द्वारा रसना आदि इन्द्रियों को जल आदि भूतों का कार्य बताते हैं -

तथाऽऽपस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेऽविशेषात् ॥६॥ (३२६)

स्पर्शाविशेषात्.... पाठा० ।

यहाँ गतसूत्र से 'प्रकृति' की अनुवृत्ति है ।

[तथा] उसी प्रकार [अविशेषात्] (गन्धग्रहण की) समानता होने से [रसरूपस्पर्शज्ञाने] रस, रूप और स्पर्श का ज्ञान कराने वाली (रसना, चक्षु और त्वचा इन्द्रियों की उत्पत्ति) में [आपः] जल [तेजः] तेज (= अग्नि) [च] और [वायुः] वायु (प्रकृति = समवायिकारण) हैं ।

जिस प्रकार घ्राण-इन्द्रिय की उत्पत्ति में समवायिकारण पृथिवी है, वैसे ही रसना आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति में जल आदि समवायिकारण (= प्रकृति) हैं । क्योंकि यहाँ भी (रसनादि) एक-एक इतर की अपेक्षा अधिकता तथा रस आदि गुण वाले हैं । अर्थात् रसना इन्द्रिय की प्रकृति 'जल', चक्षु-इन्द्रिय की 'तेज' तथा त्वक्-इन्द्रिय की 'वायु' है ।

विशेष १. यहाँ श्रोत्र-इन्द्रिय की प्रकृति आकाश इस कारण नहीं बताई, कि उक्त इन्द्रिय साक्षात् आकाश रूप ही मानी जाती है । केवल कर्णशष्कुली-रूप उपाधि के भेद से भिन्न कहा जाता है ।

२. यहाँ यह स्पष्ट है, कि एक-एक भूत के नियमित विषय वाली एक-एक इन्द्रिय है । इस प्रकार शरीर पञ्चतत्त्वों से बना हुआ सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

इत्यष्टमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्

॥ अष्टमोऽध्यायश्च सम्पूर्ण : ॥

अथ नवमाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग :- अब सूत्रकार अभावों का प्रत्यक्ष बताना चाहते हुए, अभावों के प्रथम भेद प्रागभाव का स्वरूप बताते हैं -

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥१॥ (३२७)

[क्रियागुणव्यपदेशाभावात्] क्रिया और गुण के व्यवहार का अभाव होने से [प्राक्] (कार्य की उत्पत्ति से) पूर्व [असत्] (कार्य का) अभाव होता है ।

प्रत्येक कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारणों में कारणरूप से विद्यमान होने पर भी कार्यरूप में असत् (अविद्यमान) होता है; क्योंकि कार्य दशा में जिन-जिन क्रियाओं व गुणों का व्यपदेश (=व्यवहार, कथन) होता है; कारण दशा में उन सव का अभाव रहता है । वस्त्र के समान धागों से न शरीर ढका जाता है, न शीतनिवारण होता है, न लम्बाई-चौड़ाई रूप परिणाम का निश्चित व्यवहार होता है । मिट्टी के कणों से घड़े के समान पानी नहीं भरा जा सकता न उनमें सुन्दर रूप वा वर्तुलाकार आदि परिमाण होता है । उत्पत्ति से पूर्व कार्य के ऐसे अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं ।

(शंका) :- सांख्य सत्कार्यवाद मानता है और वैशेषिक असत्कार्यवाद; क्या यह दोनों शास्त्रों का परस्पर विरोध नहीं ?

(समा०):- नहीं, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप से कार्य को 'सत्' (विद्यमान्) कथन का नाम 'सत्कार्यवाद' है तथा उत्पत्ति से पूर्व कार्यरूप से कार्य को असत् कहने का नाम 'असत्कार्यवाद' है ।

इन दोनों वादों में शाब्दिक भिन्नता होने पर भी उनके अर्थ में भिन्नता नहीं है । कारण में कार्य का सर्वथा अभाव नहीं होता, कारणरूप में तो वह होता ही है । अन्यथा अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो कि अभीष्ट नहीं ॥ १॥

प्रसंग :- अव सूत्रकार 'प्रध्वंसाभाव' रूप द्वितीय अभाव का वर्णन करते हैं -

सदसत् ॥२॥ (३२८)

[सत्] विद्यमान (घट आदि) कार्य (जब) [असत्]अविद्यमान हो जाता है, (वह 'प्रध्वंसाभाव' कहाता है) ।

जब उत्पन्न हुआ घट आदि कार्य किसी कारण से नष्ट हो जाता है (= टूट जाता है), फिर उसमें क्रिया-गुण का व्यवहार नहीं होता, अर्थात् उस टूटे-फूटे घट, पट आदि से जलाहरण, परिधान, आदि व्यवहार नहीं होते । विद्यमान वस्तु के ऐसे अभाव को 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं ।

जिस प्रकार अनादि 'प्रागभाव' वस्तु के उत्पन्न हो जाने पर नष्ट हो जाता है, उस प्रकार 'प्रध्वंसाभाव' कभी नष्ट नहीं होता । क्योंकि जो वस्तु अपने व्यक्तिरूप से नष्ट हो गई, उसका वह व्यक्तिरूप फिर कभी प्रकाश में नहीं आता, जो आएगा, वह भिन्न होगा ॥ २ ॥

प्रसंग :- घट आदि का अभाव, घट आदि की एक अवस्था विशेष ही प्रतीत होती है, अतः उसे अलग पदार्थ नहीं मानना चाहिए । इस शंका का समाधान करते हैं -

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥३॥ (३२९)

[असतः] असत् से [क्रियागुणव्यपदेशाभावात्] क्रिया और गुण का व्यवहार न होने से [अर्थान्तरम्] (असत्, सत् से) भिन्न पदार्थ है ।

असत् और सत् एक नहीं हो सकते; क्योंकि 'असत्' कार्य में कोई क्रिया वा गुण नहीं देखा, माना जाता, जब कि 'सत्' कार्य में क्रिया एवं गुण देखे वा माने जाते हैं । अतः असत् (= अभाव) सत (=भाव) से भिन्न पदार्थ है । अभाव को भाव की अवस्था-विशेष कहना निराधार है ॥ ३ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार 'अन्योऽन्याभाव' नामक तीसरे अभाव को बताते हैं -

सच्चासत् ॥ ४ ॥ (३३०)

[सत्] सत् (= विद्यमान घटादि) [च] भी [असत्] (पट आदि रूप से) असत् होता है, (अतः अन्योऽन्याभाव भी सिद्ध होता है) ।

जैसे - 'अगौरश्वः', 'अनश्वो गौः' 'अपटो घटः' 'अघटःपटः' - इत्यादि उदाहरणों में अपने-अपने स्वरूप में रहते हुए भी गौ में अश्व का और अश्व में गौ का तथा घट में पट का और पट में घट का अभाव है, अर्थात् अपने स्वरूप में सत् प्रतीत होते हुए भी वस्त्वन्तर रूप में असत् प्रतीत होते हैं । इस प्रतीतिसिद्ध अभाव का नाम ही ''अन्योऽन्याभाव' है ॥ ४ ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार चौथा 'अत्यन्तभाव' बताते हैं -

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥५॥ (३३१)

[च] और [यत्] जो [अतः] इससे (= पूर्वोक्त तीनों प्रकार के अभावों से) [अन्यत्] भिन्न (= विलक्षण) [असत्] अभाव है, [तत्] वह (चौथा) [असत्] अभाव है, (जो 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है) ।

जो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योऽन्याभाव से भिन्न (= विलक्षण) है, वह चौथा 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है । जैसे - शशश्रृंग (= खरगोश के सींग), खपुष्प (= आकाश के फूल), बन्ध्यापुत्र (= बन्ध्या का पुत्र), सिकतातैलम् (= रेत का तेल) आदि । यद्यपि सींग आदि अन्यत्र मिलते हैं, किन्तु खरगोश आदि से इनका कभी सम्बन्ध नहीं होता । अतः इस अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं ॥ ५ ॥

प्रसंग :- चारों अभावों का निरूपण (वर्णन) करके अब 'प्रध्वंसाभाव' के प्रत्यक्ष का वर्णन करते हैं -

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥ (३३२)

[असत्] (अब) नहीं है [इति] ऐसा (प्रत्यक्ष) [भूतप्रत्यक्षाभावात्] भूत (= उत्पन्न होकर नष्ट हुए घटादि) के प्रत्यक्ष न होने से (और) [भूतस्मृतेः] भूत की स्मृति से [विरोधिप्रत्यक्षवत्] विरोधि (भाव) के प्रत्यक्ष के समान होता है ।

जिस वस्तु का अभाव होता है, वह वस्तु, उस अभाव का प्रतियोगी वा विरोधी कहलाती है । जैसे - घटाभाव का प्रतियोगी वा विरोधी घट है । जव घट विद्यमान है, तो 'यह घड़ा है' - ऐसा प्रत्यक्ष होता है । और जब घड़ा असत् हो गया है, तो 'अब यहाँ घड़ा नहीं है' ऐसा उसके अभाव का प्रत्यक्ष भी ठीक वैसे ही होता है, जैसे - उसके, विरोधी (घट) का होता था । इस प्रध्वंस में प्रत्यक्ष का कारण यह है, कि भूत (= उत्पन्न होकर नष्ट हुए) घट का अब प्रत्यक्ष नहीं है और उसकी स्मृति बनी हुई है, कि था । यदि वह होता, तो प्रत्यक्ष होता । ऐसे ज्ञान की सहायता से घट के अभाव का वैसा ही प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट का ॥ ६ ॥।

प्रसंग :- अब सूत्रकार प्रागभाव के प्रत्यक्ष विषय में बताते हैं -

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥७॥ (३३३)

[तथा] (जैसे प्रध्वंसाभाव का प्रत्यक्ष होता है) वैसे [अभावे] प्रागभाव के विषय में (प्रत्यक्ष होता है) [भावप्रत्यक्षत्वात्] कारणसामग्री के प्रत्यक्ष होने से [च] और (अन्य निमित्तों से) ।

प्रध्वंसाभाव सादि अनन्त है, परन्तु प्रागभाव अनादि सान्त है। अतः प्रध्वंसाभाव के समान प्रागभाव में विरोधी (= प्रतियोगी = भाव, घट आदि वस्तु) का प्रत्यक्ष होना तो सम्भव ही नहीं । अतः सूत्र में विद्यमान 'भावप्रत्यक्षत्वात्' पद के 'भाव'

शब्द का अर्थ होगा - 'भवति अस्मादिति भावः' (= जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह भाव है; अपादान में घञ्) अर्थात् कारणसामग्री ।

जब उपादान सामग्री प्रत्यक्ष होती है, तब प्रागभाव का प्रत्यक्ष होता है । यथा - जब चाक पर चढ़ी हुई मिट्टी देख ली, तो घड़े का प्रागभाव (-अनागत घट) प्रत्यक्ष हो जाता है, कि अभी घड़ा नहीं है, अब होगा ।

इसी प्रकार तने हुए तन्तुओं को देखकर वस्त्र के अभाव का; पटेरे (= वीरण) को देखकर कट (= चटाई) के अभाव का प्रत्यक्ष होता है ।

इसी प्रकार अन्य दण्ड, चक्र, शिल्पी आदि निमित्तों को देखकर भी कार्यवस्तुओं के प्रागभाव का प्रत्यक्ष समझना चाहिए ।। ७ ।।

प्रसंग - अब सूत्रकार अतिदेश द्वारा 'अन्योऽन्याभाव' की प्रत्यक्षता के विषय में बताते हैं -

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ।।८ ।। (३३४)

[एतेन] इससे [अघटः] (पट आदि) घट नहीं है, [अगौः] (अश्व आदि) गाय नहीं है [च] और [अधर्मः] (झूठ, चोरी आदि) धर्म नहीं है , [व्याख्यातः] (यह अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष) व्याख्यात (समझना चाहिए) ।

प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव के प्रत्यक्ष के व्याख्यान से'अन्योऽन्याभाव' का प्रत्यक्ष समझ लेना चाहिए । जैसे - 'वस्त्र घड़ा नहीं है' में जब वस्त्र का प्रत्यक्ष है, तो उससे भिन्न (= विलक्षण) घट आदि के अभाव का प्रत्यक्ष स्वतः हो जाता है । क्योंकि जो पदार्थ परस्पर (=भिन्न = विलक्षण) हैं, उनमें से एक का प्रत्यक्ष हो जाने पर जो दूसरे (=भिन्न =विलक्षण) के अभाव का ज्ञान होता है, वही 'अन्योऽन्याभाव' का प्रत्यक्षज्ञान है ।। ८ ।।

प्रसंग :- अब अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष के विषय में बताते हैं -

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ।।९।। (३३५)

[अभूतम्] नहीं हुआ [न] नहीं [अस्ति] है [इति] यह [अनर्थान्तरम्] (अत्यन्ताभावरूप) एक ही अर्थ है ।

सूत्र के 'अभूत' 'नास्ति' पदों को 'न भविष्यति' का उपलक्षण समझना चाहिए । अर्थात् जो न कभी पहले था, न अब है, न उसके कभी आगे भविष्य में होने की सम्भावना है । किसी वस्तु का जो अभाव इस प्रकार द्योतित होता है, उसे अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष समझना चाहिए । क्योंकि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव त्रैकालिक नहीं होते ।

'प्रागभाव' कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् नहीं रहता; 'प्रध्वंसाभाव' कार्य के नष्ट होने से पहले नहीं होता; 'और अन्योऽन्याभाव' आपेक्षिक है, विवक्षा पर अवलम्बित रहता है; कभी होता है, कभी नहीं । अतः 'अभूतम्-नास्ति-न भविष्यति' का व्यवहार 'अत्यन्ताभाव' में ही समझना चाहिए । इन पदों से किन्हीं भिन्न अर्थों (= अभावों) का बोध नहीं होता । जैसे - मनुष्य, खरगोश अथवा गधे के सिर पर कभी सींग न थे, न हैं, न होंगे ।। ९ ।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार पाँचवे 'संसर्गाभाव' का वर्णन करते हैं -

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिवेधः ।।१० ।। (३३६)

[गेहे] घर में [घटः] घड़ा [न] नहीं [अस्ति] है [इति] यह [सतः] (अन्यत्र) विद्यमान [घटस्य] घड़े का [गेहसंसर्गप्रतिषेधः] घर के साथ संसर्ग का प्रतिषेध है (यह संसर्गाभाव कहाता है) ।

'घर में घड़ा नहीं है' - इस वाक्य से जो घट का अभाव जाना जाता है, उसे 'संसर्गाभाव' अथवा 'सामयिकाभाव' कहते हैं । कुछ टीकाकारों ने इस अभाव को अत्यन्ताभाव की एक स्थिति-विशेष माना है । किन्तु यह उचित नहीं है । यह अभाव अत्यन्ताभाव से विलक्षण (= भिन्न) है; क्योंकि अत्यन्ताभाव किसी वस्तु का अन्य के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध का अभाव बताता है; जब कि 'संसर्गाभाव' सामयिक है । यह सम्भव है, कि घर में घड़ा कालान्तर में आ जाए, अथवा घड़ा पहले घर में रहा हो । अर्थात् 'संसर्गाभाव' तात्कालिक है और 'अत्यन्ताभाव' सार्वकालिक (= त्रैकालिक) है ॥१०॥

प्रसंग :- इन्द्रियों से होने वाले बाह्यप्रत्यक्ष को कहकर अब आन्तरिक प्रत्यक्ष की परीक्षा करते हैं -

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥११॥ (३३७)

[आत्मनि] आत्मा में [आत्मनसोः] आत्मा और मन के [संयोगविशेषात्] संयोगविशेष से [आत्मप्रत्यक्षम्] आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

आत्मा और मन का साधारण संयोग तो सदा बना रहता है, किन्तु यहाँ समाधि-जन्य सामर्थ्य सहित आत्म-मन के संयोग का नाम 'संयोग-विशेष' है ।

जब योगी मन (=चित्त) को बाह्य विषयों से हटाकर अपने आत्मा में लगाता है, तब योगी के उस आत्मा और मन के संयोग-विशेष से आत्मा (=स्वरूप) का तथा परमात्मा का प्रत्यक्ष (=साक्षात्कार) होता है ।

परमात्मा के प्रत्यक्ष होने की बात श्रुतियों में भी कही है -

'यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षम्' (अथर्व ९/६/१) ।
'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' (तै. उ. १/१/१) - इत्यादि ॥ ११ ॥

प्रसंग :- क्या योगी को केवल आत्मा का ही प्रत्यक्ष होता है ? अथवा अन्य सूक्ष्म पदार्थों का भी । इस शंका का समाधान करते हैं -

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥१२॥ (३३८)

यहाँ 'आत्ममनसोः संयोगविशेषात्' की गतसूत्र से अनुवृत्ति है ।

[तथा] उसी प्रकार (आत्मा और मन के संयोगविशेष से) [द्रव्यान्तरेषु] अन्य द्रव्यों (= परमाणु, आकाश आदि सूक्ष्म द्रव्यों) में [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

जैसे वाह्यविषयों से हटाकर आत्मा में मन को लगाने से योगी को आत्मा (= स्वरूप) का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही प्रकृति-पर्यन्त अन्य सूक्ष्म द्रव्यों में मन (= चित्त) लगाने से उनका भी प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् योगी जिस द्रव्य का अनुसंधान (=संयम =धारण-ध्यान-समाधि) करता है, उसको उस द्रव्य का 'हस्तामलकवत्' प्रत्यक्ष हो जाता है ।

यही आशय अन्य शास्त्रों में भी कहा है -

'लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः' (सां.१/५६(९१) ।

'परमाणुपरमहत्त्वान्तोऽस्य वशीकरः' - योग (१/४०) ॥१२॥

प्रसंग :- अव योगियों के दो भेद बताते हुए, दोनों को आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष होना वताते हैं -

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषाञ्च ॥१३॥ (३३९)

यहाँ गतसूत्र से 'प्रत्यक्षम्' की अनुवृत्ति है ।

[असमाहितान्तःकरणाः] जिनका अन्तःकरण निरन्तर समाधि में स्थित नहीं रहता (किन्तु प्रयत्न करने पर होता है) [च] और [उपसंहृतसमाधयः] जिन्होंने

समाधिदशा को पूर्णरूप से प्राप्त कर लिया है, [तेषाम्] उनको (आत्मा आदि सब सूक्ष्म द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है) ।

योगी दो प्रकार के होते हैं - युञ्जान और युक्त । जो मन को एकाग्र करके समाधि लगा सकते हैं, उन्हें 'युञ्जान' योगी कहते हैं । वे समाधि में जब अपने मन को आत्मा में लगाते हैं, तब उनको आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, और जब अन्य द्रव्य में लगाते है, तब उस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है । ऐसे योगियों को सूत्र में 'असमाहितान्तःकरण' कहा है; जिसमें समाहित शब्द समाधियुक्त का पर्यायशब्द है । गत सूत्र में इन्हीं योगियों का प्रत्यक्ष कहा है ।

दूसरे 'युक्त' योगी कहलाते हैं, जिन्होंने पूर्णरूप से समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लिया है । उनको निरन्तर आत्मा का प्रत्यक्ष रहता है । अतः उनको आत्मप्रत्यक्ष के लिए समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इसी प्रकार दूसरे द्रव्यों के प्रत्यक्ष के लिए भी समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती; जब जिसमें मन को लगाएँ, उसी का प्रत्यक्ष कर लेते हैं ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए, कि आत्मा आदि का प्रत्यक्ष तो दोनों का होता है, किन्तु भेद यह है,कि युञ्जान योगियों को तो समाधि लगाने पर प्रत्यक्ष होता है और युक्त योगियों को समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं रहती । खाते-पीते, चलते - फिरते हुए भी वह समाहित ही रहता है ।

यहाँ भौतिक तत्त्वों का अनुसन्धान करके विविध निर्माण करने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों को 'युञ्जान' योगियों की कोटि में समझना चाहिए ॥१३॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार यह बताते हैं, कि योगी को सूक्ष्म द्रव्यों के प्रत्यक्ष के साथ ही उन द्रव्यों में समवेत कर्म और गुणों का प्रत्यक्ष भी हो जाता है -

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ।।१४।। (३४०)

यहाँ भी 'प्रत्यक्षम्' की अनुवृत्ति है ।

[तत्समवायात्] उन (= द्रव्यों) में समवेत होने से [कर्मगुणेषु] कर्मों और गुणों में (युक्त, युञ्जान दोनों योगियों को प्रत्यक्ष होता है) ।

योगी योगज सामर्थ्य से जिन द्रव्यों का प्रत्यक्ष कर लेता है; उन द्रव्यों में समवाय - सम्बन्ध से रहने वाले जो कर्म तथा गुण हैं, उनको भी प्रत्यक्ष कर लेता है ।।१४।।

प्रसंगः- अब सूत्रकार आत्मसाक्षात्कार हो जाने से आत्मगुणों का साक्षात्कार होना बताते हैं -

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ।।१५।। (३४१)

यहाँ भी 'प्रत्यक्षम्' की अनुवृत्ति है ।

[आत्मसमवायात्] आत्मा में समवेत होने से [आत्मगुणेषु](आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाने पर) आत्मा के गुणों में (प्रत्यक्ष हो जाता है) ।

जिन योगियों को आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है, उनको आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले आत्मा के ज्ञान आदि गुणों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है ।। १५ ।।

।। इति नवामाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।।

अथ नवामाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्

प्रसंग :- पिछले आह्निक में अभाव पदार्थ के लौकिक प्रत्यक्ष तथा योगज धर्म द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष का वर्णन करके अव लैंगिक (=आनुमानिक) ज्ञान की परीक्षा करते हैं :-

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥१॥ (३४२)

[अस्य] इस (=साध्य =लिंगी =अनुमेय) का [इदम्] यह [कार्यम्] कार्य है, [कारणम्] कारण है, [संयोगि] संयोगी (=संयोग वाला) है, [विरोधि] विरोधी (=विरोध वाला) है, [समवायि] समवायी (=समवाय वाला) है [च] और (=एकार्थसमवायी है) [इति] ऐसा (ज्ञान) [लैङ्गिकम्] लिंग से होने वाला (कहा जाता है) ।

सूत्र के 'अस्य' पद से 'साध्य' का निर्देश है और 'इदम्' सर्वनाम 'लिंग' का वोधक है ।

इस 'अस्येदम्' अंश का प्रत्येक पद के साथ सम्वन्ध है । जैसे - इस साध्य का यह कार्यलिंग है, इस साध्य का यह कारणलिंग है - इत्यादि ।

जिसको सिद्ध किया जाता है, वह लिंगी' (= साध्य = अनुमेय); तथा जिससे सिद्ध किया जाता है, वह 'लिंग' (=हेतु =साधन) कहलाता है । और लिंग के साक्षात्कार से जो लिंगी का ज्ञान होता है, उसे 'लैंगिक' ज्ञान कहते हैं । इसमें कार्य से कारण का, कारण से कार्य का, संयोगी से संयोगी का, विरोधी से विरोधी का, समवायी से समवायी का और एकार्थसमवायी से एकार्थसमवायी का ज्ञान होता है ।

यह लैंगिक ज्ञान, व्याप्ति-ज्ञान से अर्थात् लिंग -लिंगी के परस्पर अव्यभिचारी सम्बन्ध के ज्ञान से हो सकता है। इस अव्यभिचारी सम्बन्ध (=नियमपूर्वक साथ रहने वाली दो वस्तुओं में) से जब एक दीखती है दूसरी नहीं, तब दीखने वाली वस्तु (=लिंग) से न दीखने वाली वस्तु (=लिंगी) का ज्ञान हो जाता है। यही लैंगिक-ज्ञान है। जैसे -

उदाहरण :- १. **कार्य से कारण का अनुमान :-** जैसे - नदी की बाढ़, वेग की तीव्रता, मैलापन, कूड़ा-करकट, झाड़झंखाड़ आदि का बहकर आना आदि को देखकर कारणभूत ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान होता है।

२- कारण से कार्य का अनुमान :- जैसे - घिर हुए मेघों को देखकर होने वाली वृष्टि का अनुमान होता है।

३ - संयोगी का अनुमान :- जैसे - रथ को चलता देखकर रथ से संयुक्त घोड़े आदि का अथवा इससे संयुक्त सारथी का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार अन्धकार में त्वचा के स्पर्श से शरीर का अनुमान हो जाता है।

४ - समवायी का अनुमान :- जैसे - स्पर्श से वायु का, गन्ध से पृथिवी का अनुमान होता है।

५ - एकार्थसमवायी का अनुमान :- जैसे - रूप को देखकर रूप वाले द्रव्य में स्पर्श का, और आम्र आदि के गन्ध का अनुभव करके उसमें विद्यमान रस, रूप तथा स्पर्श का अनुमान होता है।

६ - विरोधी का अनुमान :- जैसे - मेघों के घिरने पर भी वृष्टि न होने से प्रतिबन्धक वायु-मेघ के संयोग का; वृष्टि हो जाने पर प्रतिबन्धक वायु-मेघ-संयोग के अभाव का; विलक्षण रूप से फुँकारते हुए सर्प से वहीं झाड़ी में विद्यमान नेवले का अथवा विशेष उछलकूद करते हुए नेवले से वहीं झाड़ी में विद्यमान सर्प का अनुमान हो जाता है। (द्रष्टव्य - ३/१/९-१३) ॥१॥

प्रसंग :- लिंग-लिंगी के सम्बन्ध को जानने का क्या उपाय है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद् भवति ॥२॥ (३४३)

[अस्य] इसका [इदम्] यह है (इस प्रकार) [कार्यकारणसम्वन्धः] कार्य-कारण का सम्बन्ध [च] निश्चयपूर्वक [अवयवात्] पञ्चावयव से [भवति] होता है।

इसका यह कार्य है, इसका यह कारण है - इस प्रकार कार्य-कारण का सम्बन्ध अनुमान वाक्य के अवयवों (=पञ्चावयव -- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन) से होता है । जैसे -

१ - **प्रतिज्ञाः-** पर्वत अग्निमान् है,

२- **हेतुः-** धूमवाला होने से; क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है;

३- **उदाहरण :-** रसोईघर के समान ;

४ **उपनय :-** वैसा ही यह पर्वत धूम-युक्त है ;

५ **निगमन :-** इसलिए धूमवाला होने से पर्वत अग्निमान् है ।

यहाँ धूम कार्य से कारणरूप अग्नि का अनुमान है । धूम और अग्नि में कार्य-कारण-सम्बन्ध है;जिसका परिचायक पञ्चावयव है । और रसोईघर में अग्नि-धूम का कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्ट है ।

सूत्र में कार्यकारणभाव-सम्बन्ध उपलक्षण है, इसी प्रकार संयोग-सम्बन्ध, विरोध-सम्बन्ध, समवाय-सम्बन्ध और एकार्थसमवाय-सम्बन्ध भी उदाहरण से जाने जा सकते हैं ॥ २ ॥

प्रसंग :- अब शब्द से होने वाले (=शाब्द) ज्ञान की परीक्षा करते हैं -

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥३॥ (३४४)

[एतेन] इस (=लैंगिक ज्ञान के व्याख्यान) से [शाब्दम्] शाब्द (= शब्द से उत्पन्न) ज्ञान [व्याख्यातम्] व्याख्यात (समझना चाहिए)

जैसे लिंग और लिंगी के परस्पर व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान होने पर कालान्तर में लिंग को देखने से लिंगी का ज्ञान प्राप्त होता है, वैसे ही शब्द और अर्थ के परस्पर शक्ति रूप (सांकेतिक) सम्बन्ध का ज्ञान होने पर कालान्तर में शब्द के श्रवण से अर्थ का (शाब्द) ज्ञान भी हो जाता है। अर्थात् 'अस्येदम्' - इस लैंगिक ज्ञान के प्रकार से 'अस्य शब्दस्यायमर्थः' ऐसा सांकेतिक शाब्द ज्ञान भी हो जाता है, चाहे वह शाब्द लौकिक हो वा वैदिक।

शंका :- शंकरमिश्र आदि कुछ टीकाकारों ने इस सूत्र पर व्याख्यान किया है, कि वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण ही मान्य हैं; शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान के अन्दर ही हो जाता है।

समा०- यह सर्वथा अयुक्त है; क्योंकि वैशेषिक दर्शन में वेदों की प्रामाणिकता का बलपूर्वक वर्णन किया है - (द्रष्टव्य -१/१/३; ६/१/१-४) और उपसंहार में पुनः उसको दृढ़ किया है - (द्रष्ट० १०/२/९)। यदि आचार्य को प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त शब्द प्रमाण स्वीकृत न होता, तो वे वेदों की प्रामाणिकता पुनः पुनः दृढ़ न करते ;क्योंकि वेद भी तो शब्द-प्रमाण ही है, परन्तु दृढ़ किया है। इससे स्पष्ट है, कि वैशेषिक सिद्धान्त में प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त शब्द प्रमाण भी है, अनुमान के अन्तर्गत नहीं।

लैंगिक ज्ञान से शाब्द ज्ञान का सादृश्य दिखाने का आशय इतना ही है, कि लिंग-लिंगी के व्याप्ति-पूर्वक ज्ञान के समान शब्द और अर्थ का भी सांकेतिक ज्ञान हो जाता है ॥३॥

प्रसंग :- आप कैसे कहते हैं, कि 'अस्येदम्' इत्यादि प्रकार के आनुमानिक (=लैंगिक) ज्ञान के समान 'शाब्द ज्ञान' हो जाता है ; क्योंकि यहाँ कोई लिंग-लिंगी सम्बन्ध तो है नहीं, जिससे कि लिंग के आश्रय से शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाए ? इस शंका का समाधान करते हैं -

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ।।४।। (३४५)

[हेतुः] हेतु [अपदेशः] अपदेश [लिङ्गम्] लिंग [प्रमाणम्] प्रमाण [करणम्] करण [इति]यह (=प्रत्येक पद) [अनर्थान्तरम्] भिन्न अर्थ वाला नहीं है (= साधनरूप समान अर्थ को कहता है)।

शब्द का अर्थ बताने में जो हेतु है, वह है समय (= संकेत); कि इस शब्द का यह अर्थ है । अर्थात् संकेत - रूप प्रमाण वा हेतु से शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है ।

यह संकेत सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर की प्रेरणा से ऋषियों के पवित्र हृदय में वेदार्थ-ज्ञान के रूप में होता है, और आगे आप्त पुरुषों द्वारा अन्यों को संकेत किया जाता है ।

हेतु आदि पदों की साधनता रूप में ही एकार्थता समझनी चाहिए; इनके प्रयोग स्थल तो भिन्न ही होते हैं । जैसे -

१ - हेतु - पद का प्रयोग कार्यकारण भाव प्रकट करने के लिए होता है । यथा - घड़ा बनाने में कुम्हार, मिट्टी, चक्र, दण्ड आदि हेतु (=कारण) हैं ।

२ - अपदेश - पद का प्रयोग अर्थ का बोध कराने में शब्द की साधनता का निर्देश करने के लिए होता है ।

३ - लिंग - पद का प्रयोग अनुमान - वाक्य में साधन के निर्देश के लिए होता है ।

४ -५ - प्रमाण और करण दोनों पदों का प्रयोग प्रत्येक प्रमाण में 'ज्ञान-साधन' के लिए होता हैं । जैसे - प्रत्यक्ष में 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' 'प्रमाण'वा 'करण' है । अनुमान प्रमाण में लिंगज्ञान प्रमाण वा करण है ।।४।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार शब्द प्रमाण की सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं -

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ।।५।। (३४६)

यहाँ तृतीय सूत्र से 'शाब्दम्' की अनुवृत्ति है ।

[अस्य] इस (शब्द) का [इदम्] यह (अर्थ) है, [इति] यह (व्यवहार) [बुद्ध्यपेक्षितत्वात्] बुद्धि की अपेक्षा वाला होने से शाब्द (= शब्द से होने वाला) भी ज्ञान है ।

शब्द से अर्थ के ज्ञान में सामायिक (सांकेतिक) बुद्धि, अथवा (पाचक,लेखक आदि में) यौगिकी (निर्वचन की) बुद्धि अपेक्षित होती है । इसलिए शाब्दज्ञान भी प्रमाण होता है; जो अनुमान के समान कार्य-कारण की अथवा लिंग-लिंगी की अपेक्षा नहीं करता ।।५ ।।

प्रसंग :- प्रात्यक्षिक, आनुमानिक और शाब्द ज्ञान बताकर अब सूत्रकार स्मार्त (स्मृति के) ज्ञान को प्रदर्शित करते हैं -

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।।६।। (३४७)

[आत्ममनसोः] आत्मा और मन के [संयोगविशेषात्] संयोगविशेष से [च] और [संस्कारात्] संस्कार से [स्मृतिः] स्मृति-ज्ञान होता है ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा जो अनुभव करता है, उसके अनुभव की भावनामयवासना मन (=चित्त) पर अंकित हो जाती है, इसी को संस्कार कहते हैं।

आत्मा और मन (=बुद्धि) का संयोग तो सदा रहता है; परन्तु जब आत्मा प्रणिधान आदि निमित्तों से मन को संस्कारों में लगाता है, तब वह आत्मा और मन का 'संयोगविशेष' कहलाता है। इस संयोगविशेष से और संस्कार से स्मृति-ज्ञान होता है।

इस स्मृतिज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा 'समवायिकारण' आत्मा और मन का संयोगविशेष 'असमवायिकारण' तथा प्रणिधान आदि 'निमित्तकारण' कहे जाते हैं।

न्याय-सूत्र (३/२/४३) में स्मृति के २७ निमित्त गिनाए हैं -

१ - प्रणिधान (=मन को किसी एक विषय में लगाना)

२ - निबन्ध (=अनेक अर्थों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना),

३ - अभ्यास, ४ - लिंग (=साधन), ५- लक्षण, ६ - सादृश्य (=समानता), ७ - परिग्रह (=स्वीकार), ८ - आश्रय (=आधार), ९- आश्रित (=आश्रय के अधीन होना), १० - सम्बन्ध, ११ - आनन्तर्य (=पश्चात् होना), १२ - वियोग (=छूट जाना), १३ -एककार्य, १४ - विरोध, १५ - अतिशय (=अधिकता), १६ - प्राप्ति, १७ - व्यवधान, १८ - सुख, १९ - दुःख, २० - इच्छा, २१ - द्वेष, २२- भय, २३ - अर्थित्व (=याचना=मांगना), २४ - क्रिया, २५ - राग, २६ - धर्म, २७ - अधर्म ... निमित्तेभ्यः ॥

इन २७ निमित्तों से कालान्तर में स्मरण होता है ॥ ६ ॥

३९ (५२) - संस्कारप्रकरणम् (संस्कारवैधर्म्यम्)

'स्नेह' के अनन्तर अब क्रम प्राप्त 'संस्कार' गुण का निरूपण करते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

(प्रश०): -संस्कारस्त्रिविधः - वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु द्रव्येषु निमित्तविशेषापेक्षात् कर्मणो जायते। नियतदिक्क्रिया-प्रबन्धहेतुः, स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविशेषविरोधी, क्वचित् कारणगुणपूर्वक्रमेणोत्पद्यते।

भावनासंज्ञकस्त्वात्मगुणो दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुर्भवति, ज्ञानमददुःखादिविरोधी। पट्वभ्यासादरप्रत्ययजः। पटुप्रत्ययापेक्षादात्ममनसोः संयोगाद् आश्चर्येऽर्थे पटुः संस्कारातिशयो जायते। यथा दाक्षिणात्यस्योष्ट्रदर्शनादिति।

विद्याशिल्पव्यायामदिष्वभ्यस्यमानेषु तस्मिन्नेवार्थे पूर्वपूर्वसंस्कारमपेक्षमाणादुत्तरोत्तरस्मात् प्रत्ययादात्ममनसोः संयोगात् संस्कातिशयो जायते। प्रयत्नेन मनश्चक्षुषि स्थापयित्वाऽपूर्वमर्थं दिदृक्षमाणस्य विद्युत्सम्पात दर्शनवदादरप्रत्ययः, तमपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगात् संस्कारातिशयो जायते। यथा देवह्रदे राजतसौवर्णपद्मदर्शनादिति।

स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्येषु वर्तमानो घनावयवसन्निवेशविशिष्टेषु कालान्तरावस्थायिषु स्वाश्रयमन्यथाकृतं यथावस्थितं ('यथावत्'- पाठा.) स्थापयति। स्थावरजङ्गमविकारेषु धनुःशाखाश्रृङ्गदन्तास्थिसूत्रवस्त्रादिषु भुग्नसंवर्तितेषु स्थितिस्थापकस्य कार्यं संलक्ष्यते। नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयोऽस्यापि गुरुत्ववत्॥

संस्कार नामक गुण तीन प्रकार का है -

१- वेग, २ - भावना, ३ - स्थितिस्थापक। उनमें से १ - वेग नामक संस्कार पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन - इन पाँच मूर्तद्रव्यों में विशेष प्रकार के

निमित्तकारणों की अपेक्षा से क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है । वह (वेग) किसी नियमित दिशा में ही क्रियासमूह का उत्पादक है । स्पर्श वाले द्रव्यों का विशेष प्रकार का (अभेद्य) संयोग (टकराव) इस वेग का विनाशक होता है (द्र० - ५/१/१७,१८) । कहीं - कहीं वह अपने आश्रय के समवायिकारण में रहने वाले वेग से भी उत्पन्न होता है । (जैसे - जल में कारणगुण क्रम से भी वेग की उत्पत्ति होती है; अथवा कुम्भकार के चक्र पर घूमते हुए मृत्पिण्ड से बनता हुआ घट भी घूमने लगता है ।)

२ - भावना नामक संस्कार जो कि आत्मा का गुण है, वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अनुभव किए हुए अर्थों की स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा (=पहचान) नामक कार्य को उत्पन्न करता है । विरोधी ज्ञान, मद एवं दुःखादि से यह (=भावना संस्कार) नष्ट हो जाता है । [जैसे कि - जुआ व्यसन में लगे हुए व्यक्ति को पहले से अधीत विषयों का विस्मरण हो जाता है । सुरापान से मत्त व्यक्ति की पूर्वस्मृति का लोप हो जाता है । मरणादि दुःखों से भी भावना संस्कार का नाश हो जाता है । ('ज्ञानमददुःखादि' में प्रयुक्त) 'आदि' पद से सुख आदि का ग्रहण समझना चाहिए; क्योंकि भोग में आसक्त पुरुषों को या अत्यन्त क्रुद्ध पुरुषों को तब पूर्व की बातें विस्मृत हो जाती हैं ।]

इस भावना संस्कार की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है - १ - पटुप्रत्यय से, २ - अभ्यासप्रत्यय से एवं ३ - आदरप्रत्यय से । जैसे १ - पटु (=अनुपेक्षात्मक) ज्ञान की अपेक्षा करने वाले आत्मा और मन के संयोग (रूप असमवायिकारण) से आश्चर्यजनक विषयों में 'पटु' नामक विशेष प्रकार के संस्कार की उत्पत्ति होती है ।

जैसे कि दक्षिण - देश में रहने वाले व्यक्ति को ऊँट को देखने से (ऊँटविषयक 'पटु संस्कार' उत्पन्न होता है, अतः बहुत दिनों के बाद भी उसे ऊँट की स्मृति होती है)।

विद्या (=शास्त्र, आगम आदि), शिल्प (=कारीगरी), एवं व्यायाम (=विविध कसरत तथा अस्त्रशस्त्रादिचालन) आदि विषयों का बार-बार अभ्यास करते रहने से उन्हीं विषयों के पूर्व-पूर्व संस्कारों की अपेक्षा करने वाले उत्तरोत्तर प्रतीतियों (स्मृतियों) के कारण आत्मा और मन के संयोग से विशेष प्रकार के प्रबल संस्कार की उत्पत्ति होती है ।

प्रयत्नपूर्वक मन को चक्षुरिन्द्रिय में लगाकर अपूर्व (=विशेष प्रकार के) पदार्थ को देखने की इच्छा करने वाले पुरुष को विद्युत् सम्पात के देखने के समान (उक्त विशेष पदार्थ में) आदरबुद्धि (=उत्सुकता) उत्पन्न होती है । उस आदरबुद्धि की अपेक्षा करने वाले आत्मा और मन के संयोग से विशेष प्रकार का भावना-संस्कार उत्पन्न होता है ।

जैसे ['चैत्रपूर्णिमा की आधी रात को यदि चित्रा नक्षत्र पड़ता है, तो उस समय देवह्रदों (=राजा महाराजाओं के विशेष तालाबों) में सुनहरे और रजतवर्ण के कमल दिखाई देते हैं' - इस किंवन्दती (=जनश्रुति) को सुनकर उन कमलों को देखने के लिए कोई व्यक्ति उस समय उस रात को विशेष प्रयत्न के द्वारा मन को चक्षु से सम्बद्ध करके उस देवह्रद (=विशेष सरोवर) के किनारे खड़े होकर एक क्षण भर भी उन कमलों को देख लेता है, तो भी उसका यह 'आदरप्रत्यय' होने से] देवह्रद में उस सुनहरी एवं रजतवत् श्वेत कमलों के दर्शन से (चिरस्थायी स्मृति उत्पन्न हो जाती है।) [यह तीसरा आदरप्रत्यय - जन्य भावना-संस्कार गुण है ॥

(द्र० ९/२/६)

३. [अब तृतीय स्थितिस्थापक संस्कार का वर्णन करते हैं] - दृढ अवयवसन्निवेश वाले तथा बहुत समय तक स्थिर रहनेवाले स्पर्शवान् द्रव्यों में रहता हुआ जो संस्कार अन्यथा किये हुए (= पूर्वावस्था से भिन्न रूप में परिवर्तित) अपने आश्रय द्रव्य पदार्थ को पूर्वावस्था में ले आता है, वही 'स्थितिस्थापक' नामक तृतीय संस्कार है ।

स्थितिस्थापक संस्कार का यह (= अपने आश्रय को पूर्वस्थिति में ले आने का) कार्य टेढ़े किये हुए स्थावर (= स्थिर) तथा जंगम (=गति वाले) द्रव्यों के विकार-रूप धनुष, शाखा, शृंग, दांत, हड्डी, सूत्र एवं वस्त्र आदि वस्तुओं के सीधे होने पर लक्षित होता है। इस स्थितिस्थापक संस्कार गुण के नित्यत्व और अनित्यत्व की सिद्धि भी गुरुत्व गुण के समान समझनी चाहिए ॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार अतिदेश द्वारा स्वप्नज्ञान का वर्णन करते हैं -

तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥ (३४८)

[तथा] (जैसे आत्मा और मन के संयोगविशेष तथा पूर्वानुभवजन्य संस्कारों से स्मृतिज्ञान होता है) वैसे [स्वप्नः] स्वप्नज्ञान (भी) होता है।

शयनकाल में बाह्यभागों के अभाव में संस्कारों के कारण आत्मा और मन के संयोगविशेष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'स्वप्नज्ञान' कहते हैं। यह इस जन्म अथवा विगत जन्मों की स्मृति का अव्यवस्थित रूप होता है। जो अभी बकरी दीख रही थी, क्षण में भैंस और अगले ही क्षण हाथी दीखने लगती है। पक्षी के उड़ने की क्रिया का मनुष्य में आरोप करके स्वयं को अथवा अन्यों को उड़ते देखते हैं। बैल के सींगों को मनुष्य के शिर पर देखने लगता है। हाथी आदि प्राणियों के द्वारा पीछा किये जाने पर भागना चाहता हुआ भाग नहीं पाता - इत्यादि रूप में शृंखलारहित स्मृति अनुभव में आती है। इनमें से कुछ का स्मरण रहता है, कुछ का प्रयत्न करने पर भी जागृत अवस्था में स्मरण नहीं होता। ऐसा पूर्वजन्म के संस्कारों की स्मृति के कारण भी हो सकता है और इस जन्म के हल्के संस्कारों के कारण भी।

स्वप्नों की विविधता में शरीर में वात-पित्त-कफ दोषों में से किसी एक की प्रबलता भी कारण होती है ॥७॥

प्रसंग :- अव स्वप्न के अन्तर्गत होने वाले स्वप्न - ज्ञान के विषय में सूत्रकार वताते हैं -

स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥ (३४९)

यहाँ गत सूत्र से 'तथा' की अनुवृत्ति है ।

[स्वप्नान्तिकम्] (वैसे ही) स्वप्न के अन्तर्गत होने वाला स्वप्नज्ञान (भी आत्मा और मन के संयोग-विशेष तथा संस्कार से) होता है ।

जो स्वप्न के अन्तर्गत स्वप्न होता है, उसे 'स्वप्नान्तिक' कहते हैं । लम्वे स्वप्न में व्यक्ति कभी-कभी स्वयं को अनेक वार सोता, जागता अनुभव करता है, और जैसे जाग्रतावस्था में स्वप्न के अनुभव सुनाता है, वैसे ही स्वप्न में भी अपने स्वप्न का अनुभव सुनाता है, अथवा यह अनुभव करता है, कि यह तो स्वप्न था । ऐसा स्वप्न के अन्दर होने वाला स्वप्नज्ञान भी स्वप्न के समान-कारणों से उत्पन्न समझना चाहिए ॥८॥

प्रसंग :- आत्मा और मन के संयोग-विशेष तथा संस्कार से स्मृति होती है, और इन्हीं कारणों से स्वप्न होता है; तव स्मृति और स्वप्न भिन्न क्यों है, एक ही क्यों नहीं ? इस शंका का समाधान करते हैं -

धर्माच्च ॥ ९॥ (३५०)

यहाँ सातवें सूत्र से 'स्वप्नः' की अनुवृत्ति है ।

[धर्मात्] धर्म से [च] भी स्वप्नज्ञान होता है ।

धर्म शव्द से यहाँ शरीर में सदा रहने वाले धातु के विकारादि विवक्षित हैं । अर्थात् स्मृति-ज्ञान के समान स्वप्न-ज्ञान केवल आत्मा और मन के संयोग-विशेष

तथा पूर्वानुभवजनित संस्कारों से ही उत्पन्न नहीं होता, अपितु धातुदोषों के कारण भी होता है । अतः स्मृति और स्वप्न एक नहीं हो सकते । जैसे -

१ - **संस्कारों से -** काम, क्रोध आदि से अभिभूत व्यक्ति उसी का चिन्तन करता हुआ जब सो जाता है; तब वही भावनारूप संस्कार शयनकाल में उभरकर स्वप्न के रूप में प्रतीत होते हैं ।

२- **धातु-दोषों से -** शरीर में तीन प्रकार के धातु हैं - वात, पित्त और कफ (= श्लेष्मा) ।

(क) वात के प्रधान वा विकृत होने पर, व्यक्ति स्वप्न में अपने आपको आकाश में उड़ता देखता है और भय वा बाधा से स्वयं को सुरक्षित समझता है । इसी प्रकार अपने आपको पृथिवी पर घूमता वा दौड़ता देखता है ।

(ख) पित्त के प्रबल वा विकृत होने पर व्यक्ति स्वप्न में जगह-जगह पर आग जलती देखता है । कभी सुनहरे पहाड़ वा चमकीली बिजलियाँ देखता है । आग छूने पर भी जलता अनुभव नहीं करता ।

(ग) शरीर में कफ (= श्लेष्मा) धातु के प्रबल वा विकृत होने पर व्यक्ति स्वप्न में नदी-नालों का प्रवाह, समुद्र वा विशाल जल राशि देखता है । हरी भरी फसलें वा चाँदी जैसे चमकीले श्वेत पर्वत देखता है ।

विविध स्वप्नों के आधार पर शुभाशुभ सूचक विचारों को आर्ष-प्रमाण के अभाव में काल्पनिक तथा तत्सम्बन्धी उदाहरणों को काकतालीय ही समझना चाहिए; क्योंकि इन उदाहरणों में व्याप्ति नहीं है, कि जहाँ-जहाँ ऐसा स्वप्न दीखें, वहाँ-वहाँ शुभाशुभ घटनाएँ होंगी ही ॥ ९ ॥

प्रसंग :- विविध प्रकार के ज्ञान की परीक्षा करके, अब अज्ञान की परीक्षा करते हुए पहले अज्ञान (= अविद्या) की उत्पत्ति का कारण बताते हैं -

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ।। १० ।। (३५१)

[इन्द्रियदोषात्] इन्द्रियों के दोष से [च] और [संस्कारदोषात्] संस्कारों के दोष से [अविद्या] अविद्या उत्पन्न होती है ।

नेत्र आदि इन्द्रियों में किसी रोग से अथवा अल्पप्रकाश आदि कारणों से विषय-ग्रहण करने की क्षमता में दुर्वलता आ जाना इन्द्रिय - दोष है । और पूर्वानुभव से उत्पन्न संस्कार (= भावना) का वासना आदि दोषों से युक्त होना संस्कार - दोष कहाता है ।

इन दोनों प्रकार के दोषों से अविद्या (= मिथ्याज्ञान) की उत्पत्ति होती है ।

उदाहरण अगले सूत्र में देखें ।। १० ।।

प्रसंग :- अव सूत्रकार अविद्या का स्वरूप वताते हैं -

तद् दुष्टज्ञानम् ।।११।। (३५२)

यहाँ गत सूत्र से 'अविद्या' की अनुवृत्ति है ।

[तद्] वह (अविद्या) [दुष्टज्ञानम्] दोष-युक्त ज्ञान है ।

सूत्र में 'तत्' पद अव्यय है (चादिगण - १/४/५७), जो कि 'अविद्या' की ओर संकेत करता है ।

पूर्व सूत्रोक्त 'अविद्या' का स्वरूप --न विद्या अविद्या (= अज्ञानम्) अर्थात् विद्या (=ज्ञान) का अभाव (=अविद्या = अज्ञान) नहीं; अपितु वह दुष्टज्ञान =विपरीत ज्ञान=अन्यथाख्याति) स्वरूप है । अर्थात् 'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानम् = अविद्या {=जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा दीखना अविद्या (= मिथ्याज्ञान = विपरीत ज्ञान) है } । जैसे -

इन्द्रियदोषात् - एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा दीखना, श्वेत वस्त्र का पीला दीखना; साँप को रस्सी अथवा रस्सी को साँप समझना; धूल को धूम समझकर वहाँ अग्नि का अनुमान करना।

संस्कारदोषात् :- अनित्य को नित्य और नित्य को अनित्य समझना अपने अथवा दूसरों के अपवित्र शरीरों को पवित्र समझना, दुःखवहुल भोगों को सुखद समझना और हितकर (= सुखद) वातों वा व्यवहारों को दुःखद समझना; शरीर, मन आदि जड़ पदार्थों को आत्मा (= चेतन) समझना - इत्यादि सव अविद्या (= मिथ्याज्ञान = विपरीत-ज्ञान) का स्वरूप है ॥११॥

प्रसंग :- प्रसंगवश अव सूत्रकार 'विद्या' का स्वरूप वताते हैं -

अदुष्टं विद्या ॥१२॥ (३५३)

यहाँ गत सूत्र से एक अंश - 'ज्ञानम्' पद की अनुवृत्ति है।

[अदुष्टम्] दोषरहित (ज्ञान) [विद्या] विद्या है।

जो इन्द्रियदोष और संस्कारदोष से उत्पन्न नहीं है, ऐसा यथार्थ ज्ञान 'विद्या' है। अर्थात् 'तस्मिंस्तदिति बुद्धिः - विद्या' (= जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना विद्या है)। जैसे - सर्प को सर्प, रस्सी को रस्सी समझना। अनित्य को अनित्य, अपवित्र को अपवित्रि, दुःख को दुःख, अनात्मा (= जड़) को अनात्मा (= जड़) समझना और अर्थापत्ति से नित्य को नित्य, पवित्र को पवित्र, सुख को सुख, आत्मा (= चेतना) को आत्मा (= चेतन) समझना विद्या है ॥१२॥

प्रसंग :- ऋषियों तथा सिद्धों को किस प्रकार ज्ञान होता है, इस शंका का समाधान करते हैं -

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥१३॥ (३५४)

[आर्षम्] आर्ष ज्ञान (= जो ऋषियों को परमात्मा से मिलता है) [च] और [सिद्धदर्शनम्] सिद्धदर्शन (= जो सिद्धों को योग-सामर्थ्य से अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात् दर्शन होता है) [धर्मेभ्यः] धर्मों (= धर्म-भावों से हृदय के भरे रहने से अथवा योगज धर्म द्वारा हृदय की निर्मलता आदि विशिष्ट गुणों) से होता है।

सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों तथा बाद के ऋषियों को जो विविध-विषयों का ज्ञान ईश्वर से प्राप्त होता है, वह 'आर्ष' तथा यौगिक-सिद्धि से सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट (= अतीन्द्रिय) पदार्थों का जो साक्षात् ज्ञान होता है वह 'सिद्धदर्शन' कहाता है।

यह दोनों ही प्रकार का ज्ञान हृदय की निर्मलता था वेदविहित कर्मों को सतत अनुष्ठान करने से प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

इति नवमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

॥ नवमोध्यायश्च सम्पूर्णः ॥

१३(२६) - बुद्धिप्रकरणम् (बुद्धिवैधर्म्यम्)

अब क्रमप्राप्त बुद्धि के लक्षण एवं विभागसहित परीक्षण के लिए नवम अध्याय, द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद, तृतीय अध्याय के प्रथम पाद, अष्टम अध्याय के प्रथम पाद तथा अन्य सूत्रों के अनुसार भाष्यकार विस्तार से बताते हैं-

(प्रश:)- बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः । सा चानेकप्रकारा, अर्थानन्त्यात् प्रत्यर्थनियतत्वाच्च ।

तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे - विद्या चाविद्या चेति । तत्राविद्या चतुर्विधा-सशंय विपर्ययानध्ववसायस्वप्नलक्षणा ।

बुद्धि, उपलब्धि (= प्राप्ति), ज्ञान और प्रत्यय (= प्रतीति) ये सभी शब्द पर्यायवाची (= अभिधावृत्ति के द्वारा एक ही अर्थ के बोधक, समानार्थक) हैं। वह (= गुणरूपबुद्धि) अनेक (=अनन्त) प्रकार की है, (उसके) विषय अनन्त होने से तथा प्रत्येक विषय में स्वतन्त्ररूप से (भी) सम्वद्ध होने से।

उस (=बुद्धि) के अनेक (= वहुत) प्रकार होने पर भी संक्षेप में उसके दो विभाग हैं - (१) विद्या (= यथार्थज्ञान) और (२) अविद्या (= अयथार्थ ज्ञान)। उन दोनों में से अविद्या चार प्रकार की है - १. संशय (संदेह), २ - विपर्यय (= मिथ्या ज्ञान), ३ - अनध्यवसाय (= अनिश्चयात्मक ज्ञान) और ४ - स्वप्नरूप। (द्र० ९/२/१०-१२)।

[पर्युदास प्रतिषेध से यहाँ अविद्या का अर्थ विद्या-भिन्न, विद्या जैसा अर्थात् मिथ्याज्ञान समझना चाहिए; न कि विद्या का अभाव=अविद्या।]

विशेष :- 'बुद्धि' पद का दो प्रकार से निर्वचन हो सकता है। एक-'भाव' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा, दूसरा 'करण' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय के द्वारा।

यहाँ पर न्यायसूत्र (१/१/१५) के समान 'बुद्धि' शब्द भावार्थक 'क्तिन्' - प्रत्ययान्त है - 'बोधनं बुद्धिः' (= जानना बुद्धि है)। इस रूप में यह बुद्धि-शब्द ज्ञान का पर्यायवाची हो जाता है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो विषय का बोध होता है, वही 'बुद्धि', 'उपलब्धि', 'ज्ञान', 'प्रत्यय' (=Under standing, Apprehensing) है।

जब वुद्धि शब्द करणकारक में क्तिन् प्रत्ययान्त निष्पन्न होता है - 'वुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' (= जिसके द्वारा जाना जाए वह वुद्धि है) अर्थात् ज्ञान का साधन, तव 'वुद्धि' शब्द 'अन्तःकरण' का वाचक होता है। जैसा कि न्यायसूत्र (१/१/१७) में पढ़ा है - "**प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः**"। यहाँ 'बुद्धि' शब्द करणकारक में क्तिन्-

प्रत्ययान्त ही निष्पन्न है। अर्थात् न्यायसूत्रों में दोनों प्रकार से 'बुद्धि' शब्द मानकर (१/१/१५, १७ में) व्याख्यान किया है।

सांख्य - शास्त्र में भी प्रकृति (प्रधान) का महत् नामक विकार रूप अन्तःकरण ही 'बुद्धि' है; जो करणकारक में क्तिन् -प्रत्ययान्त निष्पन्न है। उस बुद्धि की ही विषयाकार -वृत्ति ज्ञान (=बुद्धि, उपलब्धि, प्रत्यय है)। इसी बुद्धि (ज्ञान) का इस प्रशस्तपाद भाष्य में व्याख्यान किया जा रहा है।

अतः सांख्यशास्त्र से इस विषय में न्याय - वैशेषिक का विरोध नहीं है। अलग-अलग विषयों का प्रतिपादन मात्र है। क्योंकि वैशेषिक में गुणरूप में 'बुद्धि' का व्याख्यान होने से भाव में क्तिन्-प्रत्ययान्त ही बुद्धि शब्द सम्भव है। न्याय १/१/१७ एवं सांख्य में गुणी अथवा अवयवी के रूप में व्याख्यान होने से करण कारक में ही क्तिन् प्रत्ययान्त बुद्धि शब्द निष्पन्न होगा।

अतः 'न्यायकन्दली' (- श्रीधरभट्ट) आदि ने "एतत् सांख्यमतं निराकर्तुमाह - बुद्धिरित्यादि"- आदि वाक्यों से जो सांख्यशास्त्र से विरोध दिखाया है, वह अनुचित है। सम्भवतः क्तिन् प्रत्यय में भेद न समझने से उन्हें भ्रान्ति हुई है॥

१४ (२७) - संशयप्रकरणम्

(१३/१ - बुद्धेरविद्याविभागे संशयः)

अव बुद्धि (= ज्ञान) गुण के ही विभिन्न भेदों का व्याख्यान अलग-अलग अधिकरणों में किया जा रहा है। बुद्धि-सम्बन्धी ये सभी अधिकरण बुद्धि गुण के ही भेद हैं, अर्थात् इन्हें बुद्धिगुण के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

इस अधिकरण में बुद्धिगुण के अविद्याविभाग के भेदों में से प्रथम 'संशय' का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रदर्शनाद्, उभयविशेषानुस्मरणाद्, अधर्माच्च किंस्विदित्युभयावलम्बी विमर्शः संशयः । स च द्विविधः - अन्तर्बहिश्च ।

अन्तस्तावत् - आदेशिकस्य सम्यङ् मिथ्या चोद्दिश्य पुनरादिशतस्त्रिषु कालेषु संशयो भवति - 'किन्नु सम्यङ् मिथ्या वा' इति ।

बहिर्द्विविधः - प्रत्यक्षविषये चाप्रत्यक्षविषये च । तत्राप्रत्यक्षविषये तावत् - साधारणलिङ्गदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणाद् अधर्माच्च संशयो भवति । यथा अटव्यां विषाणमात्रदर्शनाद् - गौर्गवयो वेति ।

प्रत्यक्षविषयेऽपि स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्यदर्शनाद् वक्रा - दिविशेषानुपलब्धितः स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्यक्तावुभयविशेषानुस्मरणादु - भयत्राकृष्यमाणस्यात्मनः प्रत्ययो दोलायते - किं नु खल्वयं स्थाणुः स्यात् पुरुषो वेति ?

(अविद्यारूप बुद्धि के चार भेदों में से) प्रथम क्रमप्राप्त संशय का निरूपण करते हैं -

[प्रसिद्धाः = पूर्वं ज्ञाता अनेकविशेषाः = असाधारणधर्माः (= वक्रकोटरादयः, शिरःपाण्यादयश्च) ययोः (= स्थाणुपुरुषयोः) तयोः] = जिन [वृक्ष तथा पुरुष इन] दोनों के [क्रमशः वक्र-कोटर (= टेड़ा खोखला देश) तथा सिर हाथ इत्यादि] विशेष धर्मों का ज्ञान [किसी मनुष्य को] पहले हो चुका है, उन दोनों के [उसी मनुष्य को कालान्तर में किसी (दोनों के बराबर) ऊँचे धर्मीरूप द्रव्य में उन दोनों (= वृक्ष एवं पुरुष) के ऊँचाई, चौड़ाई आदि] साधारण धर्म के सादृश्यमात्र के देखने से [वृक्ष और पुरुष के वक्र कोटर आदि तथा सिर हाथ इत्यादि] असाधारण धर्मों (जो पहले ज्ञात हैं) के स्मरण से, तथा अधर्म से (= असाधारण विशेषताओं रूप धर्म

के प्रत्यक्ष न होने से अथवा अधर्माचरण या अधर्मसहन) - इन (तीनों हेतुओं) से 'यह अमुक वस्तु (= वृक्ष) है' या 'उससे भिन्न (= पुरुष)' ? इस प्रकार के दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान ही 'संशय' रूप अविद्या है ।

[इसी प्रकार सूत्र में भी कहा है - 'सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः (वैशे० सू०- २/२/१७ ।]

वह भी दो प्रकार का है - १) आन्तरिक (ज्ञाता के धर्म से उत्पन्न) संशय, तथा २) - बाह्य (विषय के धर्म से उत्पन्न) संशय ।

१ - पहले अन्तःसंशय (का उदाहरण है, कि किसी) ज्योतिषी (= ज्योतिषशास्त्रवेत्ता) के पहले कहे हुए सूर्यग्रहण आदि ग्रहसंचार अथवा वृष्टि आदि कथन के भूत, भविष्यत्, वर्तमान-तीनों कालों में सत्य होने तथा किसी समय में कहे हुए उक्त ग्रह-संचार आदि के कथन ठीक न मिलने से मिथ्या (= असत्य) होने पर; कालान्तर में ऐसे कथन के समय उसी प्रकार का निमित्त उपस्थित देखकर उस ज्योतिषी को अपने ज्ञान में यह संशय होता है, कि वह मेरा नैमित्तिक ज्ञान सत्य था या मिथ्या ।

२ - बाह्य-संशय दो प्रकार का है - १- प्रत्यक्षविषय में (= जिसके विषय प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गृहीत हों), एवं २- अप्रत्यक्ष विषय में (= जिसके विषय प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गृहीत न हों) । उनमें से (२) अप्रत्यक्षविषयक बहिःसंशय वह है, जो दोनों कोटियों में रहने वाले साधारण धर्म के ज्ञान से, दोनों कोटियों में से प्रत्येक के असाधारण धर्म की अनुस्मृति (= पश्चात् स्मरण) और अधर्म से उत्पन्न होता है । जैसे - जंगल में जाने पर केवल सींग के देखने से यह संशय होता है, कि यह (सींग वाला) गौ है या गवय ?

१) प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने वाले विषय के संशय (का उदाहरण है, कि) स्थाणु और पुरुष दोनों में रहने वाले केवल ऊर्ध्वता (= ऊँचाई) रूप सादृश्य का

ज्ञान, दोनों में से प्रत्येक में रहने वाले वक्रता (टेढ़ापन) और हस्तपादादि असाधारण धर्मों के अज्ञान (= अनुपलब्धि), दोनों कोटि में से प्रत्येक में रहने वाले स्थाणुत्व -पुरुषत्व आदि जातिरूप विशेष धर्मों के अप्रत्यक्ष, एवं इन दोनों जातियों के विशेष धर्मों के स्मरण - इन सभी कारणों से पुरुष का चित्त झूले के समान स्थाणु और पुरुष दोनों ओर डोलता है, ज्ञाता का ज्ञान निश्चित नहीं हो पाता, उसे संशय होता है, कि यह (= सामने दीखने वाला) स्थाणु है ? या पुरुष है ? (द्र० २/२/१७-२०)

१५ (२८) - विपर्ययप्रकरणम्

(१३/२- बुद्धेरविद्याविभागे विपर्ययः)

अब क्रमप्राप्त विपर्यय -रूप अविद्याबुद्धि के निरूपण के लिए भाष्यकार विस्तार से बताते हैं -

(प्रश.) :- विपर्ययोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव भवित । प्रत्यक्षविषये तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः पित्तकफानिलोपहतेन्द्रियस्यायथार्थालोचनाद् असन्निहितविषयज्ञानजसंस्कारापेक्षादात्ममनसोः संयोगादधर्माच्चातस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः । यथा गव्येवाश्व इति ।

असत्यपि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षाभिमानो भवति, यथा व्यपगतघनपटलमचलजलनिधिसदृशमम्बरमञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं शार्वरं तम इति ।

अनुमानविषयेऽपि वाष्पादिभिर्धूमाभिमतैर्वह्न्यभिमानम्, गवयविषाणदर्शनाच्च गौरिति ।

त्रयीदर्शनविपरीतेषु शाक्यादिदर्शनेष्विदं श्रेय इति मिथ्याप्रत्ययो विपर्ययः । शरीरेन्द्रियमनःस्वात्माभिमानः, कृतकेषु नित्यत्वदर्शनम्, कारणवैकल्ये कार्योत्पत्तिज्ञानम्, हितमुपदिशत्स्वहितमिति ज्ञानम्, अहितमुपदिशत्सु हितमिति

ज्ञानम् ।।

विपर्यय(रूप अविद्या) भी [संशय के समान] प्रत्यक्ष एवं अनुमान के विषय में ही होने से दो प्रकार का है । [दो प्रकार के विपर्ययों में से] पहले प्रत्यक्ष-विषयक विपर्यय का वर्णन करते हैं - [प्रसिद्धाः (= पूर्व ज्ञाता) अनेके विशेषा ययोः = प्रसिद्धानेकविशेषयोः] पूर्व में जिन दोनों के विशेष धर्म ज्ञात हैं, ऐसे दो द्रव्यों के [= जैसे गाय तथा अश्व दोनों के क्रमशः सास्ना (= गलकम्बल) इत्यादि तथा केसर (गर्दन के केश) इत्यादि विशेष धर्मों का पूर्व में ज्ञान हो चुका है, उनके] वात, पित्त तथा कफ के प्रकोप से दूषित चक्षु आदि इन्द्रिय वाले पुरुष को अयथार्थ (मिथ्या) ग्रहण से दूर रहने वाले विषय के ज्ञान से उत्पन्न भावनासंस्कार की अपेक्षा करने वाले आत्मा और मन के संयोगरूप असमवायिकारण से तथा अधर्म (करने या उससे पीड़ित होने) से भी तद्‌भिन्न पदार्थ में वह है, ऐसा ज्ञान 'विपर्यय' (= मिथ्याज्ञान) कहलाता है । जैसे - (अश्वभिन्न) गौ में अश्व है - इस प्रकार का ज्ञान [इसी प्रकार - सर्पभिन्न रज्जु में सर्प का ज्ञान विपर्यय है । योगदर्शन में भी कहा है - **''विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्''** - (योग० १/८]।

[विपर्यय के अन्य उदाहरण] विषय के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसे प्रत्यक्ष समझ लेना विषयविपर्यय) होता है.। जैसे - (रूपरहित होने से अप्रत्यक्ष आकाश में भी) मेघसमूह के न रहने से अचल समुद्र के समान (आकाश) दिखाई दे रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष का अभिमान मिथ्या ज्ञान है । एवं रात्रि का यह अन्धकार, काजल के चूर्ण के ढेर के समान श्याम वर्ण का है । [शर्वरी= रात्रि, तत्र भवं शार्वरम् = तमः । अर्थात् शर्वरी =रात्रि, उसमें होने वाला शार्वरम् = अन्धकार ।]

अनुमान के विषय में विपर्यय वह है, जहाँ वाष्प-धूल आदि को धूम समझकर उसके द्वारा (जल में) अग्नि का अनुमान हो जाना; अथवा गवय (= नीलगाय) के सींग देखकर गौ का अनुमान भी (अनुमान - विषयक विपर्यय का

उदाहरण है) ।

इसी प्रकार त्रयी (= त्रयाणां समूहः त्रयी) अर्थात् पद्य, गीति और गद्यात्मक इन तीन प्रकार के समूह रूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के अनुसारी दर्शनों के विरुद्ध मतवाले अत्यन्त कुत्सित चार्वाक, बौद्धादि दर्शनों में 'यही मोक्ष का कारण है' - इस प्रकार का अभिमान भी 'विपर्यय' है ।

तथा शरीर, इन्द्रिय और मन (इत्यादि प्रकृति से निष्पन्न जड़ पदार्थों) को (चेतन) आत्मा समझना; उत्पत्तिशील वस्तुओं में नित्यत्व की समझ; कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानना; (चोरी करना पाप है - आदि) हित का उपदेश करने वालों में 'यह हितकारक नहीं है' -ऐसा समझना ; (चोरी करना, खाद्यपदार्थों में घातक मिलावट करना आदि लाभदायक है - ऐसे) अहित का उपदेश करने वालों में 'यही मेरा हित है' - इस प्रकार समझना - ये सभी ज्ञान 'विपर्यय' नामक अविद्या हैं ॥

[योगदर्शन में अविद्या का लक्षण भी इससे मिलता-जुलता है - 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' - (योग० २/५) ।]

१६ (२९) - अनध्यवसायप्रकरणम्

(१३/३- बुद्धेरविद्याविभागे 'अनध्यवसायः')

अब क्रमप्राप्त तृतीय अनध्यावसायरूप अविद्याबुद्धि का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते ।

तत्र प्रत्यक्षविषये तावत् - प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादर्थित्वाद् वा किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः । यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो

भवति । तत्र सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसायो भवति । पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव, केवलं तूपदेशाभावाद् विशेषसंज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति ।

अनुमानविषयेऽपि - नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति ॥

अनध्यवसाय भी (विपर्यय के समान) १- प्रत्यक्ष तथा २- अनुमान के द्वारा ज्ञात होने वाले विषयों में ही होता है ।

१. उन दोनों में से पहले प्रत्यक्ष के विषय में (होने वाला अनध्यवसाय इस प्रकार है-) पूर्व काल में ज्ञात (= जाने हुए) पदार्थों में अथवा अज्ञात पदार्थों में विषयान्तर (=दूसरे विषय) में चित्त के आकृष्ट होने के कारण, अथवा विशेष ज्ञान की इच्छा होने से (पुरुष का) 'यह क्या है ?' इस प्रकार का आलोचन मात्र (= सामान्य रूप से ज्ञान) ही अनिश्चयात्मक ज्ञान 'अनध्यवसाय' कहाता है । जैसे - वाहीक नामक देशविशेष में रहने वाले मनुष्य को कटहल आदि (उस देश में न होने वाले वृक्षों) के विषय में अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है । उस कटहल आदि वृक्ष में - यह वृक्ष सत्ता जातिमान्, द्रव्यत्व और पृथिवीत्व जाति का अधिकरण, वृक्षत्व जाति, तथा रूप का आश्रय, शाखा आदि से विशिष्ट है - ऐसी अपेक्षा रखता हुआ निश्चयात्मक ज्ञान होता है । उसका पनसत्व धर्म भी सम्पूर्ण पनस (= कटहल) वृक्षों में अनुगत रहने वाला, आम्रादि वृक्षों में न रहने वाला प्रत्यक्ष ही है । परन्तु केवल, आप्तपुरुष का उपदेश न होने से 'यह कटहल नामक वृक्ष है' ऐसी विशेष संज्ञा का ज्ञान नहीं होता ।

२. (अनुमानविषयक द्वितीय अनध्यवसाय का उदाहरण देते हैं -) अनुमान के विषय में भी - नारियल के द्वीप (= टापू) में रहने वाले को [वहाँ गौ न होने के कारण, वहाँ के निवासियों को गोमात्र का ज्ञान न होने से; दूसरे देश के अरण्य

में] केवल सास्ना (= गलकम्बल) के देखने से 'यह कौन सा प्राणी होगा' - इस प्रकार का 'अनध्यवसाय' होता है ।

[यह स्वतन्त्र भाष्य है, अथवा इसको संशय-सूत्रों का व्याख्यान भी माना जा सकता है ।- (द्र० २/१/१७-२०)]

१७ (३०) - स्वप्नप्रकरणम्

(१३/४ बुद्धेरविद्याविभागे 'स्वप्नः')

अब क्रमप्राप्त चतुर्थ, स्वप्नरूप अविद्याबुद्धि का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) :- उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणेव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम् ।

कथम् ? यदा बुद्धिपूर्वादात्मनः शरीरव्यापारादहनि खिन्नानां प्राणिनां निशि विश्रामार्थमाहारपरिणामार्थं वाऽदृष्टकारितप्रयत्नापेक्षादात्मान्तःकरणसम्बन्धान्मनसि क्रियाप्रबन्धादन्तर्हृदये निरिन्द्रिये आत्मप्रदेशे निश्चलं मनस्तिष्ठति, तदा प्रलीनमनस्क इत्याख्यायते । प्रलीने च तस्मिन्नुपरतेन्द्रियग्रामो भवति । तस्यामवस्थायां प्रबन्धेन प्राणापानसन्तानप्रवृत्तावात्ममनःसंयोगविशेषात् स्वापाख्यात् संस्काराच्चेन्द्रियद्वारेणेवाऽसत्सु विषयेषु प्रत्यक्षाकारं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते ।

तत्तु त्रिविधम् - संस्कारपाटवाद्, धातुदोषाद्, अदृष्टाच्च ।

१) तत्र संस्कारपाटवात् तावत् - कामी क्रुद्धो वा यदा यमर्थमादृतश्चिन्तयन् स्वपिति, तदा सैव चिन्तासन्ततिः प्रत्यक्षाकारा सञ्जायते ।

२) धातुदोषाद् वातप्रकृतिस्तद्दूषितो वाऽऽकाशगमनादीन् पश्यति ।

पित्तप्रकृतिः पित्तदूषितो वाऽग्निप्रवेशकनकपर्वतादीन् पश्यति । श्लेष्मप्रकृतिः श्लेष्मदूषितो वा सरित्समुद्रप्रतरणहिमपर्वतादीन् पश्यति ।

३) - यत् स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु वा प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा यच्छुभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि, तत्सर्वं संस्कारधर्माभ्यां भवति । विपरीतं च तैलाभ्यञ्जनखरोष्ट्रारोहणादि तत् सर्वधर्मसंस्काराभ्यां भवति ।

अत्यन्ताप्रसिद्धार्थेष्वदृष्टादेवेति ।

स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति, तथाप्यतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य प्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेवेति भवत्येषा चतुर्विधाऽविद्येति ॥

(प्रकर्षेण लीनं नेन्द्रियदेशेन संयुक्तं मनो यस्य=) इन्द्रियों के सम्पर्क से रहित जिस प्राणी का मन अन्तर्मुखी हो गया है, जिससे उस पुरुष के (उपरतः स्वविषयग्रहणं प्रति निवृत्त इन्द्रियाणां ग्रामो यस्य=) सभी बाह्येन्द्रिय अपना-अपना विषय ग्रहण करने से विमुख हो गये हैं, उस व्यक्ति को (मनसि भवं मानसम्=) केवल मन के द्वारा बाह्येन्द्रिय से उत्पन्न प्रत्यक्ष के समान जो (मैं आँख से देख रहा हूँ, कान से सुन रहा हूँ - इस प्रकार का) अनुभव होता है, वही 'स्वप्नज्ञान' नामक चतुर्थ अविद्या है ।

[अब प्रश्नपूर्वक स्वप्नज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं -] (प्र०) (यह स्वप्नज्ञान) किस प्रकार (उत्पन्न होता है ?) (उ०)-जिस समय बुद्धिपूर्वक किए हुए, आत्मा के शारीरिक गमन, आगमन इत्यादि व्यापार से दिन में थके हुए प्राणियों के रात्रि में विश्राम करने (= थकावट मिटाने) के लिए एवं खाए पिए हुए आहार के रस-रक्तादि रूप में परिणाम (= पाचन) के लिऐ, अदृष्ट से कराये हुए आत्मा के प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले, आत्मा और अन्तःकरण के सम्बन्ध से, मन में होने वाले क्रियासन्तान (=क्रियासमूह) से मस्तिष्कस्थ हृदय (थैलमस) के भीतर इन्द्रियों के सम्पर्क से रहित आत्मा के प्रदेश में मन (= अतःकरण) निश्चल (= चञ्चलतारहित,

इन्द्रियसम्पर्क से रहित) होकर ठहर जाता है; उस समय आत्मा 'प्रलीनमनस्क' (= बाह्यप्रदेश में मन की निष्क्रिय स्थिति वाला) कहा जाता है। उस (= मन) के लीन होने पर आत्मा (= पुरुष) 'उपरतेन्द्रियग्राम' (= बाह्य इन्द्रिय-समूह के व्यापार से रहित हो जाता है। उस (प्रलीनमन की) अवस्था में निरन्तर वायु के प्रवेश-निर्गमनरूप श्वास-प्रश्वास प्रवृत्त रहने पर स्वापनामक (= निद्रा नाम वाले) आत्मा और मन के पुरीतत् नाडी (थैलेमस) में विशेष-संयोग (= असमवायिकारण) से तथा पूर्वानुभूतविषयक संस्कार (-इन दोनों) से वहाँ वृक्ष, हस्ती आदि विषय-पदार्थों के न रहने पर भी, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के समान जो प्रत्यक्ष के सदृश ज्ञान होता है, उसे 'स्वप्नज्ञान' रूप अविद्या कहते हैं।

वह स्वप्नज्ञान तीन प्रकार का है - १- संस्कार की पटुता (= सामर्थ्य) से उत्पन्न, २- धातु के दोष से उत्पन्न, एवं ३- अदृष्ट से उत्पन्न।

१ - इन तीनों में से संस्कार के सामर्थ्य से (उत्पन्न स्वप्न का उदाहरण यह है, कि -) कामी अथवा क्रुद्ध पुरुष जिस समय, जिस विषय (=अर्थात् प्रियतम वस्तु, व्यक्ति का अथवा शत्रु) का निरन्तर चिन्तन करता हुआ सोता है, उस समय वही चिन्तन - समूह प्रत्यक्ष के समान अर्थात् विषयों को साक्षात् प्रकाशित करने वाला जैसा प्रतीत होता है।

२ - (दूसरे) धातुदोष से (उत्पन्न स्वप्नज्ञान के उदाहरण हैं -)

[**विशेष -** शरीर को धारण करने के कारण से १ - रस (= भोजन से रक्त बनने से पहले का परिणाम) २ - रक्त, ३- मांस (= शरीर में हड्डी और चमड़ी के बीच का मुलायम एवं लचीला भाग), ४- मेद (= वसा, चर्बी), ५ - अस्थि (= हड्डी), ६ - मज्जा (= हड्डी के भीतर का गूदा), ७ - वीर्य (= शुक्र) इन सातों का समुदाय धातु कहलाता है। इनके दूषित हो जाने पर शरीर में वायु, पित्त आदि भी दूषित हो जाते हैं। इन दूषित वायु आदि से भी अविद्या रूप 'स्वप्नज्ञान' उत्पन्न

होता है । वही विषय यहाँ 'वातप्रकृति' आदि वाक्यों के द्वारा कहा गया है ।]

वातप्रकृति वाला (= शरीर में वायु की प्रधानता वाला) प्राणी अथवा दूषित वायु वाला प्राणी स्वप्न में अपना 'आकाशगमन' (= आकाश में इधर - उधर दौड़ना/ उड़ना) आदि देखता है ।

पित्तप्रकृति का (= पित्त की प्रधानता वाला) अथवा दूषित पित्त वाला पुरुष स्वप्न में अग्नि में प्रविष्ट होना, स्वर्णमय पर्वत आदि को प्रत्यक्ष सा देखता है ।

कफप्रकृति का (= क़फ की प्रधानता वाला) अथवा दूषित कफ वाला पुरुष स्वप्न में नदी, समुद्र आदि में तैरना अथवा बरफ के पहाड़ों को देखता है, (हाथी बैल आदि से बाधित होने पर दौड़ना चाहते हुए भी दौड़ नहीं पाता) ।

३ - (अदृष्टजनित स्वप्न के ये उदाहरण हैं -) जो स्वयं अनुभव किये हुये अथवा अनुभव न किये हुए; इस जन्म में जाने हुए अथवा इस जन्म में न जाने हुए पदार्थों के विषय में जितने स्वप्नज्ञान शुभ के सूचक हैं, वे सभी संस्कार और धर्म (रूप अदृष्ट) से उत्पन्न होते हैं जैसे - हाथी पर चढ़ना, मस्तक पर छत्रधारण (गले में माला धारण) इत्यादि ।

इसके विपरीत उन्हीं विषयों के जितने स्वप्न-ज्ञान अशुभ के सूचक हैं, वे सभी अधर्म (रूप अदृष्ट) और संस्कार इन दोनों से उत्पन्न होते है । जैसे - तेल की मालिश, गधे पर चढ़ना, ऊँट पर चढ़ना (तथा अन्धकार में गिरना, कीचड़ में फँसना इत्यादि) ।

अत्यन्त अप्रसिद्ध (= स्वयं भी अज्ञात एवं दूसरे से भी अज्ञात) विषयों के दर्शन रूप स्वप्नज्ञान केवल (धर्म-अधर्मरूप) अदृष्ट से ही होते हैं, संस्कारों से नहीं । जैसे - स्वप्न में सूर्यमण्डल का गलना या स्वयं को सृष्टिकर्ता के रूप में देखना इत्यादि ।

'स्वप्नान्तिक' (= स्वप्न के अन्त में पूर्वस्वप्न) का ज्ञान भी यद्यपि वाह्य इन्द्रियों के व्यापार से रहित मनुष्य को होता है (अर्थात् स्वप्नज्ञान से भिन्न पाँचवाँ स्वप्नान्तिक' अविद्यारूप ज्ञान भी प्रतीत होता है,) किन्तु अतीत के किसी ज्ञान के सदृश ही दूसरा ज्ञान है, अतः यह स्मृति ही है। (द्र० ९/२/७-९)

इस प्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्नज्ञान-ऐसी चार प्रकार की अविद्या ही कणाद मत के अनुसार है।

१८(३१) प्रत्यक्षप्रकरणम्

(१३/५/१ बुद्धेर्विद्याविभागे 'प्रत्यक्षम्')

बुद्धिरूप गुणपदार्थ के अविद्या-विभाग का विस्तार से निरूपण करके, अब विद्यारूप बुद्धि के विभागों का विस्तार से वर्णन करते हुए पहले 'प्रत्यक्ष' का व्याख्यान करते हैं -

(प्रश.) - विद्यापि चतुर्विधा - प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा। तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यत इति प्रत्यक्षम्। अक्षाणीन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्रमनांसि षट्। तद्धि द्रव्यादिषु पदार्थेषूत्पद्यते। द्रव्ये तावत् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्योद्भूतरूपप्रकाश-चतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम्।

सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्ममनःसन्निकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते -सद् द्रव्यम्, पृथिवी, विषाणी, शुक्लो गौर्गच्छतीति।

रूपरसगन्धस्पर्शेष्वनेकद्रव्यसमवायात् स्वगतविशेषात् स्वाश्रयसन्निक - र्षान्नियतेन्द्रियनिमित्तमुत्पद्यते। शब्दस्य त्रयसन्निकर्षाच्छ्रोत्रसमवेतस्य तेनैवोपलब्धिः। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वस्नेहद्रवत्ववेगकर्मणां प्रत्यक्ष द्रव्यसमवायाच्चक्षुःस्पर्शनाभ्यां ग्रहणम्। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्मनसोःसंयोगादुपलब्धिः।

भावद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनामुपलभ्याधारसमवेतानामाश्रयग्राहकैरिन्द्रियैर्ग्रहमित्येत दस्मदादीनां प्रत्यक्षम् ।

अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तांनां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मा-न्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते । वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।

तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्, प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः, प्रमाता आत्मा, प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् । सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्ता-वविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम् । अस्मिन् नान्यत् प्रमाणान्तरमस्ति, अफलरूपत्वात् ।

अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्, प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः, प्रमाता आत्मा, प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।।

(अविद्या के समान) यथार्थज्ञानरूप विद्या भी चार प्रकार की है । इसके १- प्रत्यक्ष, २- लैङ्गिक (अनुमिति), ३ - स्मृति तथा ४ - आर्षज्ञान (ये चार) भेद हैं ।

इनमें (विद्या के इन चार भेदों में से प्रथम प्रत्यक्ष का इस प्रकरण में व्याख्यान किया जा रहा है) 'अक्षमक्षम्प्रतीत्योत्पद्यत इति प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय-इन्द्रिय को प्राप्त करके अर्थात् इन्द्रियों की प्राप्ति (सम्बन्ध) से जितने भी ज्ञान उत्पन्न हों, वे सभी 'प्रत्यक्ष' नामक विद्या हैं । (यद्यपि 'अक्ष' शब्द के धुरी, तराजू की डाँडी, चौसर का पासा, रुद्राक्ष, वहेड़ा, एक कल्पित रेखा जो पृथिवी के भीतरी केन्द्र से होती हुई उसके आर-पार दोनों ध्रुवों पर निकलती है और जिस पर पृथिवी घूमती हुई मानी जाती है, इन्द्रिय इत्यादि अर्थ हैं । उनमें से यहाँ) 'अक्ष' इन्द्रियाँ हैं । घ्राण, रसन (= जिह्वा में रहने वाला स्वादवोधक इन्द्रिय), चक्षु,

त्वक्(= त्वचा में रहने वाला स्पर्शन इन्द्रिय), श्रोत्र (= कर्ण) तथा मन ये छः इन्द्रियाँ (वैशेषिक मत में अभिप्रेत) हैं। वह प्रत्यक्ष द्रव्य, गुण आदि (= कर्म, सामान्य) पदार्थों के विषय में उत्पन्न होता है। (उन चारों में भी) पृथिवी, जल तथा तेज रूप तीन प्रकार के (= तिस्त्रो विधा यस्य त्रिविधः, तस्मिन्) महत्-परिमाण के आश्रय द्रव्यों में सावयवता, उद्भूत (= प्रकट-) रूप, प्रकाश (= आलोक) तथा (आत्मा, मन, वहिरिन्द्रिय एवं विषय इन) चारों के संयोगरूप कारणों से तथा धर्म, दिशा और काल इन सव का सान्निध्य रहने पर (पृथिवी आदि तीन पदार्थों के) स्वरूप का सामान्यरूप से ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक नामक प्रत्यक्ष होता है।

[द्र० वैशे० सू. ४/१/६('महत्यनेकद्रव्यवत्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः')। चतुष्टयसन्निकर्ष में आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का इन्द्रिय के साथ, तथा इन्द्रिय का अर्थ (विषय) के साथ संयोग होता है।]

सामान्य (= जाति) धर्म, विशेषधर्म, द्रव्य, गुण तथा क्रियारूप विशेषणों की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, जिसमें सविकल्पक ज्ञान के - 'सत्ता - जाति वाला गोद्रव्य है', गौ पृथिवी द्रव्य है', 'गौ सींगवाली है', 'गाय शुक्ल है', 'गाय जा रही है' इत्यादि आकार (= विशेषण) होते हैं।

[इस प्रकार द्रव्य के प्रत्यक्ष का वर्णन करके अव गुणों के प्रत्यक्ष का वर्णन करते हैं -] रूप, रस गन्ध तथा स्पर्श नाम के गुणों में अनेक अवयव वाले द्रव्यों में समवाय-सम्वन्ध से, अपने में (= रूपादिकों में) रूपत्व, रसत्व आदि सामान्य विशेष होने से, रूपादि गुणों के आश्रयद्रव्यों का ग्राहक इन्द्रियों के सन्निकर्ष से भी अपने-अपने ग्रहण में नियमित इन्द्रियों के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। -(द्र० ४/१/६,८,९;८/१/६,७)।

[अव शब्द का प्रत्यक्ष वताते हैं -] श्रोत्र इन्द्रिय में समवाय सम्वन्ध से

वर्तमान शब्द गुण का (आत्मा, मन तथा श्रोत्र इन) तीनों के सन्निकर्ष से उसी (= श्रोत्र इन्द्रिय) से प्रत्यक्ष होता है। - (द्र० २/२/२१)

[अब संख्या आदि दस गुणों तथा कर्म के प्रत्यक्ष के साधन वताते हैं -] संख्या, परिमाण, पृथक्त्व,, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, वेग नामक गुण तथा क्रिया के प्रत्यक्षयोग द्रव्य में समवेत होने पर चक्षु और त्वचा इन दोनों इन्द्रियों से ग्रहण (= प्रत्यक्ष) होता है। - (द्र० ४/१/११, ८/१/४)

[अब आत्मा में समवेत गुणों के प्रत्यक्ष का साधन बताते हैं -] बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामक (आत्मा में समवेत) गुणों का आत्मा और मन इन दोनों के ही संयोग से ग्रहण होता है।- (द्र० - ३/१/१८, ८/१/४)

[अब परसामान्य और अपरसामान्य के प्रत्यक्ष का साधन बताते हैं -]

सत्ता जाति एवं द्रवत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि जातियों का, प्रत्यक्ष के योग्य आश्रय में समवेत होने से आश्रय-पदार्थ को ग्रहण करने वाले इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। यह सब प्रत्यक्ष (योगिभिन्न) हमारे जैसे जीवों को होता है।

हमारे जैसे योगिभिन्न प्राणियों से विशिष्ट युक्त तथा वियुक्त नाम के दो प्रकार के योगियों में से प्रथम युक्त (=इन्द्रियों को विषयों से हटाकर प्रत्यक्ष के अभिमत पदार्थ में अन्तःकरण को लगाकर स्वरूप से शून्य जैसी स्थिति वाले सम्प्रज्ञात-समाधि में निमग्न) योगियों को योगाभ्यास के द्वारा परिष्कृत विशेष बलशाली निर्मल मन से अपने तथा दूसरे आत्मा, आकाश, दिशा, काल (पृथिवी, जल, तेज द्रव्यों के) परमाणु, वायु तथा मन में एवं इन सब में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष पदार्थों में तथा समवाय-सम्बन्ध में भी विपर्यय से रहित होने के कारण उनके यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

और 'वियुक्त'नामक (अत्यन्त योगाभ्यास के कारण समाधि की अवस्था में न होते हुए भी, अतीन्द्रिय वस्तुओं को भी देख सकने वाले) योगियों को आत्मा, मन, बहिरिन्द्रिय तथा विषय इन चारों के सन्निकर्ष से योगजन्य धर्म के अनुग्रह की

सहायता से उत्पन्न योग के सामर्थ्य से सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (= दीवाल आदि से घिरे हुए वस्तु) और बहुत दूर की वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होता है । - (द्र० ९/१/१३-१५)

जब (सत्तारूप) सामान्य एवं (द्रव्यत्वादि रूप) विशेष विषयों का केवल स्वरूप-ग्रहण (निर्विकल्पक ज्ञान) प्रत्यक्ष नामक प्रमाण है, (उस समय) द्रव्यादि पदार्थ प्रमेय हैं । आत्मा प्रमाता है । द्रव्य, गुण आदि विषयक ज्ञान प्रमिति (= प्रमाण की फलरूप) है । जिस समय उक्त (सत्तारूप) सामान्य और (द्रव्यत्वादि) विशेष विषयक निर्विकल्प ज्ञान ही प्रमितिरूप से (= फलरूप में) इष्ट हो, उस समय ('आलोच्यते ज्ञायते अर्थोऽनेन' इस निर्वचन के अनुसार) केवल 'आलोचन' अर्थात् (ज्ञान से निरपेक्ष) इन्द्रिय और अर्थ का सम्प्रयोग ही प्रत्यक्ष-प्रमाण है; क्योंकि वहाँ ज्ञान आदि दूसरा कोई प्रमाण विद्यमान नहीं है । तथा यह ज्ञान निर्विकल्पक होने से किसी ज्ञानरूप प्रमाण का फल भी नहीं है, इसलिए भी उक्त निर्विकल्पक ज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमिति के पक्ष में उक्त आलोचनरूप इन्द्रिय और अर्थ का सम्प्रयोग ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

[अब हान, उपादान तथा उदासीन बुद्धिरूप फल जहाँ होता है, उसमें विशेषज्ञान प्रमाण होता है - यह बताते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -]

अथवा सम्पूर्ण पदार्थों में आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय - इन चारों के (अथवा कहीं-कहीं आत्मा, मन तथा इन्द्रिय - इन तीन के या केवल आत्मा और मन- इन दो के) सन्निकर्ष से संशय एवं विपर्यय से रहित यथार्थ (= सत्य) तथा अव्यपदेश्य (= शब्द से अजन्य) जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, तथा द्रव्य, गुण इत्यादि पदार्थ (= इस प्रमाण के) प्रमेय (= ज्ञान के विषय) हैं, जीवात्मा प्रमाता (= जानने वाला) है; एवं गुणदर्शन (= उपादेयता की बुद्धि), दोषदर्शन (= हेयत्वबुद्धि) अथवा माध्यस्थ्यदर्शन (= न हेय, न उपादेय अपितु उदासीनता की बुद्धि) प्रमिति (= उक्त प्रमाण का फल) है ।

[जैसे - आत्मा, मन आदि के सन्निकर्ष से सामने के व्यक्ति को मित्ररूप में पहचानकर गले लगाने की बुद्धि उत्पन्न होती है; किसी शत्रु को प्रत्यक्ष प्रमाण से पहचानकर उससे बचने या नष्ट करने की बुद्धि, तथा मार्ग में जाते हुए सामान्य (= शत्रु या मित्र से रहित) व्यक्ति को देखकर उदासीनता (= हेयोपादेयशून्य) की बुद्धि उत्पन्न होती है। यही प्रमिति (प्रमाण का फल) है।] (यह स्वतन्त्र भाष्य है।)

इति = इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन समाप्त हुआ ।।

१९ (३२)- अनुमानप्रकरणम्

१३/६/२ (बुद्धेर्विद्याविभागे 'अनुमानम्')

उद्देशक्रम से प्रत्यक्ष नामक विद्या का वर्णन करके अनुमान के लक्षण और परीक्षण आदि के लिए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) - लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम् । लिङ्गं पुनः -

यदनुमेयेन सम्बन्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।। १ ।।

विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धमसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ।।२ ।।

यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितम्, अनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धम्, अनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति ।

यत्तु यथोक्तात् त्रिरूपाल्लिङ्गादेकेन धर्मेण द्वाभ्यां वा विपरीतं तदनुमेयस्याधिगमे लिङ्गं न भवतीति । एतदेवाह सूत्रकारः - "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' (वै.सू. ३/१/१५) इति ।

विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति । एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति ।

एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम् । शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम् । कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात् । तद्यथा अध्वर्युः 'ओं' श्रावयन् व्यवहितस्य होतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेःकुमुदविकाशस्य च, शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येत्येवमादि तत् सर्वम् 'अस्येदम्' इति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम् ।

तत्तु द्विविधम् - दृष्टं, सामान्यतो दृष्टं च ।

तत्र दृष्टं प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम् । यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरेऽपि सास्नामात्रदर्शनाद् गवि प्रतिपत्तिः ।

प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम् । यथा कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां च प्रवृत्तेः फलवत्यमुपलभ्य वर्णाश्रमिणामपि दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रवर्तमानानां फलानुमानमिति ।

तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणम् प्रमितिरग्निज्ञानम् ।

अथवाऽग्निज्ञानमेव प्रमाणं प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमित्येतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम् ।

शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः, समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्यास - न्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽ -पीति ।

श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः, 'तद्वचनादाम्नायस्य

प्रामाण्यम्'' (वैशे. १/१/३)। ''लिङ्गाच्चानित्यः'' (वैशे. २/२/३२), ''बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'' (वैशे. ६/१/१), ''बुद्धिपूर्वो ददातिः'' (वैशे. ६/१/३) इत्युक्तत्वात्।

प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात् तदप्यनुमानमेव।

आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव।

दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव श्रवणादनुमितादनुमानम्।

सम्भवोऽप्याविनाभावित्वादनुमानमेव।

अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्।

तथैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एवेति।

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम्॥

लिंग (=साधक हेतु) के ज्ञान से सम्यक् उत्पन्न (=संशय तथा विपर्यय से रहित) ज्ञान ही 'लैङ्गिक' ज्ञान (=अनुमान, अनुमिति) कहाता है।

[यहाँ 'दर्शन' शब्द सभी प्रकार के ज्ञान या उपलब्धि अर्थ में है, केवल चक्षु से उत्पन्न ज्ञान अर्थ में नहीं।]

[(प्र.) - लैङ्गिक ज्ञान में 'लिङ्ग' किसे कहते हैं ?]

(उ.) - और लिङ्ग है -

जो अनुमानयोग्य पक्ष के साथ सम्बद्ध हो (इसे पक्षसत्त्व कहते हैं), और निश्चित साध्यरूप धर्म से युक्त (दृष्टान्त) में यथार्थरूप से ज्ञात हो (इसे सपक्षसत्त्व

कहते हैं), एवं साध्याभाव के आश्रयों में जो कदापि न रहे (इस विपक्षाऽसत्त्व कहते हैं), वही (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाऽसत्व से युक्त) हेतु अनुमिति का साधक होता है ॥ १ ॥

लिङ्ग के उक्त लक्षण से विपरीत जो हेतु हो (सपक्षसत्त्वादि इन तीन लक्षणों में से) एक या दो लक्षणों से भी रहित हो, उस विरुद्ध, असिद्ध तथा सन्दिग्ध हेतु को कश्यपगोत्रोत्पन्न महर्षि कणाद ने असाधक-हेतु (= हेत्वाभास) कहा है ॥ २ ॥

[इस प्रकार सत्‌लिङ्ग तथा असत् लिङ्ग के लक्षण दो श्लोकों में संग्रह करके, भाष्यकार प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हैं] जो लिंग अनुमान करने योग्य साध्य के साथ देशविशेष में या समयविशेष में सम्बद्ध रहे, साध्यधर्म से युक्त दूसरे सपक्ष में भी सभी अधिकरणों में या एक देश में जिसकी सत्ता प्रमाण के द्वारा सिद्ध रहे और अनुमेय साध्यधर्म से शून्य सम्पूर्ण विपक्ष में जिसकी असत्ता भी प्रमाण के द्वारा निश्चित ही हो, वही अज्ञात साध्य का अनुमान कराने वाला लिङ्ग (=साधक हेतु) होता है ॥

(अब भाष्यकार द्वितीय श्लोक की व्याख्या करते हैं -) किन्तु जो पूर्वोक्त (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षाऽसत्त्व हेतुत्व के निमित्त) तीनों धर्मों में से एक या दो धर्मों से रहित (= विपरीत) हो, वह लिङ्ग अनुमानयोग्य साध्यधर्म के ज्ञान में अनुमापक हेतु नहीं होता (किन्तु हेत्वाभास होता है) । यही तथ्य (= उनका हेत्त्वाभासत्व) सूत्रकार ने कहा है - **"अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः"** (वैशे. - ३/१/१५) इति । अर्थात् अप्रसिद्ध, असिद्ध और सन्देहयुक्त निमित्त, अनुमिति का हेतु नहीं, अपितु हेत्त्वाभास होता है ।

(अनुमिति ज्ञान की उत्पत्ति की यह) रीति (=प्रकार) है, कि 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ सभी स्थानों पर अग्नि भी अवश्य होती है, और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, उन सभी स्थानों पर धूम भी नहीं होता' - इस प्रकार से जिस पुरुष को समय

अर्थात् व्याप्ति (= अविनाभाव-सम्बन्ध) का ज्ञान है, उसी पुरुष को जब धूम का असन्दिग्ध रूप से दर्शन अर्थात् निश्चय है (अर्थात् 'यह धूम ही है, वाष्पादि नहीं' - इस प्रकार का ज्ञान होता है), तब साहचर्य के अनुस्मरण से अर्थात् 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' - इस प्रकार के स्मरण के पश्चात् अग्नि का (अनुमिति रूप) निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है।

[इस प्रकार प्रसिद्ध धूम से अग्नि के अनुमान का प्रकार बताकर अन्य अनुमानों में भी उसका अतिदेश करते हुए भाष्यकार कहते हैं] इसी प्रकार अन्य सभी स्थलों पर एक वस्तु में जिस किसी दूसरी वस्तु की दैशिक और कालिक (अविनाभावरूप) व्याप्ति रहती है, वह एक वस्तु उस दूसरे की ज्ञापक हेतु होती है। वैशेषिक सूत्र में जो व्याप्ति के लिए "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्" (-९/२/१) द्वारा कार्यादि सम्बन्धों का उल्लेख किया है, वह निदर्शन (= केवल उदाहरण) के लिए है, अवधारण (=परिगणन; इतने ही हेतु होते हैं - इस निश्चय) के लिए नहीं। क्यों? (उ.) - कार्यकारणादि के न रहने पर भी अनुमान देखे जाने से। (अर्थात् कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों में से किसी के न रहने पर भी अनुमान होता है।) जैसे कि - 'ओंकार' को सुनाते हुए अध्वर्यु समूह अपने से व्यवहित भी 'होता' (ऋत्विक्) के अनुमापक होते हैं [अर्थात् जिस पुरुष को यह नियम पहले से पता है, कि सोमयाग आदि बृहत् श्रौत यज्ञ में 'होता को ही अध्वर्यु "ओं आश्रावय" शब्द सुनाते हैं, किसी दूसरे को नहीं', वही पुरुष अध्वर्यु को ओंकार का उच्चारण करते हुए देखता है और भित्ति आदि से व्यवहित होने के कारण 'होता' को नहीं देख पाता, तो भी उसे यह अनुमान हो जाता है, कि यहाँ 'होता' भी अवश्य है। जबकि अध्वर्युरूप हेतु होतारूप साध्य का न कार्य है, न कारण, न संयोगी, न विरोधी और न समवायी है।]इसी प्रकार चन्द्रमा का उदय समुद्र की वृद्धि का और कुमुद (=श्वेत कमल, जो चन्द्रमा के उदय होने पर खिलता है) के विकास का अनुमापक होता है। [यह अनुमान उसी व्यक्ति को होता

है, जिसे यह नियम ज्ञात है, कि चन्द्रमा के उदित होने एवं बढ़ने से समुद्र बढ़ता है तथा कुमुद के पुष्प खिलते हैं ।]

अथवा शरद् ऋतु में (व्याप्ति के ज्ञाता को) जल का निर्मल होना 'अगस्त्य' नामक नक्षत्र के उदय का ज्ञापक होता है । इस प्रकार (व्याप्ति के प्रयोजक) सूत्रोक्त कार्यत्वादि सम्बन्धों से भिन्न, इन प्रसंगों में व्याप्ति के प्रयोजक अवशिष्ट सभी सम्बन्धों का संग्रह (=समावेश) सूत्रकार ने उक्त (९/२ /१) सूत्र के 'अस्येदम्' इस वाक्य के द्वारा कर दिया है ।

[अब लैङ्गिक-ज्ञान (=अनुमान) का विभाग दिखाते हैं] वह अनुमान दो प्रकार का है :- १ - दृष्ट और २ - सामान्यतो दृष्ट ।

१. उन दोनों अनुमानों में से हेतु के साथ पहले जो साध्य ज्ञात है और वर्तमान में उसी हेतु से जो ज्ञाप्य साध्य (अनुमेय) है, इन दोनों के जातितः अत्यन्त अभिन्न होने पर, उस हेतु से उत्पन्न अनुमान ही 'दृष्ट' अनुमान है । जैसे - पहले अनेक बार गोत्व जाति से युक्त गो-व्यक्ति में ही सास्नादि की उपलब्धि हुई, कालान्तर में भिन्न देश में केवल सास्ना (=गलकम्बल) को देखकर जो गोत्व जाति से युक्त गो-व्यक्ति की प्रतिपत्ति (=अनुमिति) होती है, वह दृष्ट अनुमान है । इन दोनों गोविषयक ज्ञानों में गोत्व अत्यन्त अभिन्न (= एक ही) है ।

२ - जिस हेतु के साथ पूर्व में ज्ञात साध्य और उसी हेतु से वर्तमान में ज्ञाप्य साध्य दोनों विभिन्न जाति के हों; उस हेतु-सामान्य और (वर्तमान में अनुमेय) साध्यसामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान उत्पन्न होता है, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं । जैसे कृषक, वणिक और राजपुरुषों की (क्रमशः धान्यादिक, सुवर्णादिक और घोड़े हाथी आदि के रूप में) सफल प्रवृत्तियों को देखकर वर्णाश्रमियों की किसी प्रत्यक्ष फल को उद्देश्य न करके होने वाली (सन्ध्यावन्दन आदि) प्रवृत्तियों के भी (स्वर्ग, मोक्ष आदि) फल का अनुमान होता है । [अर्थात्

उक्त अनुमान 'शिष्ट जनों की सभी प्रवृत्तियाँ सफल ही होती हैं' - इस सामान्य व्याप्ति के बल से ही होता है । क्योंकि रजोगुण, तमोगुण के प्रभाव से रहित शिष्टों / ऋषियों की प्रवृत्तियों का लौकिक धन, मान आदि की प्राप्ति लक्ष्य नहीं होता । अतः बार्हस्पत्यों (चार्वाक लोगों) का यह कथन ठीक नहीं है, कि--

'अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।।' (-द्र. - सर्वदर्शनसंग्रहादि)

उक्त लैङ्गिक ज्ञान में लिङ्ग (=हेतु) का ज्ञान ही (अनुमान) प्रमाण (=प्रमाकरणम्) है एवं (उससे उत्पन्न) अग्नि का ज्ञान ही (फलरूपा) प्रमिति है । अथवा (कथित) अग्नि का ज्ञान ही (अनुमान) प्रमाण है । अग्नि में (उष्णत्व) गुण (के कारण उपादेयता), (दाहकता) दोष (के कारण हेयत्व) तथा (हेय-उपादेय शून्य होने पर) उपेक्षा की बुद्धि ही प्रमिति (= अनुमिति) है । ये सभी अनुमान करने वाले पुरुष में ही निश्चय (= अनुमिति) के उत्पादक (= स्वार्थानुमान) हैं ।

[प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त शब्द, उपमान आदि प्रमाणों को भी नैयायिकादि स्वीकार करते हैं, फिर आपने उनका व्याख्यान क्यों नहीं किया ? इस सम्भावित आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं] शब्द, उपमान आदि प्रमाणों का भी अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव होता है; क्योंकि (शब्दादि प्रमाणों से भी अनुमान प्रमाण के) समान रीति से (व्याप्ति के बल पर) प्रमिति की उत्पत्ति होती है । जैसे - [प्रसिद्धः समयो (=व्याप्तिः)यस्य] व्याप्ति के ज्ञाता पुरुष को निश्चित हेतु के दर्शन तथा व्याप्ति के स्मरण - इन दोनों से अप्रत्यक्ष पदार्थ की अनुमिति होती है; उसी प्रकार शब्दादि प्रमाणों से भी अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान होता है ।

वेद एवं स्मृतिरूप आम्नाय (=शब्द) भी (लौकिक शब्द के समान, अपने द्वारा प्रमारूप बोध के उत्पादन में) वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा करता है । (क्योंकि यही बात) **''तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्''** (= उस साक्षात् द्रष्टा का

वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है), "**लिङ्गाच्चानित्यः०**" (= अनुमान प्रमाण से भी वैदिक शब्द अनित्य है), "**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**" (= वेद में वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक है), "**बुद्धिपूर्वो ददातिः**" (= वेद में दानकर्म का निर्देश भी बुद्धिपूर्वक है) - इत्यादि सूत्रों के द्वारा कही गयी है ।

[कुछ लोग संकेतरूप 'चेष्टा' को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, उसके भी खण्डन के लिए भाष्यकार कहते हैं](हस्त के आकुंचन, तर्जनी दर्शन आदि) चेष्टा के द्वारा संकेतित अर्थ के व्याप्ति-सहित ज्ञान से युक्त पुरुष को ही उस चेष्टा से अर्थ का बोध होने से, संकेतरूप चेष्टा भी अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत है (अतिरिक्त प्रमाण नहीं है) । [नैयायिक आदि कुछ लोग 'उपमान' को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं । उसका निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -]

[आप्तिः =अर्थस्य साक्षात् प्राप्तिः (=यथार्थोपलब्धिः तया वर्तते = आप्तः (= साक्षात्कृतधर्मा) = यथार्थज्ञाता ।] (अज्ञ नगरवासी पुरुष को) सर्वथा अज्ञात गवय का ज्ञान, आप्त पुरुष से उच्चरित 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के द्वारा गोशब्द से 'गवय' के प्रतिपादन' से होता है । अतः उपमान भी आप्तवचन (शब्द) के ही अन्तर्गत है । (इसलिए 'उपमान' भी अनुमान ही है ।)

[अनुमान में ही 'अर्थापत्ति' के अन्तर्भाव के लिए भाष्यकार कहते हैं -] प्रमाणों के द्वारा ज्ञात अर्थ से, जो अन्य अर्थ की अवगति (= दृष्टार्थापत्ति) होती है वह विरोधि (= व्यतिरेकी) अनुमान ही है । [जैसे - १ - 'जीवति चैत्रो गृहे नास्ति' (= चैत्र जीवित है, किन्तु घर में नहीं है; अर्थात् घर से बाहर है - यह विरोधि अनुमान होता है यही दृष्टार्थापत्ति है ।२ - 'सति मेघे वृष्टिः' =मेघों के होने पर वृष्टि होती है; अर्थात् मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती - यह विरोधि अनुमान अथवा दृष्टार्थापत्ति है ।]

वाक्य के श्रवण से जो अर्थावगति (= श्रुतार्थापत्ति) होती है, वह भी

अनुमितानुमान ही है। [जैसे - 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' (= पीन अर्थात् मोटा - ताजा देवदत्त नामक व्यक्ति दिन में भोजन नहीं करता; अर्थात् रात्रि में भोजन करता है। यहाँ पीनत्व के कारणभूत रात्रिभोजन का अनुमान ही होता है।]

[कुमारिलभट्ट ने छह प्रमाणों के विपरीत कल्पना से अर्थापत्ति का स्वरूप एक श्लोक में बताया है -

''प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।

अदृष्टं कल्पयेदन्या सार्थापत्तिरुदाहृता ।। - (मी. श्लोक वा. ५४५ पृ.)

अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव इन प्रमाणों से ज्ञात अर्थ से विपरीत अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति है। इसी अर्थापत्ति का यहाँ अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है।]

[कुछ आचार्य सम्भव और अभाव को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं; उनका निषेध करते हुए 'अनुमान' में ही उनका अन्तर्भाव दिखाने के लिए भाष्यकार कहते हैं -]

सम्भव प्रमाण भी अविनाभाव (=व्याप्ति) के होने से अनुमान ही है। [जैसे - हजार में सौ का होना सम्भव है। - यहाँ हजार में सौ का व्याप्तिरूप सम्बन्ध है; अतः हजार संख्या से जो शत संख्या का ज्ञान होता है, वह भी अनुमान ही है।]

अनुपलब्धि रूप 'अभाव' प्रमाण भी 'अनुमान' प्रमाण ही है। जैसे - उत्पन्न (घट आदि) कार्य (अपनी उत्पत्ति से चक्र, दण्ड, कुलाल आदि) कारण सामग्री की पूर्व सत्ता का ज्ञापक हेतु है, उसी प्रकार अनुत्पन्न (घट आदि) कार्य (का प्रागभाव भी) उक्त सामग्री का असत्ता का ज्ञापक हेतु है।

[अतः सम्भव और अभाव दोनों का भी अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव

समझना चाहिए । अभाव के चार भेद हैं - १ - प्रागभाव, २. - प्रध्वंसाभाव ३ - इतरेतराभाव (= अन्योऽन्याभाव) और ४ - अत्यन्ताभाव । - इन सभी का अनुमान में अन्तर्भाव है ।]

उसी प्रकार 'ऐतिह्य' (= इति ह + ष्यञ् = ऐतिह्य = पुरावृत्त = इतिहास) भी सत्य अर्थ का वोधक एवं आप्त पुरुष से उच्चरित शब्दप्रमाण ही है (जो पूर्ववत् 'अनुमान' ही है) । अर्थात् 'ऐतिह्य' का भी अनुमान में अन्तर्भाव है ।

अपना निश्चित अर्थ दूसरे को समझाने के लिए (प्रसिद्ध प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन - इन) पञ्चावयव (= पाँच अवयव) वाक्यों का प्रयोग ही 'परार्थानुमान' है । अर्थात् संशय विपर्यय या अव्युत्पत्ति से युक्त दूसरे पुरुष को स्वयं निश्चित किए हुए विषय का पञ्चावयव वाक्य के द्वारा प्रतिपादन ही 'परार्थानुमान' समझना चाहिए ।।

२०(३३) - अवयवप्रकरणम् (प्रतिज्ञा)

१३/६/२/१ - (बुद्धेर्विद्याविभागे 'अनुमाने' अवयवेषु 'प्रतिज्ञा')

पूर्वोक्त परार्थानुमान के उत्पादक महावाक्य के पाँच अवयव बताए हैं । वे पाँच अवयव कौन-कौन से हैं, तथा उनका क्या स्वरूप है ? इस शंका का समाधान करने के लिए अलग प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है । अर्थात् अगला पाँच अवयवों का निरूपण करने वाला विस्तृत प्रकरण-समूह अनुमान का ही आवान्तर भेद है । इन पाँच अवयवों में से प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' का व्याख्यान किया जा रहा है -

(प्रश.) :- **अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः । तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा । प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा । यथा-द्रव्यं वायुरिति ।**

बुद्धिप्रकरणे (अवयवेषु) प्रतिज्ञा

अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति । यथा - अनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी, घनमम्बरम् इत्यनुमानविरोधी, 'ब्राह्मणेन सुरा पेया' - इत्यागमविरोधी, वैशेषिकस्य सत्कार्यम् इति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी, न शब्दोऽर्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी ।।

वे अवयव - १- प्रतिज्ञा, २ - अपदेश (=हेतु), ३ - निदर्शन (=उदाहरण), ४ - अनुसन्धान (=उपनय) और ५ - प्रत्याम्नाय (= निगमन) [भेद से पाँच प्रकार के] हैं ।

उन पाँच अवयवों में से [क्रमप्राप्त प्रतिज्ञा का लक्षण करते हैं -]'अनुमेय' का (= अनुमान के लिए अभिप्रेत विषय का वह कथन (= प्रतिपादक वाक्य) 'प्रतिज्ञा' है, जो (प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से) विरुद्ध न हो । (अर्थात्) जिस धर्म (=साध्य) का प्रतिपादन अभिप्रेत हो, उस धर्म (=साध्य) से युक्त धर्मी का हेतु के सम्बन्ध को दिखाने के लिए प्रयुक्त (साध्य से युक्त पक्ष का बोधक) वाक्य ही 'प्रतिज्ञा' है । जैसे - वायु द्रव्य है' इत्यादि । [न्याय शास्त्र में भी कहा है 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' - (न्या. १/१/३३)]

(प्रतिज्ञा के लक्षणवाक्य में) 'अविरोधी' पद के ग्रहण से १ - प्रत्यक्षविरुद्ध, २ - अनुमानविरुद्ध, ३ - आगम-विरुद्ध, ४ - स्वशास्त्र के विरोधी एवं ५ - स्ववचन के विरुद्ध प्रतिज्ञाओं का निराकरण हो जाता है । जैसे १ - 'अनुष्णोऽग्निः' (= अग्नि उष्ण नहीं है) - ऐसी प्रतिज्ञा, प्रत्यक्षप्रमाण से विरुद्ध है । २ - 'घनमम्बरम्' (= आकाश घने संघात वाला = निविडसंयोग वाला है) - ऐसी प्रतिज्ञा अनुमानप्रमाण से विरुद्ध है (क्योंकि अनुमान से ही आकाश का अमूर्तत्व एवं विभुत्व प्रसिद्ध है) । ३ - 'ब्राह्मणेन सुरा पेया' (=ब्राह्मण को शराव पी लेनी चाहिए, यह पाप का कारण नहीं होती) - ऐसी प्रतिज्ञा आगमप्रमाण से विरुद्ध है । [क्योंकि मानवधर्मशास्त्र में कहा है -

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ।। - (मनु.११/९३)

अर्थात् सुरा (= मदिरा, शराब) अन्नों (=खाद्य पदार्थों) का मल है, और मल पाप कहा जाता है । इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य बुद्धिनाशक सुरा को न पीवे ।]

४ - 'सत्कार्यम्' (= अपनी उत्पत्ति से पहले भी कार्य विद्यमान ही रहता है) - ऐसा कहने वाले, वैशेषिक शास्त्र को मानने वाले की यह प्रतिज्ञा वैशेषिक दर्शनरूप अपने शास्त्र के ही विरुद्ध है । ५ - 'न शब्दोऽर्थप्रत्यायकः' (= शब्द किसी अर्थ का बोधक नहीं होता) - ऐसी प्रतिज्ञा स्ववचन से विरुद्ध होगी । [क्योंकि वादी अपनी मान्यता को समझाने के लिए शब्दों का प्रयोग भी करे और शब्द को अर्थप्रत्यायक भी न माने, ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं । तब तो वादी का वाक्य भी अर्थ का बोधक नहीं होगा ।] -द्र. ३/१/१५

२१ (३४) - अपदेशप्रकरणम् (हेतुवैधर्म्यम्)

१३/६/२/२ (बुद्धेर्विद्याविभागे 'अनुमाने' अवयवेषु 'अपदेशः'= हेतुः)

पूर्वोक्त परार्थानुमान के उत्पादक महावाक्य के पाँच अवयवों में से द्वितीय 'अपदेश' (=हेतु) का स्वरूप बताते हैं -

(प्रश.)- लिङ्गवचनमपदेशः । यदनुमेयेन सहचरितं तत्समानजातीये सर्वत्र सामान्येन प्रसिद्धं तद्विपरीते च सर्वस्मिन्नसदेव तल्लिङ्गमुक्तम् । तस्य वचनमपदेशः । यथा क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च । तथा च तदनुमेयेऽस्ति तत्समानजातीये च सर्वस्मिन् गुणवत्त्वम्, असर्वस्मिन् क्रियावत्त्वम् । उभयमप्येतद् अद्रव्ये नास्त्येव । तस्मात् तस्य वचनमपदेश इति सिद्धम् ।।

लिङ्ग का वचन (= हेतुबोधक वाक्य) ही 'अपदेश' कहाता है । अर्थात् जो

अनुमेय (= अनुमान के योग्य पक्ष) में साध्य के साथ वर्तमान रहे, सभी सजातीयों (= दृष्टान्तों) में सामान्य रूप से (साध्य के साथ) ज्ञात हो और उसके विपरीत अर्थात् सभी विपक्षों में जो कदापि न रहे, उसे लिङ्ग (=हेतु) कहा गया है, उस हेतु का प्रतिपादक वाक्य ही 'अपदेश' है। जैसे (प्रतिज्ञा के रूप में 'द्रव्यं वायुः' ऐसा कहने के पश्चात् हेतु के रूप में) 'क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च' (= क्रियावान् होने से एवं गुणवान होने से) ये वाक्य हैं। इनमें 'गुणवत्त्व' हेतु तो अनुमेय वायुरूप द्रव्य में विद्यमान है और अन्य उसके सजातीय (दृष्टान्तों घट, पट आदि) द्रव्यों में भी है। क्रियावत्त्व हेतु वायु में रहते हुए (एवं सभी दिगादि द्रव्य क्रिया के समवायिकारण न रहने पर भी) मूर्त्तद्रव्यों में तो है ही। किन्तु ये दोनों हेतु विपक्षरूप सभी अद्रव्य पदार्थों में तो होते ही नहीं। इसलिए (= क्योंकि ये दोनों ही कारण, हेतु के उक्त लक्षणों से युक्त हैं, अतः) इनके बोधक उक्त वाक्य 'अपदेश' हैं - यह सिद्ध हुआ। -- (द्र. ९/२/१-२)।

२२ (३५) - अनपदेश - (= हेत्वाभास-) निरूपणम्

इन पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व से युक्त सद् हेतुरूप (=अपदेश) का वर्णन करके अब प्रसंग - संगति से हेत्वाभास (=असद्धेतु। 'अहेतवः सन्तो हेतुवद् आभासन्त इति हेत्वाभासाः' = जो हेतु न होते हुए भी हेतु के समान प्रतीत होते हैं उन्हें हेत्वाभास कहते हैं। उस) का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) : एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति।

तत्रासिद्धश्चतुर्विध :- उभयासिद्धः, अन्यतरासिद्धः, तद्भावासिद्धः, अनुमेयासिद्धश्चेति।

तत्रोभयासिद्धः - उभयोर्वादिप्रतिवादिनोरसिद्धः। यथा - अनित्यः शब्दः सावयवत्वादिति।

अन्यतरासिद्धो यथा - अनित्यः शब्दः कार्यत्वादिति।

तद्भावासिद्धो यथा - धूमभावेनाग्न्यधिगतौ कर्तव्यायामुपन्यस्यमानो वाष्पो धूमभावेनासिद्ध इति ।

अनुमेयासिद्धो यथा - पार्थिवं द्रव्यं तमः, कृष्णरूपवत्त्वादिति ।

यो हि अनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन् नास्ति, तद्विपरीते चास्ति, स विपरीतसाधनाद् विरुद्धः, यथा - यस्माद् विषाणी तस्मादश्व इति ।

यस्तु सन्ननुमेये तत्समानासमानजातीययोः साधारणः सन्नेव स सन्देहजनकत्वात् सन्दिग्धः । यथा - यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति ।

एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् । यथा - मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्वास्पर्शवत्त्वयोरिति ।

नन्वयमसाधारण एवाऽचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् । ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्यामः ।

ननु शास्त्रे तत्र तत्रोभयथा दर्शनं संशयकारणमपदिश्यत इति, न संशयो विषयद्वैतदर्शनात् । संशयोत्पत्तौ विषयद्वैतदर्शनं कारणम्, तुल्यबलत्वे च तयोः परस्परविरोधान्निर्णयानुत्पादकत्वं स्यान्नतु संशयहेतुत्वम् । न च तयोस्तुल्यबलत्वमस्ति, अन्यतरस्यानुमेयोद्‌देशस्यागमबाधितत्वाद्, अयं तु विरुद्धभेद एव ।

यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरसन्नेव सोऽन्यतरासिद्धोऽनध्यवसायहेतुत्वाद् अनध्यवसितः यथा - सत्कार्यम् उत्पत्तेरिति । अयमप्रसिद्धोऽनपदेश इति वचनादवरुद्धः ।

ननु चायं विशेषः संशयहेतुरभिहितः शास्त्रे "तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथादृष्टत्वादि" ति (वैशे. २/२/२२)?

न, अन्यार्थत्वात् । शब्दे विशेषदर्शनात् । संशयानुत्पत्तिरित्युक्ते, नार्थं द्रव्यादीनामन्यतरस्य विशेषः स्याच्छ्रावणत्वम्, किन्तु सामान्यमेव सम्पद्यते । कस्मात् ? तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु द्रव्यादिभेदानाम् एकैकशो विशेषस्योभयथा दृष्टत्वादित्युक्तम्, न संशयकारणम् । अन्यथा षट्स्वपि पदार्थेषु संशयप्रसङ्गात् । तस्मात् सामान्यप्रत्ययादेव संशय इति ॥

इससे (अर्थात् अपदेश = सद्धेतु के अनुमेय - सम्बद्धत्वादि लक्षणों के कथन से) १ - असिद्ध, २ - विरुद्ध, ३ - सन्दिग्ध, ४ - अनध्यवसित (= अनिश्चित) वचनों में अनपदेशत्व' अर्थात् हेत्वाभासत्व का भी अर्थतः कथन हो जाता है।

उन (= चारों हेत्वाभासों) में (प्रथम) 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास चार प्रकार का है - १. उभयासिद्ध (= दोनों के मत से असिद्ध,) २ - अन्यतरासिद्ध (= दोनों में से किसी एक के मत से असिद्ध), ३ - तद्भावासिद्ध (= हेतुस्वरूप से असिद्ध) और ४ - अनुमेय (= आश्रय) से असिद्ध।

१ - उन (= 'असिद्ध' हेत्वाभास के चारों उपभेदों) में से (प्रथम) 'उभयासिद्ध' हेत्वाभास वादी तथा प्रतिवादी दोनों के ही मत में असिद्ध होता है। जैसे - 'शब्द अनित्य है, सावयव होने से। [यहाँ शब्द की अनित्यता में दिया गया 'सावयवत्व' हेतु, शब्द को अनित्य मानने वाले वादी (= नैयायिक) एवं शब्द को नित्य मानने वाले प्रतिवादी (= मीमांसक तथा वैयाकरण) दोनों के मत में असिद्ध (= अमान्य) है।]

२ - 'अन्यतरासिद्ध' हेत्वाभास = वादी तथा प्रतिवादी दोनों में से एक के मत में असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण - 'अनित्यः शब्दः कार्यत्वात्'। [यहाँ शब्द की अनित्यता में कार्यत्व हेतु का प्रयोग 'अन्यतरासिद्ध' हेत्वाभास है; क्योंकि वादी (= वैशेषिक, नैयायिक) ही शब्द को कार्य मानते हैं, प्रतिवादी (=मीमांसक, वैयाकरण) उसे कार्य नहीं मानते।]

३ - तद्भावासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण - धूम हेतु से अनुमान द्वारा अग्नि का ज्ञान होता है; किन्तु अग्नि के ज्ञान के लिए वाष्प को धूम समझकर उसे हेतुरूप में प्रस्तुत करना 'तद्भावासिद्ध' हेत्वाभास है; क्योंकि धूम का धूमत्व धर्म वाष्प में सिद्ध नहीं है ।

४ - 'अनुमेयासिद्ध' हेत्वाभास, जैसे - 'पार्थिवं द्रव्यं तमः, कृष्णरूपवत्त्वादिति' (=अन्धकार पार्थिव द्रव्य है, श्यामवर्ण होने से ।) यहाँ 'श्याम (कृष्ण-) रूपवत्त्व' हेतु 'अनुमेयासिद्ध' हेत्वाभास है । [वस्तुतः 'तम' नाम का कोई द्रव्य ही नहीं है; क्योंकि कृष्णरूप (गुण) का तेज के अभाव में आरोपमात्र होता है । यदि यह 'तम' द्रव्य होता तभी पार्थिव हो सकता था । किन्तु 'तम' में द्रव्यत्व ही सिद्ध नहीं, तो फिर उसमें पार्थिवत्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त कृष्णरूपवत्त्व हेतु 'अनुमेयासिद्ध' हेत्वाभास है ।]

[असिद्ध हेत्वाभास के निरूपण के पश्चात् अव क्रमप्राप्त द्वितीय 'विरुद्ध' - हेत्वाभास का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -]

२ - (विरुद्ध) जो हेतु अनुमान के योग्य पक्ष (= साध्य) में एवं उसके सजातीय (= सपक्ष, दृष्टान्त) में भी न रहे; वह हेतु साध्य के विपरीत पदार्थ का साधक होने से 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास होता है ।

जैसे - 'यस्माद् विषाणी तस्मादश्व इति ।' (= जिस कारण यह पशु शृंगवान् है, इसलिए यह अश्व है । - यह हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास है । [अर्थात् कोई व्यक्ति जिस समय वन में छिपे हुए गोरूप अवयवी के केवल सींग को देखकर इस अनुमान वाक्य का प्रयोग करे, कि - 'यह दीखने वाला पिण्ड घोड़ा है; क्योंकि इसके सींग हैं' - उस समय यह 'विषाणित्व' हेतु 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास है; क्योंकि अश्वरूप पक्ष में तथा उसके सजातीय गदहे आदि में विषाणित्व हेतु नहीं है, अपितु अश्व के विपरीत गो-महिषादि विपक्षों में विषाणित्व हेतु विद्यमान है । इस विपरीत

व्याप्ति के कारण विषाणित्व हेतु वन में दीखने वाले उक्त पिण्ड में अश्वत्व के विरुद्ध अश्वभिन्नत्व का ही साधक होने के कारण 'विरुद्ध' - हेत्वाभास है ।]

३ - (सन्दिग्ध) - किन्तु जो हेतु अनुमेय (= साध्य पक्ष) में वर्तमान होता हुआ उसके सजातीय और विरुद्धजातीय दोनों प्रकार की वस्तुओं में भी समानरूप से सम्बद्ध रहता है, वह (पक्ष में साध्य के) सन्देह का उत्पादक होने से 'सन्दिग्ध' - नामक (अनैकान्तिक) हेत्वाभास होता है । जैसे - यह पिण्ड (= शरीर) गौ है, श्रृंगवान् होने से । [यहाँ गौ के अनुमान में विषाण (=सींग) हेतु सन्दिग्ध हेत्वाभास है; क्योंकि यह (श्रृंगवत्ता का) हेतु विद्यमान गोरूप पक्ष में, अन्यगोरूप सपक्ष में तथा महिष रूप विपक्ष में भी वर्तमान होने के कारण गोत्वरूप साध्य के सिद्ध करने में संशय का कारण होने से 'सन्दिग्ध' हेत्वाभास है ।]

(पूर्वपक्ष-) [जिस प्रकार सपक्ष एवं विपक्ष में एकधर्म के दर्शन से धर्मी पक्ष में साध्य का सन्देह होने से सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास होता है ; उसी प्रकार] एक धर्मी में समान बल वाले दो विरुद्ध हेतुओं के प्राप्त होने पर साध्य का सन्देह होने से भी 'सन्दिग्ध' - हेत्वाभास होता है, - ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं । जैसे - १ - मन मूर्त है, क्रियावान् होने से (शरीर के समान); २ - मन अमूर्त है, स्पर्शगुण का आश्रय न होने से (आकाश के समान) । [इस प्रकार मूर्तत्व एवं अमूर्तत्वरूप विरुद्ध अर्थ के साधक क्रियावत्त्व एवं अस्पर्शत्व - इन दो हेतुओं के प्राप्त होने से 'मन मूर्त है या अमूर्त - ऐसा सन्देह होने से भी 'सन्दिग्ध' नामक हेत्वाभास होता है ।]

(उत्तर पक्ष-) जिस प्रकार अचाक्षुषत्व एवं प्रत्यक्षत्व ये दोनों विशेषताएं किसी आकाशादि द्रव्य में नहीं देखी जातीं, किन्तु रस या गन्ध गुण में सम्मिलित होकर रह सकने से असाधारण (=विशेष) होते हैं; उसी प्रकार (क्रियावत्त्व तथा अस्पर्शवत्त्व ये दोनों गुण मन से भिन्न द्रव्यों में स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग रहते हुए भी, सम्मिलित होकर केवल मन रूप पक्ष में ही रहते हैं, अन्य किसी पक्ष, सपक्ष

या विपक्ष में नहीं रहते । अतः) क्रियावत्त्व से युक्त अस्पर्शवत्त्व मन का असाधारण (= विशेष) गुण ही है, (सन्दिग्ध नहीं ।) हम आगे कहेंगे, कि (ऐसे अनिश्चय की स्थिति में अचाक्षुषत्व-विशिष्ट प्रत्यक्षत्व अथवा क्रियावत्त्व-विशिष्ट अस्पर्शवत्त्व) 'अनध्यवसित' हेत्वाभास होगा, (सन्दिग्ध नहीं) ।

(पू.) - (वैशेषिकसूत्ररूप) शास्त्र में अनेक स्थानों पर (एक धर्मी में) दो विरुद्ध धर्मों के ज्ञान को संशय का कारण कहा गया है । [जैसे - ''दृष्टं च दृष्टवत्'' (२/२/१८), ''यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च'' (२/२/१९) आदि]

(उ.) - (कोई भी शास्त्रविरोध) नहीं है, किसी विषय में दो विरुद्ध प्रकार के ज्ञान से संशय उत्पन्न होने से (न कि एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के ज्ञान से) । अर्थात् संशय की उत्पत्ति में एक ही विषय में दो प्रकार का विरुद्ध ज्ञान कारण होता है । उन पूर्वोक्त (क्रियावत्त्व तथा अस्पर्शवत्त्व) दोनों हेतुओं के समान वल होने पर परस्पर विरोध होने पर दोनों में से कोई निश्चय को उत्पन्न नहीं कर सकेगा । इससे उनमें संशय की कारणता नहीं आ सकेगी । वस्तुतः मूर्तत्व का हेतु क्रियावत्त्व तथा अमूर्तत्तव का हेतु अस्पर्शवत्त्व ये दोनों समान बल के हैं भी नहीं; क्योंकि इन दोनों में से एक (अस्पर्शवत्त्व) का साध्य (अमूर्तत्व) मन के सम्बन्ध में ('अमूर्त्त मनः' यह वचन) **'तदभावादणु मनः'** (७/१/२३) इस वैशेषिक सूत्ररूप आगम से बाधित है । अतः (पूर्वपक्षी जिसे दूसरे प्रकार का सन्दिग्ध हेत्वाभास कहता है) वह तो विरुद्ध हेत्वाभास का ही एक भेद है ।

४ - (अनध्यवसितः) - पूर्वोक्तअन्यतरासिद्ध हेत्वाभास ही यदि अनुमेय (=पक्ष) में वर्तमान रहे; किन्तु सपक्ष एवं विपक्ष में न रहे, तो वही अनिश्चय का कारण होने से 'अनध्यवसित' हेत्वाभास कहा जाता है । जैसे - ('सत्कार्यम् उत्पत्तेः') = सम्पूर्ण जगत् रूप कार्य, उत्पन्न होने से (पूर्व भी) सत् है - इस अनुमान का उत्पत्तिमत्त्व हेतु 'अनध्यवसित' नामक हेत्वाभास है । इस हेत्वाभास का संग्रह

सूत्रकार ने '**अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः**' (३/१/१५) इस सूत्र के द्वारा किया है ।

(पूर्वपक्ष -) - यह (= केवल पक्ष में ही रहने वाला, सपक्ष और विपक्ष में न रहने वाला) हेतु "**तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्**" (वैशे. २/२/२२) इस सूत्र में संशय का कारण कहा गया है; इसलिए कथित 'अनध्यवसित हेत्वाभास' उक्त लक्षण युक्त होने से संशय का ही कारण होगा, अनध्यवसाय हेत्वाभास का नहीं ।

(उत्तरपक्ष) - यह आक्षेप ठीक नहीं है, सूत्र का अन्य अर्थ होने से । किसी ने आक्षेप किया, कि शब्द में श्रावणत्व (कान से सुनना) रूप उसका विशेष (= असाधारण) धर्म देखा जाता है, इसलिए कान से सुने जाने वाले तथा सत्ता जाति से सम्बद्ध शब्द में 'यह द्रव्य है ? या गुण है ? अथवा कर्म है ? इस प्रकार का संशय नहीं होगा । इस आक्षेप का समाधान उक्त सूत्र के द्वारा किया गया है, कि - 'श्रावणत्व' द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों में से किसी का 'विशेष' (=असाधारण) धर्म नहीं है । उनका तो वह साधारण धर्म ही प्रतीत होता है; क्योंकि द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों में से प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण तथा प्रत्येक कर्म का असाधारण धर्म अपने सजातीयों के सामान्य धर्म के साथ ही देखा जाता है । उक्त सूत्र (२/२/२२) के द्वारा यह नहीं कहा गया, कि विशेष (=असाधारण) धर्म संशय का कारण होता है । यदि ऐसा न हो तो (शब्द में गुणत्व के संशय के समान) सभी छह पदार्थों में संशय की आपत्ति होगी । अतः सामान्य (= साधारण) धर्म के ज्ञान से ही संशय होता है । (विशेष धर्म के ज्ञान से नहीं) । इति=यह हेत्वाभास का निरूपण पूरा हुआ ।

२३ (३६) - निदर्शनप्रकरणम् (उदाहरणम्)

१३/६/२/३ - (बुद्धेर्विद्याविभागे 'अनुमाने' अवयवेषु 'निदर्शनम्' = उदाहरणम्)

अब परार्थानुमान के उत्पादक महावाक्य के पाँच अवयवों में से तृतीय, 'निदर्शन' (= उदाहरण) का स्वरूप बताते हैं -

(प्रश.): द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण च / तत्रानुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानदर्शनं साधर्म्यनिदर्शनम् । तद्यथा - यत् क्रियावत् तद् द्रव्यं दृष्टम्, यथा शर इति ।

अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम् । तद्यथा - यदद्रव्यं तत् क्रियावन्न भवति । यथा-सत्तेति ॥

[निदर्श्यते साधनसाध्ययोर्व्याप्तिरनेनेति निदर्शनम्, व्याप्तिप्रतिपादकं दृष्टान्त -वचनम्'' । अर्थात् साधन और साध्य की व्याप्ति का प्रतिपादक वाक्यरूप उदाहरण 'निदर्शन' कहाता है ।]

साधर्म्य (= समान धर्म) से और वैधर्म्य (=विरुद्ध धर्म) से निदर्शन (= उदाहरण, दृष्टान्त) दो प्रकार का होता है । उन दोनों में से अनुमेय (साध्य) सामान्य के साथ लिङ्ग (= हेतु) सामान्य का अनुसरण जहाँ देखा जाय, वह 'साधर्म्य निदर्शन' (= साधर्म्य से उदाहरण) होता है । जैसे कि - जिसमें क्रिया होती है, वह द्रव्य ही होता है, जैसे वाण (में क्रिया देखी जाती है और वह द्रव्य है) ।

[इसके विपरीत] अनुमेय (=साध्य) के अभाव में लिङ्ग (= हेतु) के अभाव का अनुसरण जहाँ देखा जाय, वह 'वैधर्म्य-निदर्शन' (=वैधर्म्य) का उदाहरण होता

है। जैसे कि - जो द्रव्य नहीं होता, उसमें क्रिया भी नहीं रहती, यथा - सत्ता (जाति) द्रव्य नहीं है, अतः उसमें क्रिया भी नहीं है। - (द्र.९/२/१-२)।

[इसी प्रकार न्यायदर्शन में भी 'उदाहरण' का लक्षण है - **"साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्"**। "तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्।" - (न्याय. - १/१/३६, ३७)]

२४(३७) - निदर्शनाभास - (= उदाहरणाभास -) निरूपणम्

निदर्शन का वर्णन करके अब प्रसङ्ग-संगति से निदर्शनाभास (=असदुदाहरण। 'अनिदर्शनान्यपि केनचित् साधर्म्येण निदर्शनवद् आभासन्त इति निदर्शनाभासाः = जो निदर्शन न होते हुए भी किसी समानता से निदर्शन के समान प्रतीत होते हैं, उन्हें 'निदर्शनाभास' कहते हैं। उन) का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) : अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति। तद्यथा - नित्यः शब्दः, अमूर्तत्वात्; यदमूर्तं दृष्टं तन्नित्यम्। यथा परमाणुः, यथा कर्म, यथा स्थाली, यथा तमः, अम्बरवदिति। यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रया सिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः।

यदनित्यं तन्मूर्तं दृष्टम्, यथा कर्म, यथा परमाणुः, यथाऽऽकाशम्, यथा तमः, घटवत्। यन्निष्क्रियं तद् अद्रव्यञ्चेति, लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्त-विपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शाभासा इति॥

निदर्शनों के इस पूर्वोक्त वर्णन से (जो वास्तव में निदर्शन नहीं हैं; किन्तु अज्ञानियों के द्वारा निदर्शन के रूप में प्रयुक्त होने से निदर्शन=उदाहरण के समान प्रतीत होते हैं, उन) निदर्शनाभासों का निदर्शनत्व खण्डित हो जाता है।

जैसे - शब्द नित्य है, मूर्त न होने से, जो अमूर्त होता है वह नित्य देखा जाता

है। जैसे -१ - परमाणु, २ - जैसे - कर्म, ३ - जैसे - थाली (आदि वर्तन), ४ - जैसे - अन्धकार, ५ - जैसे - आकाश, तथा ६ - जो द्रव्य होता है, वह क्रियाश्रय दीखता है, जैसे - आकाश यह भी (निदर्शन है)। वस्तुतः ये सभी उदाहरण क्रमशः १ - लिङ्गासिद्ध, २ - अनुमेयासिद्ध, ३ - उभयासिद्ध, ४ - आश्रयासिद्ध, ५ - अननुगत, और ६ - विपरीतानुगत ये छह भेद साधर्म्य - निदर्शनाभास के हैं।

[इन सभी का स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए - १ - परमाणु का उदाहरण, परमाणु के मूर्त्त होने से 'लिंगासिद्ध' है, क्योंकि निदर्शन = उदाहरण में साध्य के समान हेतु का निश्चित रहना भी आवश्यक है।

२ - कर्म का उदाहरण 'अनुमेयासिद्ध' निदर्शनाभास है, क्योंकि क्रिया में नित्यत्व रूप अनुमेय अर्थात् साध्य ही सिद्ध नहीं है।

३ - स्थाली (=वटलोई) रूप उदाहरण 'उभयासिद्ध' नामक निदर्शनाभास है; क्योंकि स्थाली आदि वर्तन में नित्यत्वरूप अनुमेय और अमूर्तत्वरूप लिङ्ग दोनों ही सिद्ध नहीं हैं।

४ - 'तमः' यह दृष्टान्त उसके भावपदार्थ न होने से 'आश्रायासिद्ध' नामक चतुर्थ निदर्शनाभास है।

५ - यदि कोई 'शब्दो नित्यः, अमूर्तत्वात्' इतना ही प्रयोग करे, किन्तु 'यदमूर्तं तन्नित्यं दृष्टम्' इस व्याप्ति सूचक अंश का प्रयोग न करे, तो वह 'अननुगत' नामक निदर्शनाभास होगा। क्योंकि अनुमान की उपयोगी व्याप्ति केवल व्याप्य (=हेतु) में ही रहती है, व्यापक (=साध्य) में नहीं।

६ - जो द्रव्य होता है, वह क्रियावान् होता है, जैसे आकाश। यहां आकाश में क्रियावत्त्व न होने के कारण 'विपरीतानुगत' नामक छठा निदर्शनाभास है।

यहाँ 'क्रियावान्' शब्द में षष्ठ्यर्थ में मतुप् प्रत्यय समझना चाहिए, न कि सप्तम्यर्थ में; क्योंकि व्यापक आकाश में अन्य मूर्तिमद् द्रव्यों की क्रियाएं तो होती ही हैं ।]

विशेष - यहाँ उपसंहार वाक्य का विग्रह इस प्रकार समझना चाहिए - लिङ्गञ्च अनुमेश्च उभयञ्च आश्रयश्चेति - लिङ्गानुमेयोभयाश्रयाः' ते असिद्धा येषु आभासेषु ते तथोक्ताः, ते च अननुगताश्च विपरीतानुगताश्चेति - लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः ।

[अब वैधर्म्यनिदर्शनाभास दिखाते हैं -]

जो अनित्य होता है वह मूर्त्त देखा गया है, जैसे - १ - कर्म (= क्रिया), जैसे - २ - परमाणु, जैसे - ३ - आकाश, जैसे - ४ - अन्धकार और जैसे ५ - घट, इसी प्रकार जिसमें क्रिया नहीं होती, वह द्रव्य भी नहीं है, जैसे - ६ - सत्ता । इस प्रकार उदाहरण प्रयुक्त होने पर वैधर्म्यनिदर्शनाभास ही होगा ।

इस प्रकार साधर्म्यनिदर्शनाभास के समान वैधर्म्यनिदर्शनाभास भी छह प्रकार के हैं -

१. लिङ्गाव्यावृत्त, २ - अनुमेयाव्यावृत्त, ३ - उभयाव्यावृत्त, ४ - आश्रयासिद्ध, ५ - अव्यावृत्त और ६ - विपरीतव्यावृत्त ।

[इन सबका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए -१ - कर्म के अमूर्त्त होने से उसमें मूर्त्ततारूप हेतु नहीं है अर्थात् कर्म में अमूर्तता का अभाव नहीं है, अतः यह 'लिङ्गाव्यावृत्तदृष्टान्ताभास' है ।

२ - परमाणुरूप वैधर्म्य-दृष्टान्त में परमाणु की नित्यता विद्यमान होने से यह दृष्टान्त 'अनुमेयाव्यावृत्तदृष्टान्ताभास' है, क्योंकि परमाणु में नित्यतारूप अनुमेय अर्थात् साध्य की व्यावृत्ति (=अभाव) नहीं है ।

३ - आकाशरूप वैधर्म्यदृष्टान्त में आकाश के अनित्यता रूप साध्य एवं मूर्ततारूप हेतु दोनों न होने से यह 'उभयाव्यावृत्त निदर्शनाभास' है; क्योंकि आकाश में नित्यता और अमूर्तता दोनों की व्यावृत्ति (= अभाव) नहीं है। वह नित्य और अमूर्त है।

४ - 'तमः' रूप वैधर्म्यदृष्टान्त में अन्धकार के भावरूप न होने यह 'आश्रयासिद्ध' नामक वैधर्म्यनिदर्शनाभास है; क्योंकि अन्धकार के भावात्मक न होने से किसके आश्रय से अनित्यता (साध्य) तथा मूर्ततारूप साधन की व्यावृत्ति की जाएगी।

५ - यदि कोई 'नित्यः शब्दः, अमूर्तत्वात्' इतना ही अनुमान वाक्य कहकर 'घटवत्' - केवल इसी वाक्य का प्रयोग करे ('यदनित्यं तन्मूर्तम्' इस अंश का प्रयोग 'घटवत्' इस वाक्या से पहले न करे) तो वह 'अव्यावृत्त' नामक वैधर्म्यनिदर्शनाभास होगा; क्योंकि तव अनित्यता साध्य तथा मूर्तत्व हेतु की व्यावृत्ति नहीं होगी।

६ - 'द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वात्' इस अनुमान में यदि व्यतिरेक-व्याप्ति दिखानी हो, तो 'यदद्रव्यं तदक्रियम्', 'यथा - सत्ता' - इस प्रकार से निदर्शन वाक्य का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु जो (=निदर्शनाभास का प्रयोग करने वाला) इस प्रकार न कहकर, उसका उलटा 'यन्निष्क्रियं तदद्रव्यम्' - (= जिसमें क्रिया नहीं, वह द्रव्य ही नहीं है) - ऐसा कहता है। किन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं हैं; क्योंकि आकाशादि पदार्थ द्रव्य तो हैं, किन्तु उनका क्रियावत्त्व नहीं है। अतः 'यन्निष्क्रियं तदद्रव्यम्' यह वाक्य 'विपरीतव्यावृत्त' नामक निदर्शनाभास होगा।]

विशेषः - इस वैधर्म्यनिदर्शनाभास के उपसंहार-वाक्य की व्याख्या निम्न व्युत्पत्ति के अनुसार करनी चाहिए -

लिङ्गञ्च, अनुमेयश्च, उभयञ्चेति लिङ्गानुमेयोभयानि; तानि अव्यावृत्तानि येषु आभासेषु ते लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताः; आश्रयः असिद्धो यस्येति - आश्रयासिद्धः; न व्यावृत्तिः - अव्यावृत्तः । लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्तश्चाऽऽश्रयासिद्धश्च अव्यावृत्तश्च विपरीतव्यावृत्तश्चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ताः ॥

२५ (३८) - अनुसन्धानप्रकरणम् (=उपनयः)

१३/६/२/४ - (बुद्धेर्विद्याविभागे 'अनुमाने' अवयवेषु 'अनुसन्धानम्' = उपनयः)

प्रसंगानुसार निदर्शनाभासों का वर्णन करके अब पञ्चावयव महावाक्य में से चतुर्थ अवयव 'अनुसन्धान' (=उपनय) का स्वरूप बताने के लिए लिखते हैं -

(प्रश.)- निदर्शनेऽनुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य लिङ्गसा मान्यस्यानुमेयेऽन्वा-नयनमनुसन्धानम् । अनुमेयधर्ममात्रत्वेनाभिहितं लिङ्गसामान्यमनुपलब्धशक्तिकं निदर्शने साध्यधर्मसामान्येन सह दृष्टमनुमेये येन वचनेनानुसन्धीयते तदनुस-न्धानम् । तथा च वायुः क्रियावानिति । अनुमेयाभावे च तस्यासत्त्वमुपलभ्य, न च तथा वायुर्निष्क्रिय इति ॥

निदर्शन (=उदाहरण) में साध्यसामान्य के साथ ज्ञात हुए लिङ्ग- (= हेतु-) सामान्य की सत्ता का पक्ष (=अनुमेय) में बोध कराने वाला वाक्य ही 'अनुसन्धान' (= उपनय) नामक चतुर्थ अवयव है । अर्थात् केवल साध्य के धर्मरूप से कहा हुआ हेतुसामान्य (='हेतुसामान्य अनुमेय में है' - इस प्रकार केवल पक्षरूप से कथित हेतु) पक्ष में साध्यसाधन के सामर्थ्य से शून्य रहता है, किन्तु उदाहरण में सामान्यरूप से साध्यधर्म के साथ (वृत्तिरूप में) ज्ञात (हेतुसामान्य का) अनुमेय (= पक्ष) में जिस वचन से अनुसन्धान किया जाता है, वह (पक्ष में साध्यसाधन के सामर्थ्य से युक्त) अनुसन्धान (= उपनय) नामक अवयव कहा जाता है । 'उपनय' (= अनुसन्धान)

का न्यायदर्शन में लक्षण किया है - "उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः" - (न्या. १/१/३८)।

[अनुसन्धान की व्युत्पत्ति है - (अनुमेये = पक्षे) येन वचनेन 'अनु' = पश्चात् 'सन्धीयते' पक्षधर्मतया ख्याप्यते तद् अनुसन्धानम् (= उपनयः)]

[जैसे कि वायु द्रव्य है (-प्रतिज्ञा) क्रियावान् होने से (-हेतु), जो-जो क्रियावान् होता है वह-वह द्रव्य होता है (-व्याप्ति); बाण के समान (-निदर्शन = उदाहरण);] वैसा ही वायु क्रियावान् है । -इस प्रकार (साधर्म्यानुसन्धानरूप 'उपनय' होता है ।)

(वैधर्म्य से निदर्शन या विपक्ष में-) उस साध्य का अभाव होने पर हेतु की अवर्तमानता को जानकर [जैसे वायु द्रव्य है (प्रतिज्ञा); क्रियावान् होने से (-हेतु), जो द्रव्य नहीं होता वह क्रियावान् भी नहीं होता (-वैधर्म्यव्याप्ति); सत्ता जाति के समान -(वैधर्म्य से उदाहरण);] (सत्ता में क्रियावत्त्व के अभाव को जानकर-) वैसा वायु क्रियारहित नहीं है । - इस प्रकार (यह वैधर्म्यानुसन्धानरूप 'उपनय' है) ॥

२६ (३९) - प्रत्याम्नायप्रकरणम् (=निगमनम्)

१३/६/२/५ - (बुद्धेर्विद्याविभागे 'अनुमाने' अवयवेषु 'प्रत्याम्नायः' = निगमनम्)

अब पञ्चावयव महावाक्य में से अन्तिम, पाँचवें अवयव 'प्रत्याम्नाय' (=निगमन) का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.) :- अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः । प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां हेत्वादिभिरवयवैराहितशक्तीनां परिसमाप्तेन वाक्येन निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः

पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः । तस्माद् द्रव्यमेवेति । न ह्येतस्मिन्नसति परेषामवयवानां समस्तानां व्यस्तानां वा तदर्थवाचकत्वमस्ति । गम्यमानार्थत्वादिति चेत्, न, अतिप्रसङ्गात् । तथाहि प्रतिज्ञानन्तरं हेतुमात्राभिधानं कर्तव्यम्, विदुषामन्वयव्यतिरेकस्मरणात् तदर्थावगतिर्भविष्यतीति । तस्मादत्रैवार्थपरिसमाप्तिः ।

कथम् ? अनित्यः शब्द इत्यनेनानिश्चितानित्यत्वमात्रविशिष्टः शब्दः कथ्यते । प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् इत्यनेनानित्यत्वसाधनं धर्ममात्रमभिधीयते ।"इह यत् प्रयत्नानन्तरीयकं तदनित्यं दृष्टम्, यथा घटः" इत्यनेन साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्यानुगममात्रमुच्यते । नित्यमप्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्; यथाऽऽकाशमित्यनेन साध्याभावेन साधनस्याऽसत्त्वं प्रदर्श्यते । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो दृष्टः, न च तथाऽऽकाश वदप्रयत्ननतरीयकः शब्दो दृष्टः, न च तथाऽऽकाशवदप्रयत्नानन्तरीयकः शब्द इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टसामर्थ्यस्य साधनसामान्यस्य शब्देऽनुसन्धानं गम्यते । 'तस्मादनित्यः शब्द' इत्यनेनानित्य एव शब्द इति प्रतिपिपादयिषितार्थपरिसमाप्तिर्गम्यते ।

तस्मात् पञ्चावयवेन वाक्येन परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं क्रियत इत्येतत् परार्थानुमानं सिद्धमिति ।।

(पहले प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा) अनुमेयरूप से कथित होने पर भी (समर्थ हेतु-सम्बन्ध के प्रतिपादन के विना) निश्चित न होने पर, दूसरों को निश्चित रूप से समझाने के लिए (उपयुक्त हेतु के सम्बन्ध से युक्त साध्य के बोधक, पूर्वोक्त) प्रतिज्ञा का पुनः कथन 'प्रत्याम्नाय' (=निगमन) नामक अवयव होता है । अर्थात् (सर्वप्रथम प्रयुक्त) केवल प्रतिज्ञा-वाक्य से साध्य, अनुमेयत्वरूप से निर्दिष्ट होने पर भी अनिश्चित साधनीय विषय में (सुनने वाले) अन्य व्यक्तियों को हेतु, उदाहरण एवं उपनय इन तीन वाक्यरूप अवयवों के दिखाने से साध्यज्ञान का सामर्थ्य आने पर परिपूर्ण (प्रत्याम्नायरूप) वाक्य से निश्चय होने के लिए पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का पुनःकथन

'प्रत्याम्नाय' (=निगमन) वाक्य कहाता है। जैसे कि - 'इस (क्रियावत्त्व हेतु) से वायु द्रव्य ही है' - यह वाक्य (प्रत्याम्नाय है)।

[न्यायदर्शन में भी कहा है - 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' न्या. - १/१/३९]

इस (=प्रत्याम्नाय = निगमन) के न रहने पर अन्य (= शेष प्रतिज्ञा आदि चार) अवयव परस्पर मिले हुए अथवा स्वतन्त्र रूप से (=एक - एक) भी उस (=प्रत्याम्नाय के द्वारा प्रतिपाद्य निश्चित) अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते। (अतः उन चारों के होते हुए भी प्रत्याम्नाय का होना आवश्यक है, इसे व्यर्थ नहीं समझना चाहिए।)

(शंका -) - (यदि हेतुसहित प्रतिज्ञा की पुनरावृत्ति ही प्रत्याम्नाय है, तो) ज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने से (प्रत्याम्नाय = निगमन व्यर्थ है)।

(समा.) - ऐसा कहना ठीक नहीं है, अतिप्रसङ्ग दोष होने से। (फिर तो प्रतिज्ञा तथा हेतु वाक्य के अतिरिक्त निदर्शन (= उदाहरण) और अनुसन्धान (=उपनय) इन दोनों की व्यर्थता की भी आपत्ति होगी); क्योंकि (पूर्वपक्षी के अनुसार) प्रतिज्ञावाक्य के पश्चात् केवल हेतुवाक्य के प्रयोग से ही प्रकृत प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा। (व्याप्ति के) जानकार पुरुष को (व्याप्ति के निमित्तभूत) अन्वय और व्यतिरेक का स्मरण वैसे ही (निदर्शनवाक्य और अनुसन्धानवाक्य को सुने विना ही) हो जाने से (प्रतिज्ञावाक्य के प्रयोग से ही) अभीष्ट अर्थ का बोध स्वयं हो जाएगा। अतः (प्रतिज्ञा आदि चार अवयवों के प्रयोग को जिस दृष्टि से पूर्वपक्षी आवश्यक मानता है, उसी दृष्टि से उसे मानना होगा, कि) प्रत्याम्नाय (=निगमन) पर्यन्त पाँचों अवयव वाक्यों के प्रयोग से ही पूर्णसाधनीय अर्थ का निश्चय समाप्त हो सकता है।

(प्र.) (प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों की आवश्यकता) किस प्रकार है ?

(उ.) - 'अनित्यः शब्दः' (=शब्द अनित्य है) इस प्रतिज्ञावाक्य से अनिश्चित अनित्यत्व से युक्त शब्द गुण ही कहा जाता है । (प्रतिज्ञावाक्य के पश्चात्) 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' (=प्रयत्न के पश्चात् ही शब्द की उपलब्धि होने से) इस हेतुवाक्य से केवल शब्द में अनित्यत्व का साधक धर्म ही कहा जाता है । (इसके पश्चात् अन्वय-व्याप्ति दिखाते हैं -) 'प्रयत्न के पश्चात् जो उपलब्ध होते हैं, वे सभी अनित्य ही देखे जाते हैं, जैसे-घट आदि' - इस (साधर्म्य) निदर्शन के द्वारा सभी साध्यों के साथ सभी हेतुओं के केवल अन्वय का बोध होता है ।

(अब व्यतिरेक-व्याप्ति दिखाते हैं) - (तथा) नित्य पदार्थ विना प्रयत्न के ही उपलब्ध होते हैं, जैसे - आकाशरूप द्रव्य पदार्थ । इस वैधर्म्य उदाहरण से साध्य के अभाव के साथ हेतु का अभाव दिखाया जाता है । 'शब्द' घट-पट आदि के समान प्रयत्न के पश्चात् ही अस्तित्व में आते हैं; आकाश आदि के समान विना प्रयत्न के अस्तित्व में नहीं आते । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा हेतु में अनित्यत्वरूप साध्य के साधन का व्याप्तिरूप सामर्थ्य ज्ञात होता है । इस प्रकार व्याप्ति से युक्त हेतु सामान्य का शब्द गुण में अनुसन्धान (= पश्चात् ज्ञान) बोधित होता है । (अर्थात् निदर्शन के द्वारा व्याप्तियुक्त हेतु का साध्य पक्ष के साथ सम्बन्ध ही अनुसन्धान वाक्य से प्रतिपादित होता है । इसके पश्चात् 'अनित्यः शब्द' इस प्रत्याम्नाय (= निगमन - प्रतिज्ञा के पुनर्वचन) वाक्य से 'शब्द गुण अनित्य ही है' इस प्रतिपादन के लिए अभीष्ट अर्थ की परिसमाप्ति होती है ।

इसलिए पाँच अवयव वाले वाक्य से ही दूसरों के लिए स्वयं अनुमान प्रमाण से निश्चित किए हुए अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, इस कारण यह (= पञ्चावयव वाक्य ही) परार्थानुमान सिद्ध होता है । - (द्र. - ९/२/३, ४) ।

विशेष - यहाँ 'शब्द अनित्य है', 'प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होने से' - इस अनुमान में शब्द-विशेष का ही ग्रहण करना चाहिए; सामान्यरूप से सम्पूर्ण शब्दों का नहीं; क्योंकि सभी शब्द (=स्फोटरूपशब्द एवं निश्चित आनुपूर्वी वाले वैदिक शब्द आदि) प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध नहीं होते। इसलिए यहाँ शब्द-विशेष का ग्रहण करना ही उचित है। (द्र. ... व्योमवती-२ भाग, पृ.- २१०)

इस प्रकार विभागों सहित अनुमान-प्रमाण का वर्णन पूरा हुआ ॥

२७ (४०) - निर्णयस्य मानान्तरत्वखण्डनम्

कुछ विद्वान् लोग 'निर्णय' को प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न प्रमाण मानते हैं। उनके मत का खण्डन करने के लिए भाष्यकार कहते हैं :-

(प्रश.)- विशेषदर्शनजमवधारणज्ञानं संशयविरोधी निर्णयः। एतदेव प्रत्यक्षमनुमानं वा। यद् विशेषदर्शनात् संशयविरोध्युत्पद्यते स प्रत्यक्षनिर्णयः। यथा स्थाणुपुरुषयोरूर्द्धतामात्रसादृश्यालोचनाद् विशेषेष्वप्रत्यक्षेषु उभयविशेषानुस्मरणात्, किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति संशयोत्पत्तौ [सत्यां?] शिरःपाण्यादि [विशेष?] दर्शनात् पुरुष एवायमित्यवधारणज्ञानं प्रत्यक्षनिर्णयः।

विषाणमात्रदर्शनाद् गौर्गवयो वेति संशयोत्पत्तौ सास्नामात्रदर्शनाद् गौरेवायमित्यवधारणज्ञानमनुमाननिर्णय इति।

विशेष धर्म के दर्शन से उत्पन्न, संशय का विरोधी अवधारणरूप (=निश्चयात्मक) ज्ञान ही 'निर्णय' है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों निर्णयरूप ही होते हैं। अतः १ - प्रत्यक्षनिर्णय और २ - अनुमाननिर्णय के भेद से निर्णय दो प्रकार का होता है। [अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय में उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्षनिर्णय तथा अनुमान के विषय में उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान अनुमाननिर्णय होता है। अतः

उन दोनों निर्णयों का प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाने से निर्णय को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है ।]

१ - (धर्मी के असाधारण धर्मरूप) विशेष के प्रत्यक्ष से जो संशय का विरोधी ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'प्रत्यक्षनिर्णय' कहते हैं । जैसे - वृक्ष और पुरुष दोनों में (रहने वाले) उच्चता (= ऊँचाई) रूप सादृश्य के देखने रूप सामान्य ज्ञान से, (कोटर तथा मस्तक इत्यादि) विशेष धर्मों के प्रत्यक्ष न होने पर, उक्त दोनों विशेषों के स्मरण होने पर, क्या यह (= ऊँचा दीखने वाला, ऊर्ध्व पदार्थ) स्थाणु = वृक्ष है अथवा मनुष्य है - ऐसा संशय उत्पन्न होता है । इसके पश्चात् (केवल पुरुष में ही रहने वाले शिर, पैर इत्यादि) पुरुष के असाधारण धर्मों को देखने से 'यह पुरुष ही है' - इस प्रकार का जो निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'प्रत्यक्षनिर्णय' कहलाता है ।

२ - केवल सींग के दर्शन से यह संशय होता है, कि यह गौ है या गवय (= नीलगाय) है ? (इसके पश्चात् केवल गाय में ही रहने वाले) सास्ना (= गलकम्बल) के देखने से जो 'यह गाय ही है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'अनुमान निर्णय' कहाता है ॥ - (द्र. - ९/२/१२ - १०/१/३) ॥

२८ (४१) - स्मृति प्रकरणम् (=स्मृतिवैधर्म्यम्)

१३/७/३ - (बुद्धेर्विद्याविभागे 'स्मृतिः')

प्रत्यक्ष तथा लैङ्गिक दो विद्याओं का विस्तार से निरूपण करके क्रमप्राप्त 'स्मृति' नामक तृतीय विद्या का वर्णन करते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं -

प्रश०- लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पटूवभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।

[लिङ्गदर्शनञ्च इच्छा च अनुस्मरणञ्चेति लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणानि, तान्यादिर्येषामित्यादिपदेन प्रणिधानादेर्ग्रहणम्; तान्यपेक्षत इति पदापेक्षस्तस्मांत् । - (द्वन्द्वगर्भबहु. + द्वि. तत्पु. समासः)]

लिङ्गदर्शन, इच्छा और बार-बार स्मरण आदि [= "प्रणिधान-निवन्ध-अभ्यास-लिङ्ग-लक्षण-सादृश्य - परिग्रह - आश्रय - आश्रित - सम्बन्ध - आनन्तर्य - वियोग - एककार्य - विरोध - अतिशय - प्राप्ति - व्यवधान - सुख - दुःख - इच्छा - द्वेष - भय - अर्थित्व - क्रिया - राग - धर्म - अधर्म - निमित्तेभ्यः" - (न्यायद. ३/२/४४) -इन सत्ताईस निमित्तों] की अपेक्षा करने वाले आत्मा और मन के विशेष-संयोगरूप (-असमवायिकारण) से और दृढ़ अभ्यास एवं आदरपूर्वकग्रहण से उत्पन्न भावना नामक संस्कार से [आत्मारूप समवायिकारण में]उत्पन्न ज्ञान ही 'स्मृति' है । (यह स्मृति) प्रत्यक्ष, अनुमिति एवं शाब्दबोध से ज्ञात विषयों की होती है, अतः अतीतविषयक ही होती है । (वह स्मृतिरूप ज्ञान) अन्तिम अनुमेय ज्ञान (= परामर्श ज्ञान), इच्छा, पश्चात् स्मरण और द्वेष का (उत्पादक) कारण होता है ।

- (द्र० - 'आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः' - ९/२/६) ॥

२९ (४२) - आर्षज्ञानप्रकरणम् (= आर्षज्ञानवैधर्म्यम्)

१३/८/४ (बुद्धेर्विद्याविभागे 'आर्षज्ञानम्')

प्रत्यक्ष, लैङ्गिक तथा स्मृति - इन तीन विद्याओं का निरूपण करके अब 'आर्षज्ञान' नामक विद्या का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.)- आम्नायविधातृणामृषीणाम् अतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु

धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तद् आर्षमित्याचक्षते । तत् तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । कदाचिदेव लौकिकानाम्, यथा कन्यका ब्रवीति 'श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयति' इति ॥

[**विशेष** - आ+म्ना अभ्यासे + 'घञ्' आसमन्ताद् म्नायतेऽभ्यस्यते वेदानुयायिभिरिति - आम्नायः । अर्थात् ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक एवं वेदव्याख्यानरूप ११२७ शाखाएँ तथा परमेश्वर द्वारा प्रदत्त चार वेद । इनमें से मूल चार वेदों (ऋग्., यजु., साम., अथर्व.) का आविर्भाव तो परमेश्वर द्वारा होता है; शेष शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक आदि का प्रवचन योग-सिद्ध ऋषियों द्वारा होता है । यहाँ पर मूल चार वेदों से भिन्न शेष वैदिक शास्त्ररूप आम्नाय के विधाता = कर्त्ता = निर्माता के रूप में ऋषियों को मानकर, उनके ज्ञान को आर्ष-ज्ञान कहा जा रहा है । मूल चार वेद तो परमेश्वर द्वारा प्रदत्त (अमनुष्यकृत=) अपौरुषेय हैं ।]

(शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के रूप में) आम्नाय की रचना करने वाले महर्षियों को आत्मा और मन के संयोग से तथा (विद्या, तपस्या एवं योगाभ्यास से प्राप्त) उनके योगज सामर्थ्यरूप धर्मविशेष से आगमग्रन्थों में कहे हुए या उनमें न कहे हुए भूत, भविष्य और वर्तमान (तीनों कालों में से किसी में भी रहने वाले) इन्द्रियों से गृहीत न होने वाले धर्म, अधर्म इत्यादि के विषय में उनके यथार्थ स्वरूप का परिचायक जो 'प्रातिभ' ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'आर्ष' - ज्ञान कहते हैं ।

ऐसा उक्त आर्षज्ञान अधिकतर महर्षियों को ही होता है, किसी-किसी समय लौकिक (= साधारण, अयोगी) व्यक्तियों को भी यह प्रातिभज्ञान होता है। जैसे कि कभी कोई बालिका कहती है, कि 'मेरा मन कहता है, कि कल (देशान्तर से) मेरा भाई आएगा।'

इस प्रकार आर्षज्ञानरूप चतुर्थ-विद्या का वर्णन समाप्त हुआ। - (द्र. ९/२/१३) ॥

३० (४३) - सिद्धदर्शनान्तर्भावप्रकरणम्

कुछ विद्वान् 'सिद्धदर्शन' (=सिद्धपुरुषों के दर्शनात्मक ज्ञान) को प्रत्यक्षादि चार विद्याओं से भिन्न पाँचवीं विद्या मानते हैं। उनका खण्डन करने के लिए भाष्यकार कहते हैं -

(प्रश.)- **सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरम्। कस्मात्? प्रयत्नपूर्वकम् अञ्जनपादलेपखड्गगुलिकादिसिद्धानां दृश्यद्रष्टॄणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु यद् दर्शनं तत् प्रत्यक्षमेव। अथ दिव्यान्तरिक्षभौमानां प्राणिनां ग्रहनक्षत्रसञ्चारादिनिमित्तं धर्माधर्मविपाकदर्शनमिष्टम्, तदप्यनुमानमेव। अथ लिङ्गानपेक्षं धर्मादिषु दर्शनमिष्टं तदपि प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तर्भूतमित्येवं बुद्धिरिति ॥**

सिद्धदर्शन नामक ज्ञान प्रत्यक्षादि चार विद्याओं से भिन्न पाँचवीं विद्या नहीं है। क्यों? क्योंकि प्रयत्नपूर्वक (विशेष प्रकार के) अञ्जन (=काजल), पादलेप (=पैर में विशेष प्रकार के ओषधि का लेपन), खड्ग (=तलवार), गुलिका (=सिद्ध पारद आदि की गोली जिसे मुख में रखने से आकाश में उड़ सकते हैं - ऐसा रसायनशास्त्री नागार्जुन के कुछ अनुयायी मानते हैं) आदि (=मण्डूकवसाञ्जन

इत्यादि) से (विशेषदर्शन का सामर्थ्यरूप) सिद्धि से युक्त पुरुषों को सूक्ष्म, व्यवहित एवं अत्यन्त दूर की वस्तुओं का जो (साधारण लोगों से विलक्षण) ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष ही है ।

और द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक एवं भूलोक में रहने वाले प्राणियों का सूर्यादिग्रह, अश्विनी-भरणी इत्यादि सत्ताइस नक्षत्र तथा अन्य तारों की विशेष प्रकार की गति देखकर - धर्म तथा अधर्म का यह फल है, ऐसा (अस्मदादि से विलक्षण) ज्ञान होता है, उसे भी यदि सिद्धदर्शन कहना इष्ट हो तो वह भी वस्तुतः अनुमान ही है । यदि हेतु की अपेक्षा के बिना ही धर्म (अधर्म एवं इनके परिणामों) का ज्ञान मानें (तो वे यद्यपि अनुमान नहीं होंगे), पुनरपि प्रत्यक्ष या आर्षज्ञान में अन्तर्भूत हो जायेंगे । इस प्रकार प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति तथा आर्षज्ञान ऐसी विद्या रूप बुद्धि चार प्रकार की ही है । - (द्र० - 'आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः' - ९/२/१३) ।

इस प्रकार 'बुद्धि' नामक गुण का निरूपण समाप्त हुआ ।।

"वैशेषिक (=प्रशस्तपादभाष्य) में बुद्धि का विवेचन"
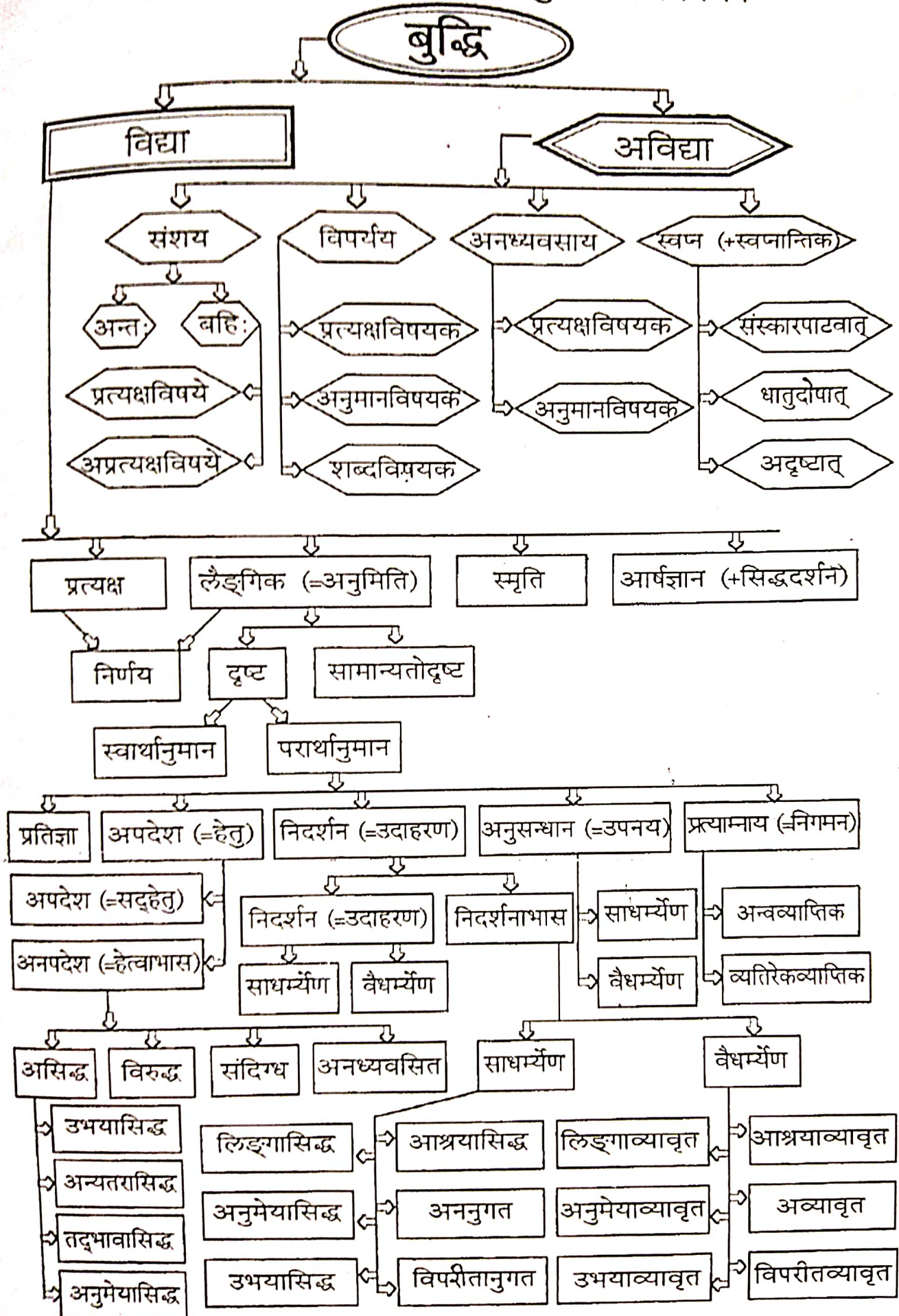
अथ दशमाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रसंग : -अब क्रमप्राप्त सुख और दुःख की परीक्षा करते हुए, पहले उनका परस्पर भेद बताते हैं -

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः

सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ।।१।। (३५५)

[इष्टानिष्टकारणविशेषात्] इष्ट (=प्रिय) और अनिष्ट (=अप्रिय) कारणों के भेद से [च] और [मिथः] परस्पर [विरोधात्] विरोध होने से [सुखदुःखयोः] सुख और दुःख का [अर्थान्तरभावः] भेद है ।

(शंका):- शिर पर भार उठाकर गर्मी में मार्ग पर चलता हुआ पुरुष जब किसी वृक्ष की छाया में पहुँचकर सिर से भार उतार कर बैठता है, तो कहता है - 'मैं सुखी हो गया हूँ', वहाँ उसका दुःख दूर होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तो भी वह स्वयं को सुखी मानता है । ऐसे दृष्टान्तों से प्रतीत होता है, कि दुःख का अभाव ही सुख है । सुख कोई अलग पदार्थ नहीं हे ।

(समा०) :- सुख और दुःख दो अलग पदार्थ हैं, क्योंकि इनके कारणों में स्पष्ट भेद है । माला, चन्दन, स्वादिष्ट भोजन आदि इष्ट (=प्रिय=अनुकूल) की प्राप्ति सुख का कारण है । जब कि विष, सर्प, कांटा, दुर्गन्ध आदि अनिष्ट (=अप्रिय = प्रतिकूल) की प्राप्ति दुःख का कारण है ।

दूसरा हेतु इनका आपस में विरोध है । सुख और दुःख एक काल में एक अधिकरण में इकट्ठे नहीं होते ।

इनके कार्य का भी विरोध है । सुख में मुख प्रसन्न होता है, दुःख में मुरझा जाता है ।

इसलिए सुख और दुःख अलग - अलग पदार्थ हैं। दुःखाभाव में जो सुख का व्यवहार है, वह औपचारिक है। उससे सुख की मुख्य प्रतीति को झुठलाया नहीं जा सकता ॥१॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार सुख और दुःख दोनों गुणों को ज्ञान से भिन्न बताते हैं-

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥२॥ (३५६)

यहाँ गतसूत्र से 'सुखदुःखयोः' की अनुवृत्ति है।

[च] और [संशयनिर्णयान्तराभावः] संशय तथा निर्णय इन दोनों (में से किसी ज्ञान) के अन्तर्गत न होना [ज्ञानान्तरत्वे] (सुखदुःख के) ज्ञान से भिन्न गुण होने में [हेतुः] हेतु (=कारण) है।

ज्ञान दो प्रकार से अभिव्यक्त होता है - संशय और निर्णय के रूप में। सुख - दुःख यदि ज्ञान होते तो इन दोनों में से एक होते। क्योंकि संशय द्विकोटिक (दो छोरों वाला) ज्ञान होता है - 'यह ऐसा है, या वैसा'? 'यह साँप है, या रस्सी'? किन्तु सुख - दुःख का स्वरूप इस प्रकार का नहीं होता। और निर्णय का स्वरूप होता है, कि 'यह ऐसा न होकर, वैसा ही है', 'यह वस्तु साँप नहीं अपितु रस्सी ही है' - इत्यादि। किन्तु सुख - दुःख इस रूप में भी प्रतीत नहीं होता। अपितु सुख, दुःख और ज्ञान - इनकी उपलब्धि भिन्न - भिन्न प्रकार से होती है। जैसे - 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ' इन उदाहरणों में 'सुखी वा दुःखी हूँ' - प्रतीति में ज्ञान नहीं भासता। किन्तु 'जानता हूँ' - इस प्रतीति में ज्ञान भासता है। अतः सुख - दुःख को ज्ञान का स्वरूप नहीं मान सकते।

यह कहना भी उचित नहीं, कि - 'अनुकूल ज्ञान को सुख और प्रतिकूल ज्ञान को दुःख माना जाता है, अतः सुख - दुःख को ज्ञान ही मानना चाहिए; क्योंकि

अनुकूल ज्ञान के विषय का नाम सुख और प्रतिकूल ज्ञान के विषय का नाम दुःख होता है' । वस्तुतः सुख - दुःख अनुकूल - प्रतिकूल ज्ञान नहीं, अपितु उस ज्ञान के विषय होते हैं ।।२।।

प्रसंग :- अब सूत्रकार सुख - दुःख की उत्पत्ति का प्रकार बताते हुए उनकी ज्ञान से भिन्नता दिखाते हैं-

तयोर्निष्पत्तिःप्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ।।३।। (३५७)

यहाँ भी 'सुखदुःखयोः' की अनुवृत्ति है ।

[तयोः] उन (सुख-दुःख) की [प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्] प्रत्यक्ष और लैंगिक (=अनुमान) ज्ञान से [निष्पत्तिः] सिद्धि (=उत्पत्ति) होती है ।

अभिप्रेत (=इष्ट) विषय को प्रत्यक्ष करते हुए, अथवा अनुमान से जानते हुए व्यक्ति को सुख होता है और अनभिप्रेत (=अनिष्ट) विषय के प्रत्यक्ष वा अनुमान से दुःख उत्पन्न होता है ।

अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से उत्पन्न होने के कारण सुख - दुःख, प्रत्यक्ष - अनुमान आदि ज्ञान से भिन्न गुण हैं ।।३।।

प्रसंगः- ज्ञान से सुख - दुःख के भिन्न होने में अन्य हेतु देते हैं-

अभूदित्यपि ।।४।। (३५८)

यहाँ गत सूत्रों से 'सुखदुःखयोः', निष्पत्तिः, ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ' की अनुवृत्ति है । तथा 'अपि' पद से 'भविष्यति' का भी निर्देश है ।

[अभूत्] (भूतकाल में) हुआ था [अपि] (और) भविष्यत् में होगा [इति] इस प्रकार (स्मृति और सम्भावना से अतीत और अनागत पदार्थों में सुख - दुःख की

उत्पत्ति होती है । यह भी सुख - दुःख के ज्ञान से भिन्न होने में हेतु है) ।

जैसे सुखप्रद वस्तु की स्मृति से सुख और दुःखप्रद की स्मृति से दुःख होता है । स्वादिष्ट भोजन तथा मित्र की स्मृति से सुख और अरुचिकर भोजन तथा शत्रु की स्मृति से दुःख होता है; क्योंकि इससे पहले सुख का दुःख का अनुभव हो चुका है ।

इसी प्रकार हाथ में दण्ड उठाए हुए क्रोधित व्यक्ति को देखकर दुःख वा भय होता है, कि दुःख देगा ।

इस प्रकार व्यक्ति सुख वा दुःख के अस्थिर होने से बीते हुए सुख वा दुःख का चिन्तन करता है, कि सुख प्राप्त हो, दुःख प्राप्त न हो । तथा भविष्यत् में सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने का प्रयत्न एवं संकल्प करता है । परन्तु ज्ञान इस प्रकार क्षणिक नहीं है, कि उसका सुख - दुःख के समान स्मरण हो, कि ऐसा ज्ञान मुझे कल हुआ था, अब नहीं है । आगे भी होगा । क्योंकि जिसका स्मरण है, उसमें ऐसी अस्थिरता का व्यवहार नहीं होता । अतः यह सिद्ध होता है, कि ज्ञान सुख - दुःख से भिन्न है ।

प्रसंगः- ज्ञान से सुख - दुःख के भिन्न होने में सूत्रकार अन्य हेतु देते हैं-

सति च कार्यादर्शनात् ।।५।। (३५९)

[सति] (प्रात्यक्षिक अथवा लैंगिक ज्ञान के) होने पर [च] भी [कार्यादर्शनात्] (सुख - दुःख के) कार्य न देखे जाने से (ज्ञान की सुख - दुःख से भिन्नता सिद्ध है) ।

प्रात्यक्षिक और लैंगिक (आनुमानिक) ज्ञान होने पर भी सुख का कार्य 'मुखप्रसाद' (=मुख की प्रसन्नता) और दुःख का कार्य 'मुखमालिन्य' (=मुख की मलिनता) नहीं दीखते । इससे सिद्ध होता है, कि सुख - दुःख, ज्ञान से भिन्न गुण

हैं। अन्यथा ज्ञान की स्थिरता होने से मुख की प्रसन्नता अथवा मलिनता सदा बनी रहे ॥५॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार ज्ञान के कारणों से सुख - दुःख के कारणों की भिन्नता दिखाकर, कारणभेद से ज्ञान को सुख - दुःख से भिन्न बताते हैं -

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥६॥ (३६०)

[एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु] एक (आत्मरूप) अर्थ में समवाय - सम्बन्ध से रहने वाले (ज्ञान के कारणों से) भिन्न (धर्मादि) कारणों के विद्यमान होने पर [दृष्टत्वात्] (सुख - दुःख की उत्पत्ति) देखे जाने से (सिद्ध है, कि सुख - दुःख ज्ञान से भिन्न हैं)।

जो प्रत्यक्षादि ज्ञानों के कारण हैं, उनसे सुख - दुःख के कारण भिन्न हैं। अर्थात् जिन कारणों के विद्यमान होने पर सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उन कारणों के विद्यमान होने पर प्रत्यक्षादि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, अपितु विलक्षण कारणों के विद्यमान होने पर उत्पन्न होते हैं। जैसे - धर्म, सुखराग, सुखकारणेच्छा तथा सुख-साधनों के उपादान का यत्न इत्यादि सुख के; अधर्म, द्वेष तथा दुःख -साधनज्ञान - इत्यादि दुःख के कारण हैं, और प्रत्यक्षादि ज्ञानों के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि कारण हैं। ज्ञान के इन कारणों से सुख - दुःख के कारण सर्वथा विलक्षण हैं।

यदि सुख - दुःख दोनों गुण, ज्ञान गुण से भिन्न न होते, तो उनके कारणों का परस्पर भेद न होता। परन्तु भेद स्पष्ट है। इसलिए सिद्ध है, कि उक्त दोनों गुण ज्ञान से भिन्न हैं ॥६॥

३१ (४४) - सुखप्रकरणम् (=सुखवैधर्म्यम्)

चौबीस गुणों में से बुद्धि का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् अब उस

बुद्धि के कार्य 'सुख' का निरूपण करते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं-

(प्रश.)- अनुग्रहलक्षणं सुखम् । स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सति, इष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् धर्माद्यपेक्षाद् आत्ममनसोः संयोगाद् अनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत् सुखम् । अतीतेषु विषयेषु स्मृतिजम् । अनागतेषु सङ्कल्पजम् । यत्तु विदुषाम् असत्सु विषयानुस्मरणेच्छासङ्कल्पेष्वा विर्भवति तद् विद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तमिति ।।

(अनुगृह्यते ऽ नेनेत्यनुग्रहः, अनुग्रहलक्षणमनुग्रहस्वभावम्=अनुकूलस्वभावता) जिसका अनुभव अनुकूल प्रतीत हो वही 'सुख' है । [सुख स्वभावतः (जीव को प्रिय होने के कारण उसके) अनुकूल होता है ।] अर्थात् माला, चन्दन आदि प्रिय विषयों के समीप होने पर (माला आदि उन) इष्ट विषयों का ज्ञान, उन विषयों के साथ (त्वग् घ्राणादि इन्द्रियों के सन्निकर्ष एवं धर्मादिकों की अपेक्षा करते वाले आत्मा तथा मन के संयोग से (इस सब से) जो उत्पन्न होता है, वह सुखनामक गुण है । यह (सुख स्वविषयक ज्ञानरूप) अनुग्रह (सुखानुभव), अभिष्वंग (=अनुराग) एवं नयन (मुख) आदि की विमलता (एवं प्रसन्नता) आदि का उत्पादक होता है । बीते हुए विषयों का सुख (उन विषयों की) स्मृति से उत्पन्न होता है । तथा भविष्य के विषयों में यह उन विषयों के संकल्प (=मानसिक - इच्छा) से उत्पन्न होता है । और आत्मतत्त्व - ज्ञानियों को जो सुख विना विषयों के, विषयों के स्मरण न करने पर भी विना इच्छा एवं विना संकल्प के ही उत्पन्न होता है, वह विद्या (=आत्मतत्त्वज्ञान), शान्ति, सन्तोष एवं (योगज) धर्मविशेष के कारण होता है । इति=इस प्रकार का सुख गुण है । - (द्र० - १०।१।१-६, ५।२।१५) ।।

३२ (४५) - दुःखप्रकरणम् (दुःखवैधर्म्यम्)

सुख का विरोधी होने से सुख के अनन्तर क्रमप्राप्त दुःख का निरूपण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं-

(प्रश.)- उपघातलक्षणं दुःखम् । विषाद्यनभिप्रेतविषयसान्निध्ये सत्य-निष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकषाद् अधर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगाद् यद् अमर्षोपघातदैन्यनिमित्तमुत्पद्यते तद् दुःखम् । अतीतेषु सर्पव्याघ्रचौरादिषु स्मृतिजम् । अनागते सङ्कल्पजमिति ॥

[उपहन्यतेऽनेनेत्युपधातः । उपहतमनेनात्मानं मन्यते] उपघातस्वरूप (=पीडास्वरूप) अर्थात् प्रतिकूलवेदनीय ही दुःख है (क्योंकि दुःख की उत्पत्ति ही उसके आश्रय भूत आत्मा की इच्छा के प्रतिकूल होती है ।) [जैसा कि अन्य शास्त्रों में भी कहा है - **'बाधनालक्षणं दुःखम्'** - (न्या०-१/१/२१); **'येनाभिहताः प्राणिनः तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्'** - (योग. १/३१, व्यासभा.)]

अर्थात् विष इत्यादि अनिष्टजनक विषयों की समीपता होने पर उनकी प्राप्ति तथा उनके साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से एवं अधर्म, काल इत्यादि (निमित्तकारणों) की अपेक्षा करने वाले आत्मा और मन के संयोगरूप (असमवायि-) कारण से (आत्मारूप समवायिकारण में) उत्पन्न होने वाला 'दुःख' नामक गुण है । वह असहनशीलता, दुःख का अनुभव एवं दीनता (=कान्तिहीनता) का कारण होता है । भूतकाल में सम्बद्ध सर्प, व्याघ्र, चोर आदि विषयों में उनकी स्मृति से दुःख उत्पन्न होता है । एवं भविष्य में आने वाले सर्प, चोर आदि विषयों से जो दुःख उत्पन्न होता है, उसका कारण उन (=अनभिप्रेत) विषयों का संकल्प (- अनिष्ट की आशंका) है । इति - इस प्रकार का 'दुःख' नामक गुण है ।- (द्र. - १०/१/१-६, ५/२/१५) ।

प्रसंग :- एक ही आत्मा में कारणभेद से ज्ञान, सुख, दुःख आदि का परस्पर भेद क्यों है ? इस शंका का समाधान करते हैं-

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥ (३६१)

[एकस्मिन्] एक (शरीर) में [एकदेशे] (उसके एक) एक अवयव में (जो) [शिरः] सिर [पृष्ठम्] पीठ (उदरम्) पेट [मर्माणि] गुह्यस्थान [इति] ऐसा [तद्विशेषः] उस - उस रूप में विलक्षण (व्यवहार होता है, वह) (तद्विशेषेभ्यः) उन-उन के विलक्षण कारणों से है ।

जैसे अस्थि, मज्जा, मांस आदि विलक्षण कारणों से एक ही शरीर के अवयवों में विलक्षणता (=भिन्नता) है । जैसा कि आठवें अध्याय में कहा है - 'भूयस्त्वाद् गन्धवत्तवाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः''-(८/२/५) तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेऽविशेषात् । ''-(८/२/६); वैसे ही एक ही आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख गुणों में कारणों की भिन्नता से भिन्नता है । जैसे घट, पट आदि का भेद उनके कारणभूत अवयवों के आधार पर है ।

इस प्रकार इस आह्निक में आत्मा के विशेषगुण ज्ञान, सुख, दुःख के परस्पर भेद का वर्णन किया गया है ॥७॥

॥ इति दशमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

प्रसंग :- प्रस्तुत आह्निक में कारणों का विवेचन करते हुए, प्रथमसूत्र में सूत्रकार समवायिकारण का वर्णन करते हैं -

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥ (३६२)

[कारणम्](समवायि-) कारण है [इति] ऐसा (ज्ञान वा व्यवहार) [द्रव्ये] द्रव्य में (होता है) [कार्यसमवायात्] कार्य का (द्रव्य में) समवाय होने से ।

कारण के तीन भेद हैं - समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण । उनमें से इस सूत्र में 'समवायिकारण' अभिप्रेत है । अर्थात् 'यह समवायिकारण है' - ऐसा ज्ञान अथवा व्यवहार केवल द्रव्य में होता है; क्योंकि प्रत्येक कार्य, द्रव्य में ही समवाय - सम्बन्ध से आश्रित रहता है । द्रव्य, गुण, कर्म - तीनों प्रकार के कार्य द्रव्य में समवेत रहते हुए आत्मलाभ करते हैं । तात्पर्य यह है, कि कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य है ।

जैसे (द्रव्य का-) तन्तु वा मृत्कण, वस्त्र वा घट के; (गुण का-) फल रूप, रस, गन्ध आदि का; (कर्म का-) पैर गमन के, हाथ आदान के, मुसल उत्क्षेपणादि के 'समवायिकारण' है ॥१॥

प्रसंग :- द्रव्य के समवायिकारण होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं -

संयोगाद् वा ॥२॥ (३६३)

यहाँ गत सूत्र से 'कारणमिति द्रव्ये' अंश की अनुवृत्ति है ।

[संयोगात्] संयोग (का आश्रय) होने से [वा] भी (द्रव्य में समवायिकारण का व्यवहार होता है) ।

कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव द्रव्य होते हैं। उन अवयवों का परस्पर संयोग उस कार्य - द्रव्य का असमवायिकारण होता है। स्पष्ट है, कि संयोग के आश्रय वे अवयव - द्रव्य हैं, जो कार्य - द्रव्य के समवायिकारण हैं। इस प्रकार संयोग का आश्रय होने से द्रव्य में समवायिकारण का व्यवहार होता है ॥२॥

प्रसंग - अब कर्मपदार्थ को असमवायिकारण होना बताते हैं -

कारणे समवायात् कर्माणि ॥३॥ (३६४)

[कारणे] (समवायि) कारण में [समवायात्] समवेत होने से [कर्माणि] कर्म (असमवायिकारण होते हैं)।

सूत्र में 'कारण' पद से 'समवायिकारण' का निर्देश है। किसी कार्य के कारण में समवाय - सम्बन्ध से रहता हुआ कर्म, उस कार्य का 'असमवायिकारण' होता है।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म को संयोग, विभाग और वेग गुणरूपी कार्यों का असमवायिकारण ही समझना चाहिए; क्योंकि 'कर्म द्रव्यों के असमवायिकारण नहीं होते' - ऐसा निषेध पहले (सूत्र १/१/२१ में) किया जा चुका है।

अतः द्रव्य 'समवायिकारण' है, उस द्रव्य में समवेत होने से कर्म - संयोग, विभाग और वेग के असमवायिकारण होते हैं।

तोप से छूटे हुए गोले का किले की दीवार से जो संयोग हुआ, वह गोले का हुआ है, अतः गोला कारण है। गोले के 'कर्म' से दीवार के साथ संयोग हुआ है, अतः कर्म भी कारण है। गोला द्रव्य है, इसलिए वह 'समवायिकारण' है, कर्म इस समवायिकारण गोले में समवेत है, इसलिए वह संयोग का 'असमवायिकारण' है।

इस प्रकार गोले का तोप से विभाग हुआ है, उस 'विभाग' का गोला

'समवायिकारण' है, गोले में समवेत कर्म विभाग का 'असमवायिकारण' है ।

गोले में जो वेग उत्पन्न हुआ है, उस वेग का गोला 'समवायिकारण', उस गोले में समवेत कर्म, गोले के वेग का 'असमवायिकारण' होता है ॥३॥

प्रसंग :- अब सूत्रकार रूप आदि गुणों का 'असमवायिकारण' होना वताते हैं -

तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥४॥ (३६५)

यहाँ प्रथम सूत्र से 'कारणमिति' की अनुवृत्ति है ।

[तथा] उसी प्रकार (कारणैकार्थसमवायात्) कारण के साथ एक अर्थ में समवाय से [रूपे] रूप (आदि गुणों) में [च] भी (असमवायिकारण का व्यवहार होता है) ।

जैसे कर्म कुछ गुणों का असमवायिकारण होता है, उसी प्रकार कार्य (=वस्त्र) के रूप का, कारण (-तन्तुओं) का रूप 'असमवायिकारण' होता है । क्योंकि वस्त्र के रूप का समवायिकारण जो वस्त्र है, वह वस्त्र तन्तुओं में समवेत है, और तन्तुओं का रूप भी तन्तुओं में समवेत है । इस सम्बन्ध से अर्थात् कारण (-वस्त्र) के साथ एक अर्थ (-तन्तुओं) में समवाय से अवयवों का रूप, अवयवी के रूप का असमवायिकारण होता है ।

सूत्र में 'रूप' पद उन सब गुणों का उपलक्षण है, जहाँ कारणगत गुण कार्यगत गुण का असमवायिकारण होता है । जैसे - गन्ध, रस, स्पर्श, परिमाण, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह आदि ।

किन्तु एकत्व और एकपृथक्त्व का कारणगुणपूर्वक होना निषिद्ध है । (- द्र० - ७/२/७२८८) ।

'कारणैकार्थसमवाय' को 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' भी कहते हैं ॥४॥

प्रसंग : - गुणों को गुणों का 'असमवायिकारण' बताकर, अब संयोग गुण को द्रव्य का 'असमवायिकारण' बताते हैं ।

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥५॥ (३६६)

यहाँ भी 'कारणम्' की अनुवृत्ति है ।

[कारणसमवायात्] कारण (-तन्तुओं) में समवाय से [संयोगः] (तन्तुओं का) संयोग [पटस्य] वस्त्र का (असमवायिकारण होता है) ।

पट (=वस्त्र) कार्य के कारण तन्तु है । पट तन्तुओं में समवेत है और उन्हीं तन्तुओं में 'संयोग' का समवाय है । इस प्रकार 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' अथवा 'कारणसमवाय (-कारणे समवाय) द्वारा कारणगत संयोग, कार्य द्रव्य का 'असमवायिकारण' होता है ।

यहाँ पट एक उदाहरणमात्र है, जो इस प्रकार के संयोग से उत्पन्न सब कार्यों का उपलक्षण है ॥५॥

प्रसंगः- अब सूत्रकार 'प्रचय' नामक महत्परिमाण का 'असमवायिकारण' बताते हैं-

कारणकारणसमवायाच्च ॥६॥ (३६७)

यहाँ 'कारणम्' तथा गतसूत्र से 'संयोगः' की अनुवृत्ति है ।

[कारणकारणसमवायात्] कारण के कारण में समवाय से [च] भी (कहीं संयोग असमवायिकारण होता है) ।

जैसे रुई के पिण्ड का जो महत्परिमाण है, उसका कारण (समवायिकारण) रुई के छोटे - छोटे पिण्ड हैं, और उन छोटे पिण्डों के कारण (-समवायिकारण) रुई के रेशे हैं। यह संयोग, कारण (-छोटे पिण्डों) के कारण (-रुई के रेशों) में समवेत होने से महत्परिमाण का 'असमवायिकारण' है।

इसी प्रकार क्विण्टल का असमवायिकारण ग्रामों का संयोग है, क्योंकि वह क्विण्टल के कारण (-किलोग्राम) के कारण (-ग्रामों) में समवेत है। इस 'कारणकारणसमवाय' को 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' अथवा 'परम्परा-सम्बन्ध' भी कहते हैं ॥६॥

प्रसंग :- समवायिकारण तथा असमवायिकारण का निरूपण (-वर्णन) करके अब सूत्रकार 'निमित्तकारण' का वर्णन करते हैं-

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥७॥ (३६८)

[अग्नेः] अग्नि (=तेजः) का [वैशेषिकम्] उष्णत्व गुण [संयुक्तसमवायात्] संयुक्तसमवाय (-स्वाश्रय तेज के साथ संयुक्त पृथिवी में समवेत) होने के कारण (पाकज रूप आदि गुणों के प्रति 'निमित्तकारण' होता है)।

जब तेज (=अग्नि) का फलादिरूप में पृथिवी के साथ संयोग होता है, तब तेज (=अग्नि) में विद्यमान उष्णस्पर्श, फलादिरूप पृथिवी में समवेत होकर उन फलादि में रहने वाले रूपादि गुणों को पकाता है। उन रूप, रस आदि गुणों के प्रति फलादि 'समवायिकारण' , अग्नि (=तेज) का संयोग 'असमवायिकारण', तथा अग्नि (=तेज) में विद्यमान उष्णस्पर्श 'निमित्तकारण' रहता है। इसी प्रकार संयुक्तसमवेतों में ज्ञानादि गुण से युक्त चेतन जीवात्मा, परमात्मा तथा उनके ज्ञानादि गुण 'निमित्तकारण' समझने चाहिए ॥७॥

प्रसंग :- शास्त्र का उपसंहार करते हुए पूर्वसूत्र (१/१/४) के अनुसार मोक्ष

के साधन धर्म - धर्मी के तत्त्वज्ञान में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥८॥ (३६९)

[दृष्टप्रयोजनानाम्] देखे हुए प्रयोजन वाले [दृष्टानाम्] देखे हुए (पदार्थ और उनके धर्मों के) [दृष्टाभावे] दृष्ट प्रयोजन के अभाव में, [प्रयोगः] (प्रयोगात्मक रीति से परीक्षण करके जो परिणाम प्राप्त किए जाते हैं, वह सब) [अभ्युदयाय] (अपने और समाज के) कल्याण के लिए होते हैं ।

शास्त्र के आरम्भ में अभ्युदय और निःश्रेयस (-मोक्ष) के साधन धर्म और धर्मी का निर्देश किया है । ये वे धर्मी (=पदार्थ) हैं, जो इस संसार में प्राणी के चारों ओर फैले हुए हैं ।

जब व्यक्ति इन पदार्थों को यथार्थरूप में जानकर जीवन की सुख - सुविधाएँ जुटा लेता है, तब उसका लौकिक उत्कर्ष (=अभ्युदय) समझा जाता है, जिससे कि अपना और राष्ट्र का लौकिक सुख बढ़ता है ।

और जब व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से यह देखता है, कि यह शरीर तथा सब साधन द्रव्य नश्वर, परिणामी, जड़ तथा मरने पर यहीं छूट जाने वाले हैं, ये आत्मा के केवल भोग्य (=साधन) मात्र हैं । आत्मा इनसे पृथक् चेतन तत्त्व है, जिसका साक्षात्कार आवश्यक है । इस प्रकार आत्मतत्त्व के चिन्तन में लगकर अन्त में उसका साक्षात्कार करके परमपद निःश्रेयस (=मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।

इससे स्पष्ट है, कि पृथिवी आदि तत्त्वों को ज्ञान सीधा तो निःश्रेयस का साधन नहीं , किन्तु मनन, निदिध्यासन आदि के रूप में निःश्रेयस का द्वार खोल देता है । इसी भावना से शास्त्रकार ने यद्यपि शास्त्रारम्भ में पदार्थ-धर्म को अभ्युदय - निःश्रेयस् दोनों का साधन बताकर भी यहाँ निगमन में केवल अभ्युदय का उल्लेख

किया हैं। अथवा अभ्युदय, निःश्रेय का भी उपलक्षण है।

यहाँ सूत्रकार ने बताया कि जिस तत्त्वज्ञान का फल दृष्ट नहीं, उनका प्रयोजन ऐसा अभ्युदय समझना चाहिए, जो अन्त में निःश्रेयस को प्राप्त कराएगा ॥८॥

प्रसंग :- अन्त में वैशेषिक शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥९॥ (३७०)

[तद्वचनात्] नित्य - निर्दोष ईश्वर का वचन होने से [आम्नायस्य] वेद की [प्रामाण्यम्] प्रामाणिकता है [इति] इस प्रकार (-यह ग्रन्थ समाप्त हुआ)।

जिस परमेश्वर ने सृष्टि की रचना की है, उसी ने वेद को बनाया है तथा उस वेद के अनुकूल होने से इस शास्त्र की भी प्रामाणिकता समझनी चाहिए।

(शंका) :- यह कैसे मानें कि वेद ईश्वरकृत है ?

(समा०) :- संसार की रचना ईश्वर ने की है अर्थात् ईश्वरीय रचना में संसार प्रयोगात्मक (Practical) रूप है तथा वेद सिद्धान्त **(theory)** रूप है। यह वास्तविकता हम दोनों के समन्वय (=सामञ्जस्य = समानता -**Harmony**) से जान सकते हैं।

इस सूत्र का 'इति' पद शास्त्र की समाप्ति का द्योतक है। इस सूत्र की विशेष व्याख्या (१/१/३) में द्रष्टव्य है ॥९॥

इति दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्च दशमोऽध्यायः।

॥ वैशेषिकदर्शनं चानन्दव्याख्योपेतं पूर्तिमगात् ॥

ग्रन्थ-समाप्तिः

अब ग्रन्थ की समाप्ति पर आचार्य प्रशस्तदेव महर्षि कणाद को प्रणाम करते हैं-

(प्रश.) योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ।।
।। इति प्रशस्तपादविरचितं द्रव्यादिषट्पदार्थभाष्यं समाप्तम् ।।

जिन महर्षि प्रवर कणाद ने योगाभ्यास से उत्पन्न ऐश्वर्य (-विभूति) से परमेश्वर को प्रसन्न करके वैशेषिक नामक दर्शन-शास्त्र का निर्माण किया, उन कणभुक् (=कण-कण एकत्र करके भोजन करने वाले) वास्तविक ब्राह्मणवृत्ति वाले महर्षि प्रवर को हम सब का प्रणाम है ।

इस प्रकार आचार्य प्रशस्तपाद द्वारा रचित द्रव्यादि छह पदार्थों का प्रतिपादक (पदार्थधर्मसंग्रहरूप) **'प्रशस्तपादभाष्य'** नामक ग्रन्थ पूरा हुआ ।।

इति महर्षि - कणाद - विरचितानां वैशेषिक - सूत्राणां प्रशस्तपादभाष्यसहितं स्वामि - सत्यपति - परिव्राजकानामन्तेवासिना आचार्य - आनन्दप्रकाश-कृत - आनन्दव्याख्योपेतं दशमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकं समाप्तम् ।

।। ग्रन्थश्चायं सम्पूर्ण : ।।

ऋषिरसखनेत्रेऽब्दे श्रावणे हि सिते दले ।
षष्टे दिने रवौ वारे ग्रन्थः पूर्तिमगादयम् ।।

[श्रावण शुक्ला षष्ठी, २०६७ वि. संवत्, रविवार तथा स्वतन्त्रता - दिवस, १५ अगस्त २०१० ई.]